रस और रसास्वादन

लेखक

डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०, शास्त्री

शक संवत १८८५
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
श्री गोपालचन्द्र सिंह
आदाता—हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

प्रथम संस्करण : ११०० प्रतियाँ
मूल्य [illegible] नये पैसे
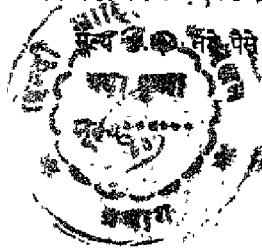
मुद्रक
श्री रामप्रताप त्रिपाठी
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

कला का आरंभ सृजन से होता है। कला की सृष्टि ही सुन्दरम् है और सुन्दरम् से रस का उदय होता है। रस स्वयं अद्भुत अनुभूति है। जिस व्यापार का फल रस की अनुभूति है, उसे रसास्वादन कहते हैं। रसानुभूति मानसिक सृष्टि का एक तथ्य है। रस और रसास्वादन का सूक्ष्म विश्लेषण करना ही इस पुस्तक का मुख्य विषय है। हमारी रस-चेतना के साधारण व्यापार को ही रसास्वादन और उस की उपलब्धि को रस कहा जाता है। रसानुभूति में रूप-बोध के अस्तित्व का विश्लेषण लेखक ने वैज्ञानिक विधि से किया है। रस को अनुभूति से पृथक् न मानना इस विवेच्य ग्रन्थ का विषय है।

रस और रसास्वादन का विवेचन दार्शनिक भावों के परिवेश में किया गया है, जो सहज और सकारण है। आशा है, विद्वान् लेखक का यह मौलिक विवेचन रसशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र के प्रेमियों के लिए प्रेरक और प्राणद स्पर्श सिद्ध होगा।

—प्रकाशक
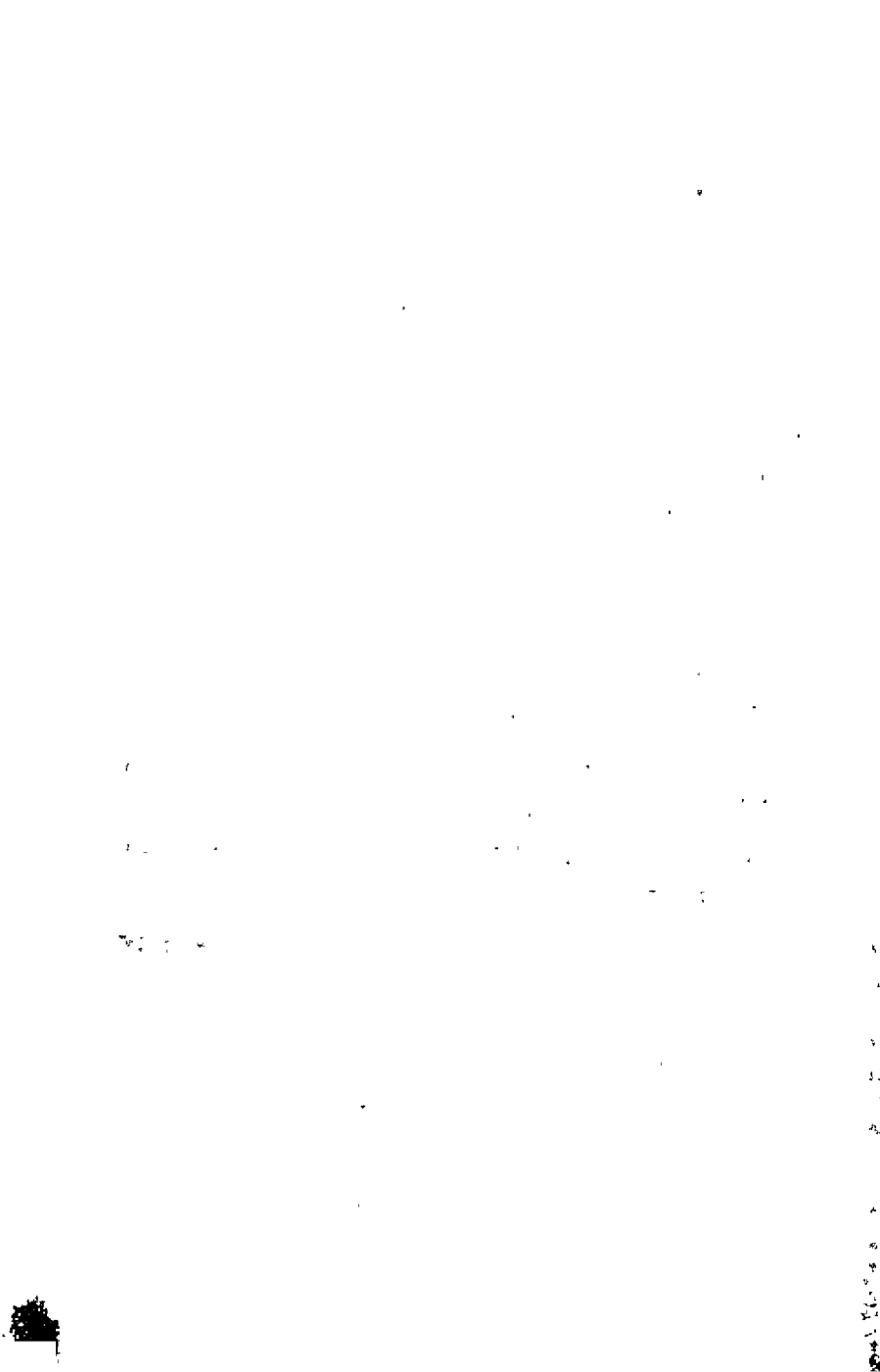
प्रस्तावना

कला आवश्यकता से विमुक्त होने की आवश्यकता है। क्षण भर के लिये ही सही, कला की अनुभूति जीवन के मूल का ऐसा रस-सेक करती है कि वह बहुत काल तक हरा-भरा रहता हैं। और, यह बात केवल भावुकता पर आश्रित नहीं, अपितु जीवन-विज्ञान और मनोविज्ञान का परीक्षित तथ्य है। हम जीवन की जो भी परिभाषा स्वीकार करें, पूर्त्ति के लिये छटपटाहट और एतज्जन्य मानसिक उद्वेग, संकल्प, निरन्तर व्यापार, विषयों की ओर आकर्षण-विकर्षण आदि तत्त्व उस में रहते हैं। इन से मांस-पेशियों, स्नायु-संस्थान तथा मस्तिष्क के केन्द्रों में हलचल व आलोड़न-विलोड़न होना स्वाभाविक है, जिस से इन में संचित जीवन-शक्ति का क्षय होता है। यह अद्भुत सत्य है कि जीवन अपने ही अन्तर के ईंधन से गतिमान् होता है। ऐसी स्थिति में थोड़ी ही देर के लिये भी, जीवन का विराम, इस के वेग का स्थगन और उत्ताप व उत्तेजनाओं का शमन, आनन्ददायी होता है। मनुष्य अनेक उपायों से जीवन के अपव्यय को रोकता आया है। कला इन में अन्यतम ही नहीं, अनन्यतम भी है, क्योंकि वह आवश्यकता का विराम कर के न केवल जीवन के क्षय-व्यय को रोकती है, अपितु उस में आनन्द और ऊर्जा का संचार करती है।

कला की अनेक व्याख्याएँ की गईं हैं और की जा सकती हैं; परन्तु सब से आदिम व्याख्या वह है, जो 'मनोविनोद' को इस की चरम प्रेरणा और मन्तव्य स्वीकार करती है। भारतीय परम्परा (भरत के नाट्य शास्त्र) के अनुसार विधाता ने सृजन के श्रम के उपरान्त नाटक देखकर मन का विनोदन और खेद का अपनोदन किया था। इतिहास साक्षी है

कि जब कला जन-मन से दूर हुई, मन का विशेष नोदन कर के इस ने या तो इस की उत्तेजनाओं को बढ़ाया अथवा उपदेशक के रूप में धर्म, नीति-रीति का उपदेश देना प्रारम्भ किया अथवा बुद्धिवाद से प्रभावित हो कर जीवन की व्याख्या करने की चेष्टा की ; अन्त में, अथवा विज्ञान की भाँति सत्य की गवेषणा और विवेचन का कार्य अपने सिर उठाया, तभी वह ह्रास की ओर चली, उस की नूतन रूपों को आविष्कृत करने की क्षमता विनष्ट हुई ; संक्षेप में, वह यदि मरी नहीं, तो मूर्च्छित अवश्य हो गई। कला का प्राण है आनन्द, उस का कलेवर है 'सुन्दर' और आत्मा है 'रस'। इसी सत्य को साक्षी कर के हम विद्यमान कला का समालोचन और भावी कला का पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं।

जीवन के लिये 'अनावश्यक' होते हुए भी कला की परम उपयोगिता कई ओर से सिद्ध होती है। नृत्य, संगीत, चित्रकला, मूर्त्ति, स्थापत्य, काव्य-साहित्य ही नहीं, कपड़ों, बर्तनों, घर की दीवारों पर बेलबूटे की सजावट, रंग-बिरंगे डिज़ाइन, कसीदे और कढ़ाई के नित-नये नमूने, भाँति-भाँति के विन्यास, इन सब के बिना भी मनुष्य खा-पीकर जीवित रह सकता है ; परन्तु वह जीवन नीरस होगा——इसमें सन्देह नहीं। कला ने जीवन के कोने-कोने में प्रवेश कर इसे रस से सींचा है और आनन्द का सम्बल दिया है। रस और जीवन का इतना गहरा सम्बन्ध है कि स्यात् एक के बिना दूसरा सम्भव ही न हो। 'जिसे देखें तो आनन्द हो' (Id quod visum placet), वही सुन्दर है। संभव है कि सुन्दर को बिना देखे देखना ही समाप्त हो जाय और साथ ही जीवन भी।

प्रख्यात कला-पारखी हरबर्ट रीड जीवन व चेतना के विकास और व्यवस्था की प्रेरणा को कला के सौन्दर्य में निहित मानता है। लय, भार-साम्य, सन्तुलन और संवाद——इन गुणों में 'रूप' शरीरी होता है। ये ही गुण स्वास्थ्य, धर्म, न्याय, नीति, समाज-व्यवस्था के मूलभूत सिद्धान्त हैं ; विवेक इन्हीं का नाम है, ये 'रचना' के आधार और 'निर्माण' के नियामक हैं। क्रेनोविच तो भौतिक विश्व के क्रमिक विकास के पीछे 'सौन्दर्य

के संकल्प' (Will-to-beauty) को ही प्रेरक शक्ति मानता है। अरूप (Chaos) से रूप का आविर्भाव ही सृजन है। रूप अपने नियमों से बिखरी हुई जीवन की शक्तियों को निरूपित करके उन्हें विन्यास प्रदान करता है। सक्षेप में, सौन्दर्य सृष्टि और जीवन तथा इन के विकास का सशक्त और व्यापक विधान है।

परन्तु आज चारों ओर कला में रूप का विघटन दिखाई पड़ता है। कविता को देखिये, तो उस में छन्द, ताल, तुक का पता नहीं; 'अर्थ' को खोजिये, तो बुद्धि चकराने लगे; 'रस', जैसे कसैले उफनते हुए सोडे का खारा पानी। चित्रकला में कहीं आँखें जमती नहीं, कहीं केन्द्र-विन्दु नही मिलता। यही दशा मूर्ति, स्थापत्य और संगीत में भी है। फिर भी कुछ अधपकी कृतियों को छोड़ कर आज की विरूप और रूप-रहित कला इतिहास की उपज है, किसी सनकी की सनक नहीं है। इस तथ्य को समझना कला की प्रगति के लिये आवश्यक है; क्योंकि अन्ततोगत्वा जन-रुचि ही विकास के लिये सब से बड़ी प्रेरणा होती है।

कला में रूप का विघटन[1] युग-मन के विघटन की झलक है। नियम और बौद्धिक व्यवस्था चेतन मन के लक्षण है; परन्तु चेतन मन जीवन का स्वल्प आलोकित धरातल है, जिस के नीचे अचेतन का अतल, और अनन्त ऊर्जाओं से आलोड़ित सिन्धु है! वहाँ न मीमांसा है न मर्यादा; न सीमा है न रोध। उचित और अनुचित, पुण्य और पाप, जय और पराजय, लाभ और हानि, आदि के द्वन्द्व भी वहाँ नहीं—वहाँ है तरङ्गायमान असीम जीवन, जो पूर्त्ति और अभिव्यक्ति के लिये निरन्तर व्याकुल रहता है। बुद्धि के चेतन धरातल का स्फोट किये विना अचेतन में मन की पैठ कहाँ! आज की कला जान-बूझकर चेतन का विघटन करती है, जिससे

---

१ आज कला का युगीन प्रश्न है—क्या युग-मन के विघटित होने पर कला को भी विघटित हो जाना चाहिये अथवा आज कला का परम कर्त्तव्य अपनी आन्तरिक व्यवस्था से मन को व्यवस्थित करना है।

अचेतन अपनी अद्‌भुत शक्ति का उद्‌घाटन कर सके। समझ में न आना उसका लक्षण ही नहीं; वह 'समझ' का विखंडन भी करती है।

'समझने' का कला से सम्बन्ध पहले भी न था; क्योंकि विज्ञान और कला की भेदक रेखा ही यह है—जो समझे-समझाये वह विज्ञान; जो समझ में न आने पर भी मन को बहलाये वह कला। फिर भी ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक कारणों से अनुकृति-प्रधान कला में 'रूप' को पाकर बुद्धि टिकती थी; परन्तु बुद्धि तो चेतन मन का यंत्र है। जीवन की सम्पूर्ण ऊर्जा को इस यंत्र की यंत्रणा सह्य नहीं, नियंत्रण मान्य नहीं। अतएव, चेतना और बुद्धि का स्फोट 'रूप' के घटन को नष्ट कर के 'अरूप' में हमें प्रवेश कराता है; अतएव आनन्द और रस का ही आस्वादन आज कला का लक्ष्य नहीं; बुद्धि को आलोक देना उसे स्वीकार नहीं। जीवन की अनन्त शक्ति का साक्षात्कार रेखा, रंग, ध्वनि, आकार, भार आदि की विन्यासहीन, व्यवस्थाशून्य, अरूप कलाकृतियों में होता है। एक ओर रूप और विधान रहित 'अचेतन' अपनी शक्ति के साथ ऊपर को उभरता है, तो दूसरी ओर 'चेतन' नियम और व्यवस्था के भार से उसे नीचे धकेलता है। इस घात-प्रतिघात से जो 'ऊर्जा' पैदा होती है, वही आज की कला का रस है। कला की नूतन मीमांसा तो व्यष्टि मन के विघटन से ही अतल, अचेतन समष्टि मन का उद्घाटन सम्भव मानती है। समष्टि मन युगों के संचित संस्कारों का विशाल आगार है। व्यष्टि मन में प्रकट होकर वह इसे अपनी ऊर्जा से चमका देता है, ठीक वैसे ही, जैसे भारी तांबे के तार में बहती हुई विद्युत्‌शक्ति बल्ब के लघु, पतले तारों में प्रकट होकर उसे प्रकाश से भर देती है। इसी समष्टि की शक्ति का प्रचण्ड उद्‌गार और प्रत्यक्ष अनुभव—यही आज कलानुभूति का स्वरूप और रस का निर्वचन है।

जीवन में बुद्धि के अतिरिक्त अनेक ऊर्जस्वी तत्व हैं, जिस की तृप्ति विज्ञान नहीं, कला करती है; अतएव पक्षियों के कलरव, पत्तों के मर्मर संगीत के ध्वनि-वितान अथवा आकाश में बिखरे तारों की भाँति समझ न आने पर भी, (अथवा, ही) कला जीवन को सींचती है।

यहाँ तक सब क्षम्य प्रतीत होता है; परन्तु 'समय होत बलवान्'। इतिहास की अजेय शक्तियों ने बिचारी कला को अपेक्षा भी है। विज्ञान तथ्य और वस्तुसत्ता की खोज में निकला; क्यों कि उस ने दर्शन, अध्यात्म, धर्म आदि के केवल बौद्धिक निर्णयों पर सच्चा सन्देह किया; परन्तु आज वह चलते-चलते या तो निर्जीव अङ्कों में खो गया अथवा जीवन से बहुत दूर लोकों में रम गया। कला ने भी विज्ञान की सहचरी (कला अनेक युगों में धर्म, दर्शन, राजनीति आदि की सहचरी रही है) बन कर तथ्य और सिद्धान्तों की गवेषणा प्रारम्भ की। प्रयोग, प्रगति, प्रतीक आदि अनेक 'वाद' और अन्त में रूसी निर्मितिवाद (constructivism) इसे हाथ लगे। इन वादों के अनुसार जीवन की व्याख्या कला ने की। जन-मन से इस की दूरी और बढ़ी; और, आधुनिक भौतिकी अथवा खगोल की भाँति इस का विराट् में विस्तार तो हुआ; परन्तु इस की 'रमणीयता', जन-मन-रञ्जकता नष्ट हो गई। आज कला के लिये यही महाभय है।

विज्ञान जीवन और जन-मन की अवहेलना करे, तो करे; (यद्यपि ऐसा कर के वह अपने विनाश की ओर बढ रहा है) परन्तु कला के प्रेरणा-स्रोत तो वही है। यदि ये सूख गये, तो फिर महाप्रलय निश्चय है। कला जीवन से उद्भूत होकर जीवन को सींचती है—यह अविस्मरणीय सत्य है। परम्परा से इसे मुक्ति मिल गई—अच्छा हुआ। विज्ञान ने पंख खोल कर उड़ने के लिये इसे अनन्त अवकाश दिया और अपने सारे साधन सुलभ किये; परन्तु कला अपने मूल को भूल न जाये; नहीं तो वह विरस और नीरस होकर नष्ट हो सकती है और उसी के साथ जीवन का महाविनाश भी अवश्यम्भावी है।

कला का मूल जन-मन-रञ्जन है। यह पुरातन में नित्य नवता का संचार कर के सृष्टि और जीवन को 'रमणीय' बनाती है। यदि कला गई, तो नवता नष्ट हुई, शैशव गया, तरुणाई गई और आ गया बुढ़ापा! अब न उषा में राग रहता है न चन्द्रमा में आह्लाद की अनुभूति; सब ओर पुरानापन, उदासी, भीति और निराशा। कला जीवन को 'शिशुता' का

वरदान देती है। वह मुक्ति और भुक्ति का सनातन साधन है। वह चेतना के धरातल पर अचेतन का संगीत है। बिना तृप्ति भी वह जीवन का तोष करती है; बुद्धि को आलोक, मन को आनन्द, शरीर को चैन और अहं को सृजन का विशुद्ध उल्लास देकर वह कृतार्थ होती है। वह 'रूप' के माध्यम से चेतन और 'अरूप' के द्वारा अचेतन को प्रकट करती है। कला समष्टि, सनातन और अनन्त की झलक और झलक हम तक पहुँचाती है। संक्षेप में, वह जीवन की अभिव्यक्ति है और इसे तुष्ट, पुष्ट करती है। वह भुक्ति है और मुक्ति भी।

उपर्युक्त अभिप्रेतों को सामने रख कर लेखक ने 'रस और रसास्वादन' को हिन्दी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। रस और रस-ग्रहण की क्रिया का कलात्मक दृष्टि से विवेचन करना, इसका मन्तव्य है। कलात्मक दृष्टि पूर्ण है; अतएव मनोविज्ञान, दर्शन, समाज-विज्ञान के दृष्टिकोण इस में सन्निहित हैं। हिन्दी पुस्तकों का पढना (और, वह भी खरीद कर) अभी हमारा अभ्यास और व्यसन नहीं बन पाया है, दिनचर्या तो दूर की बात है। फल होता है कि किसी भी नौसिखिये लेखक को पाठक की रुचि और उस के रचनात्मक समालोचन का लाभ नहीं होता। वह जहाँ-का-वहाँ रहता है। प्रस्तुत लेखक ने कला-विषयक विचार कई पुस्तकों में निबन्धित किये हैं; परन्तु किसी ओर से उसे अंगुलि-निर्देश नहीं मिला। कारण स्पष्ट है—किसी ने उन्हें पढ़ा नहीं है। माना कि वे पढ़ने योग्य नहीं, तो इसका निर्णय भी पढ़ने के पश्चात् ही करना चाहिये। यदि किसी ने पढ़ कर गाली भी दी होती, तो बिना पढ़े की प्रशंसा से अच्छी होती।

विचार का क्षेत्र कठिन और मार्ग नीरस होता है। यह आज आवश्यक है; क्यों कि अधिक रसमयता से राह में फिसलन हो सकती है। कहानी, उपन्यास और कविता के साहित्य से आज हिन्दी में रस का 'कीचड़' खड़ा हो गया है। 'दधि-कर्दम' उत्सव के लिये यह अच्छा भी है; परन्तु विचारों की नीरस सिकता से इसे कुछ-कुछ सुखाना भी चाहिये। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने इस पुस्तक का प्रकाशन करके स्यात् सूखी बालुका का उत्पादन

किया है और वह इसलिये धन्यवाद का पात्र है ; परन्तु इस से भी बढ़ कर वह पाठक मेरे धन्यवाद का पात्र होगा, जो दुर्वाद भी करे, क्यों कि इस से इतना तो निश्चित हो जायगा कि उस ने पुस्तक को पढ़ने का कष्ट किया है।

—हरद्वारीलाल शर्मा

विषय सूची

विषय | पृष्ठ

१

हमारा दृष्टिकोण

'सृजन से कला का आरम्भ होता है। यह कलाकार का क्षेत्र है। कला की 'सृष्टि' को सुन्दर वस्तु कहते हैं। इससे 'रस' का उदय होता है। सृजन, सृष्टि और रसोदय—ये तीनों एक ही व्यापार के आदि, मध्य और अवसान हैं, मानो एक ही 'काल' के तीन क्षण—अतीत और अनागत जो विद्यमान में आकर मिलते हैं। यह 'काल' स्वयं 'महाकाल' का एक उच्छ्वास होता है। इतिहास ही महाकाल है; गति और विकास इसके लक्षण है। इतिहास कला-विवेचन की आधार-शिला है, और साथ ही, महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण। किन्तु हम 'महाकाल' से पृथक् होकर भी कला की कई समस्याओं पर विचार करते हैं। 'सृजन' कला-मीमांसा के लिये रहस्य और मर्म है, और विवेचन के लिये उपयोगी विषय। कला की 'सुन्दर' सृष्टि का स्वतंत्र अध्ययन भी आवश्यक है, जिससे 'रूप' के स्वरूप का बोध सम्भव होता है। 'रूप' के विधान, इसके अन्तर्निहित तत्त्व तथा रूप-बोध की क्रियायें, स्यात्, सौन्दर्य के रहस्य का उद्घाटन कर सकें! किन्तु 'सृजन' और 'सृष्टि' दोनों का गन्तव्य लक्ष्य रसिक में रस का उन्मेष करना है। 'रस' स्वयं अद्भुत 'अनुभूति' है। प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य इसी 'अनुभूति' के मर्म तक पहुँचना है। 'रसास्वादन' उस व्यापार का नाम है जिसका फल रस की अनुभूति है। अतएव इस प्रबन्ध का नामकरण भी 'रस' और 'रसास्वादन' किया गया है।

रसानुभूति एक 'तथ्य' है, मानसिक जगत् की एक रोचक घटना! यह तथ्य हमारे अध्ययन का आधार है। पश्चिमी और भारतीय परम्परा के

अनुसार 'रस' का विवेचन प्राचीन काल से प्रारम्भ हुआ। प्लेटो ने इसे 'भ्रान्ति का सुख' माना, क्योंकि उसके अनुसार कला-कृति सनातन सत्ता की एक क्षीण छाया मात्र है। अरस्तु के अनुसार यह 'अनुकरण का आनन्द' है : वह कला-कृति को प्रकृति के स्थायी रूपों की 'अनुकृति' मानता है। योरोप में प्लेटो और अरस्तु को आधार मानकर रस की मीमांसा हुई। नवयुग के प्रारम्भ से नूतन आधारों की भी खोज हुई। रस की भारतीय मीमांसा व्यवस्थित रूप में भरत से प्रारम्भ होती है, किन्तु इसका मूल वेदों में है, इसमें सन्देह नहीं। हमारे देश के चिन्तकों ने रस को 'ब्रह्मा-स्वाद सहोदर' मानकर इसको आध्यात्मिक रूप दिया है; समाधि-सुख से इसकी तुलना की है। किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से रस की मीमासा हमारे देश को विशेष देन है। भरत के स्थायी भावों की संकल्पना इस मीमांसा का मूल-स्रोत है। रस को चित्त का ही रूप भी माना गया है, जैसे, रस चित्त-विद्रुति, चित्त-दीप्ति या चित्त-विस्तार का ही अनुभव है। परन्तु भारतीय रस-मीमांसा का सर्वोत्तम रूप वह है जिसमें कलात्मक दृष्टि से रस का निरूपण किया गया है। आनन्दवर्द्धन इसके अग्रणी हैं। हमारे युग मे शुद्ध विज्ञान की दृष्टि से भी रस-विवेचन प्रारम्भ हो चुका है।

रस-विवेचन की विशेष कठिनाइयों के कारण यह उचित होगा कि हम इसे किसी पूर्व-ग्रहीत वाद से न जोड़ें। हम स्वीकार करें कि रस एक अनुभूति है, और वह है एक मौलिक अनुभूति! यह दूसरी अनुभूतियो के 'सदृश' हो सकती है, किन्तु इसका अपना स्वकीय और स्वतन्त्र रूप है जो किसी दूसरे रूप में न विलीन किया जा सकता है, और न किसी से उद्धृत किया जा सकता है। 'रस' एक असन्दिग्ध तथ्य और घटना है। इसके एक छोर पर रस का अनुभविता रहता है—रसिक! दूसरे छोर पर है सुन्दर वस्तु अर्थात् सौंदर्य का अधिष्ठान। सौंदर्य मे रस का संचार होता है अथवा सुन्दर वस्तु के संस्पर्श से रसानुभूति की घटना घटती है। इस घटना का अधिष्ठान रसिक की आत्मा होती है। केवल 'आत्मा' के रूप का विवेचन करने से हमें 'रस' का स्वरूप-निरूपण नहीं कर सकते। इसी प्रकार

सुन्दर 'वस्तु' का वैज्ञानिक विश्लेषण हमें 'रस' को प्रस्तुत नहीं कर सकता। अध्यात्म केवल 'मैं' के स्वरूप की खोज करता है, और, विज्ञान वस्तु का विश्लेषण। दोनों का अपना महत्त्व है; इनकी अपनी मान्यता और मर्यादाएँ हैं। किन्तु ये दोनों हमें उस पूर्ण, मौलिक और असन्दिग्ध तथ्य या घटना तक नहीं पहुँचाते जिसे हमारी साधारण और सहज रस-चेतना रसानुभूति के रूप में अनायास ग्रहण करती है।

हमारी रस-चेतना के साधारण व्यापार का नाम है 'रसास्वादन', और, इसकी 'लब्धि' का नाम है 'रस'। हमारे प्रस्तुत विवेचन का आधार यही रस और रसास्वादन है।

(२)

हमारे विवेचन की विधि क्या होगी ?

वैज्ञानिक विवेचन का प्रधान शस्त्र है विश्लेषण। इसमें वस्तु या घटना का खण्डश: विश्लेषण किया जाता है; उसके मान, स्वरूप, गुण, व्यापार आदि का निरीक्षण द्वारा ज्ञान सम्पादन करना, तुलना के द्वारा वर्गों का पता लगाना, घटनाओं में कार्य-कारण के क्रम की स्थापना तथा अन्य सम्बन्धों की गवेषणा करना, जिससे इनमें बुद्धिगम्य 'व्यवस्था' उत्पन्न हो जाये—विज्ञान इसी व्यवस्थित ज्ञान का नाम है। इस व्यवस्था को अधिकाधिक सगत, विशद और व्यापक बनाने के प्रयत्नों से विज्ञान की सफलता और विकास माना जाता है। प्रश्न यह है कि क्या वैज्ञानिक विधि द्वारा हम रस और रसास्वादन के स्वरूप को स्पष्ट समझ सकते हैं ? इस विधि की हमारे लिये निम्नलिखित सीमायें हैं :—

क. 'सरल' का विश्लेषण नहीं किया जाता, क्योंकि सरल में खण्ड नहीं होते। रस की अनुभूति सरल ही नहीं, सरलतम होती है। रसास्वादन के लिये रसिक को अपने साधारण व्यक्तित्व का सारा भार, व्यवहार व ज्ञान की आवश्यकताओं से उत्पन्न मानसिक उत्तेजनाएँ तथा जीवन की अन्य जटिल ग्रन्थियाँ, आदि से अवकाश लेना होता है। जीवन की आकस्मिक

परिस्थितियों से तटस्थ होकर, क्षण भर के लिए ही सही, रसिक अपने शुद्ध मानव रूप को ग्रहण करता है जो उसकी आदिम और उन्मुक्त अवस्था होती है। उस अवस्था में समाज, धर्म या नीति की उपाधियाँ नहीं होतीं। इसका विश्लेषण सरल और सहज होने के कारण असम्भव है।

ख. 'सुन्दर' वस्तु 'पूर्ण' और 'सकल' होती है। जो अपूर्ण और विकल है वह 'सुन्दर' नहीं। सुन्दर की अनुभूति में रूप की पूर्णता और समग्रता का ज्वलन्त बोध रहता है। जहाँ यह नहीं, वहाँ रसोन्मेष में अवश्य बाधा पड़ती है। सुन्दर भवन, जैसे ताजमहल, में तो प्रत्येक अवयव और पुनः अवयवी में पूर्णता का बोध होता है। वस्तुतः रसानुभूति का मुख्य लक्षण न केवल उसका सरल होना है, अपितु उसका सकल और पूर्ण होना भी। सकल और पूर्ण का विश्लेषण अनुचित है।

ग. रसानुभूति में एक जीवन्त और ज्वलन्त 'सार' होता है जो विश्लेषण द्वारा पकड़ में नहीं आ सकता। एक मधुर राग को लीजिये। विश्लेषण के द्वारा हम राग को स्वरों और श्रुतियों में, इनको नाद और नाद को वायु के स्पन्दनों में विभाजित कर सकते हैं। विज्ञान के द्वारा हम राग का पूरा 'ग्राफ' तैयार कर सकते हैं जो नाप-तौल की दृष्टि से सही हो। किन्तु यह 'ग्राफ़' सही और पूरा होने पर भी, राग के उस 'माधुर्य', लय-गति आदि को ग्रहण नहीं करा सकता जिसे रसिक श्रोता अनायास ही सुनने से ग्रहण करता है। यही स्थिति अन्य कलाओं में भी है। 'रूप' अवयवी में रहता है, अवयवों में नहीं, 'सकल' में रहता है 'विकल' में नहीं। अतएव विश्लेषण से 'रूप' का ग्रहण नहीं होता, और रूप तथा रूप द्वारा निरूपित तत्त्व ही सौन्दर्य का सारगर्भ होता है।

घ. विश्लेषण 'समझने' में सहायक होता है। रस 'समझने' की इतनी वस्तु नहीं जितनी 'ग्रहण' करने की। हम सर्वात्मना सौन्दर्य को ग्रहण करते हैं, केवल बुद्धि से उसका ज्ञान सम्पादन नहीं करते। इन्द्रियाँ सुन्दर वस्तु के संस्पर्शज गुणों को प्रणालिकाओं में भरकर मानों अन्तर

मे उद्वेलती हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और अन्तरात्मा में ही नही, सम्पूर्ण शरीर-संस्थान में लय और सन्तुलन से पूर्ण 'गति' उत्पन्न होती है, जिससे अन्त: प्रसाद या रस का उदय होता है। रस केवल 'ज्ञान' नही है, वह जीवन की पूर्ण व पुष्ट अनुभूति है; ज्ञान इसमें एक अंश हो सकता है। रस बुद्धि द्वारा गम्य न होने के कारण विश्लेषण की सीमा मे बाहर है।

ङ. रसानुभूति की एक विलक्षणता यह है कि हम अपने साधारण 'काल', 'दिक्' अथवा 'कार्य-कारण-सम्बन्ध' के द्वारा इसका निरूपण नही कर पाते। राग को सुनिये। वह स्वरों द्वारा निर्मित लय का एक संसार प्रतीत होता है। यदि आप घड़ी से इसका 'काल' नापेंगे तो वह लय बह जायगी। यदि इसको आत्मसात् करने के लिये स्वयं 'लय' बनिये तो 'काल' चिरन्तन प्रतीत होगा जो घड़ी से नापना सम्भव नहीं। इसी प्रकार एक चित्र या मूर्ति समूचा जगत्' होता है जिसकी माप पैमाने से सम्भव नही। विज्ञान का कारण-कार्य सम्बन्ध भी रस की स्थिति का विवेचन नहीं कर सकता। संक्षेप में, रस का विश्लेषण विज्ञान के साधारण उपकरणों द्वारा असम्भव है।

विवेचन की वैज्ञानिक विधि हमें अंशत: मान्य है, क्योंकि पूर्ण अनुभूति मे ज्ञान का अंश रहता है। रसानुभूति में रूप-बोध रहता है। इसके लिये विश्लेषण का उपयोग किया जा सकता है। किन्तु रस-विवेचन मे इसकी सीमाएँ भी स्पष्ट है।

इसी प्रकार तर्क और विचार-प्रधान शास्त्रीय विधि भी हमें कुछ दूर तक साथ देती है। विचार की क्रिया में हम कुछ आधार-भूत तथ्य या मान्यताओं को लेकर उनसे संगत निष्कर्ष निकालते हैं। जैसे, हम मानते हैं कि मनुष्य मरणधर्मा है, और, यह भी कि मैं मनुष्य हूँ। इन दोनो वाक्यों से संगति रखने वाला निष्कर्ष है कि मैं भी मरणधर्मा हूँ। संगति की आवश्यकता के कारण दूसरा कोई निष्कर्ष सम्भव नहीं। 'मैं मरणधर्मा हूँ'—यह अनुमान-जन्य ज्ञान ही अनुमिति है। विचार की सफल क्रिया

में संगति का नियम लागू होता है, और इससे 'अनुमिति' की लब्धि होती है। विचार-क्रिया और रसास्वादन में अन्तर है : एक, विचार-क्रिया में 'संगति' बुद्धि से समझी जाती है। हमारी बुद्धि स्वभाव से ही 'असंगत' निष्कर्ष को अस्वीकार कर देती है। संगीत आदि में स्वरों की 'संगति' (Harmony) केवल बौद्धिक संगति (Consistency) नहीं है। उसे हम 'भावना' से ग्रहण करते हैं। भावनात्मक होने के कारण उसका विश्लेषण भी कठिन होता है। दो, विचार-क्रिया का फल 'अनुमिति' है। रसास्वादन की लब्धि 'रस' है जो अनुमानजन्य नहीं, वरन् साक्षात् अनुभूति होती है। अनुमिति और अनुभूति का अन्तर विचार और रसास्वादन का अन्तर है। इसके कारण शास्त्रीय विधि रस-विवेचन के क्षेत्र में बहुत उपयोगी नहीं है। वस्तुतः प्रस्तुत अध्ययन में हमें किसी निष्कर्ष की प्रतिष्ठा करना अभीष्ट नहीं है। हमारे अध्ययन का केन्द्र-बिन्दु 'रस' के उस स्वरूप पर पहुँचना है जिसका उदय रसिक के लिये ज्वलन्त और जीवन्त अनुभूति के रूप में होता है। क्या यह सम्भव है ? और किस विधि से ?

(३)

वैज्ञानिक और शास्त्रीय विधियों की एक विशेष सीमा यह है कि इनमें चिन्तक 'अपने' को छोड़ कर केवल वस्तु या व्यापार के ऊपर विचार करता है। विज्ञान व्यक्तित्व के बन्धनों से दूर होकर 'वस्तु' (Object) के स्वरूप की गवेषणा के लिये प्रयत्न का नाम है। इसी प्रकार शास्त्रीय मीमांसा भी व्यक्तिगत रुचि अथवा क्षमता आदि का ध्यान नहीं रखती। किन्तु 'रस' की मीमांसा से रसिक को अलग नहीं किया जा सकता। सम्भवतः हम सौन्दर्य के अधिष्ठान अर्थात् सुन्दर 'वस्तु' का सूक्ष्म विश्लेषण कर सकें, और उसके स्वरूप का एक 'ग्राफ़' बना सकें। किन्तु इससे रस की 'अनुभूति' का निरूपण सम्भव नहीं। विज्ञान के द्वारा हम 'गुड़' के वास्तविक रूप का विश्लेषण कर सकते हैं; इसी प्रकार एक मनोहर 'नृत्य' या 'गीत' का गणित के द्वारा चित्र उपस्थित किया जा सकता है। किन्तु

यह सब विज्ञान उस ज्वलन्त अनुभूति के समीप तक हमें नहीं पहुँचा सकता जो गुड़ के चखने, नृत्य के देखने या गीत के सुनने से अनायास ही हमें प्राप्त होती है। रस की अनुभूति का निरूपण दूसरी ही विधि की अपेक्षा रखता है, क्योंकि हमारा दृष्टिकोण वास्तविक या वस्तु-केन्द्रित (Objective) न होकर रसिक की दृष्टि से रस का ग्रहण करना है।

अनुभूति के लिये अनुभविता की दृष्टि से विचार करना श्रेष्ठ होता है, क्योंकि वही अपने 'स्व' का सर्वोत्तम साक्षी है। आधुनिक मनोविज्ञान मानता है कि हमारे साधारण अनुभव जैसे किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष बोध अथवा स्मृति, कल्पना या विमर्श की क्रिया में भी अनुभविता का स्वरूप सम्मिलित रहता है। परन्तु साधारणतया हम किसी व्यापार में लगे होते हैं और अनुभव के अधिष्ठान अर्थात् अनुभविता के विषय में नहीं सोचते। 'रस' एक ज्वलन्त अनुभूति है; इसमें सहृदय सर्वात्मा से सम्मिलित रहता है। सच तो यह है कि रसास्वादन में व्यक्तित्व के आकस्मिक परिस्थिति-जन्य जटिल जालों से मुक्ति का अनुभव हमारी 'आत्मा' करती है। इसीलिये रसानुभूति की तुलना ब्रह्मानुभूति या स्त्री-पुरुष के प्रगाढ आश्लेष से की गई है जब 'हृदय-ग्रन्थियाँ' छिन्न हो जाती हैं, और 'भिद्यन्ते सर्वसंशयाः' अर्थात् संशयात्मक मानसिक विकार विलीन हो जाते हैं। अनुभविता-रसिक के स्वरूप के बिना उसकी अनुभूति का विवेचन अपूर्ण रहेगा।

किन्तु स्मरण रहे कि केवल अनुभविता के स्वरूप का अवगाहन हमें कदापि अभीष्ट नहीं है, क्योंकि इससे तो हम 'अध्यात्म' के क्षेत्र में पहुँच जायेंगे। हमें अनुभविता की दृष्टि से उसकी अनुभूति का स्वरूप निश्चित करना है। इस अनुभूति में वस्तु का सौन्दर्य भी रहता है। सच तो यह है कि सौन्दर्य की अनुभूति, सुन्दर वस्तु का रूप-बोध, उसके लय, गति-सन्तुलन, भार-साम्य आदि गुणों का उन्मेष—ये सभी 'रस' के कलेवर को पुष्ट करते हैं। अतएव रसिक के अध्यात्म-विवेचन से हमारा काम न चलेगा। यहाँ इतना ही अभिप्रेत है कि रसिक अपनी रसानुभूति का

प्रथम साक्षी है, अतएव उसी की दृष्टि से रस-मीमांसा विश्वसनीय हो सकती है ।

रसिक अपनी रसानुभूति की मीमांसा कैसे करे ? मीमांसा मनन-क्रिया का नाम है । यदि वह मनन में लगता है तो सुन्दर वस्तु से हट जाने के कारण 'रस' ही विलीन हो जायगा । यदि वह रस-ग्रहण में लगता है तो मनन कैसे सम्भव होगा ! यह कठिनाई भ्रामक है, क्योंकि रस वस्तुत. मानसिक उबाल या आवेश का नाम नहीं है । वह क्षणिक नहीं वरन् रसिक की सत्ता के प्रत्येक पार्श्व और स्तर में व्याप्त हो जाने वाला अनुभव है । इसीलिये वह मनन के लिये टिक सकता है । और भी, रसानुभूति अपनी पूर्ण और पुष्ट अवस्था को पहुँचकर स्वयं सवाक् हो उठती है । रस-मीमांसा की क्षमता उसी रसिक में होती है जो रस के वेग में बहता नहीं है, वरन् जो स्थिर होकर उसका पर्यालोचन कर सकता है। मीमांसक-रसिक रस की मुखर अनुभूति को ग्रहण करने में समर्थ होता है ।

अनुभविता द्वारा स्वानुभूति की मीमांसा के लिये आवश्यक है कि वह उसे पूर्ण और पुष्ट होने दे । इसके अनन्तर वह वाक्यों द्वारा उसके वर्णन करने के लिये प्रवृत्त हो सकता है । वाक्य में पद-समूह 'अर्थ' को व्यक्त करता है । अर्थ बुद्धि से ग्राह्य आलोक है । अतएव वाक्यों के प्रयोग से अनुभविता अपने अनुभव को बुद्धि-ग्राह्य 'अर्थ' के स्तर तक ला सकता है जहाँ से मनन और मीमांसा का प्रारम्भ होता है। इसका तात्पर्य है कि 'वर्णन' वह विधि है जो रस-मीमांसा के क्षेत्र में उपादेय हो सकती है ।

'वर्णन' हमारी अध्ययन-विधि का प्रथम-चरण है । वर्णन के लिये आवश्यक नहीं कि तर्क और विश्लेषण किया जाये, न इसके लिये पूर्व-ग्रहीत संकल्पनाओं की अपेक्षा है; न संकल्पनाओं के जाल में हम अनुभूति के जीवन्त और तरल भाग को पकड़ ही सकते हैं । अतएव 'वर्णन' को ही स्पष्ट और अविकल बनाना प्रथम पद पर हमारा लक्ष्य होता है । रंगमंच पर सुन्दर अभिनय या नृत्य देखकर, या मनोहर राग सुनकर जो रसिक की मन-स्थिति होती है वही हमारे लिये 'वर्ण्य' है । वर्णन को 'सकल' और

सफल बनाने के लिये मीमांसक एक ओर सुन्दर कला-सृष्टि के सौन्दर्य का अंग-अंग में अवगाहन करता है, और दूसरी ओर सौन्दर्य के प्रभाव का अवलोकन करता है जो उसके मन, बुद्धि, चित्त और चेतना तथा शरीर के भागों में मधुर 'वेदनाओं' के रूप में प्राप्त होता है। मीमांसक के मन की यह उभयवाहिनी गति रोचक है। एक ओर आँखें वस्तु के रूप में उन्मज्जन-निमज्जन करती हैं; कभी अंगी से अंगों की ओर, तो कभी अंगों से अंगी की ओर, कभी अंगों का सौकुमार्य, तो कभी विन्यास की पूर्णता, कभी सन्तुलित गति का उन्मेष, तो कभी भारों के साम्य का बोध; संक्षेप में, एक ओर आँखें मानो कुल्याओं में रूप-निधि को भर कर अन्तर की ओर चलती हैं तो दूसरी ओर रसिक-मीमांसक इसके 'प्रभावों' को अपने व्यक्तित्व के विशाल अन्तराल में अन्तर्वीक्षण (Introspection) द्वारा देखता है। वह सब प्रकार से वाक्यों में व्यक्त करके रसानुभूति के वर्णन को पूर्ण बनाता है।

प्रश्न यह है कि क्या अनुभूति का पूर्ण वर्णन सम्भव है ?

हमारी पुष्ट अनुभूति 'अर्थ' के आलोक में रूपान्तरित होती है; अर्थ शब्द के पार्थिव शरीर में गोचर होता है। इस क्रम से हमारी अनुभूति शब्दार्थमयी होती है। यही साहित्य के सृजन का प्रारम्भ है। किन्तु सच यह है कि हमारी सम्पूर्ण चेतना अनुभूति के स्तर तक नहीं पहुँच सकती, और, न सम्पूर्ण अनुभूति शब्दार्थ की अभिव्यक्ति तक ही पहुँचती है। फलतः वाक्यों में अनुभूति का सकल वर्णन स्वभाव से ही असम्भव है। स्मरण रहे, कला का क्षेत्र 'वर्णनीय' तक सीमित नही है; 'वर्णनातीत' भी इसकी सीमा के भीतर है। अतएव रस-मीमांसा में वर्णन की पूर्णता का अर्थ यही है कि वह वर्णन की सीमा तक पहुँच जाये। अनुभूति का सम्पूर्ण वर्णन सम्भव न सही, किन्तु वर्णन करते-करते 'अवर्णनीय' तक पहुँच जाना मीमांसा के लिये पर्याप्त होता है।

वर्णन-विधि का दूसरा चरण रसानुभूति में 'अवर्णनीय' तक पहुँच जाना है।

जैसाकि हम आगे देखेंगे, रसानुभूति मानसिक जगत् की व्यापक और गम्भीर 'घटना' है। 'व्यापक' इसलिये कि इसमें शरीर, हृदय, नाड़ी-संस्थान से लेकर मन, बुद्धि, चित्त और चेतना तक सम्मिलित रहते हैं, और इनमें असाधारण क्रियाओं का उन्मेष होता है। 'गम्भीर' इसलिये कि चेतना के ऊपरी, परिचित और परिमित तल पर ही नहीं, इसके गहरे अवचेतन और अचेतन भागों में भी सौन्दर्य के प्रभाव से वेदनाएँ जगती हैं। बुद्ध की भावमयी मूर्ति को देखिये या उनके 'महाभिनिष्क्रमण' के चित्र को, अथवा किसी भव्य मन्दिर के प्राङ्गण में खड़े हो जाइये, और पूजा-विधान में निसृत स्वरों के विन्यास को ग्रहण कीजिये। इस समय आवश्यक है कि रसिक-प्रेक्षक व्यवहार और ज्ञान के लिये अपेक्षित आन्तरिक उत्तेजनाओं, ग्रन्थियों और जटिल जालों से मुक्त हो। रस की पूर्ण अभिव्यक्ति होने पर प्रतीत होता है कि सब कुछ कह लेने पर भी एक अकथनीय सार-गर्भ शेष रह जाता है। अनुभूति इसे स्वीकार करती है, किन्तु इसकी शब्दार्थ में अभिव्यक्ति सम्भव नहीं प्रतीत होती। अनुभूति का अंश जो अर्थ के आलोक को ग्रहण नहीं कर पाता 'अवर्णनीय' तत्त्व है। मीमांसा में वर्णनीय का वर्णन तभी पूर्ण हो सकता है जब इसकी सीमाएँ स्पष्ट हो जायें।

'वर्णन' न केवल पूर्ण होना चाहिए, अपितु व्यवस्थित और संगत भी होना चाहिये। तभी वर्णन वास्तविक 'विवेचन' का रूप ग्रहण करता है। वर्णन-विधि का यह तीसरा और अन्तिम चरण है। इस स्थल पर हम शास्त्रीय और वैज्ञानिक विधियों से सहायता ले सकते हैं। किन्तु रस-मीमांसा में 'व्यवस्था' का क्या अर्थ है? विज्ञान घटनाओं का निरीक्षण-परीक्षण करता है जिससे उसे प्रकृति के नियम प्राप्त होते हैं। प्रकृति का स्वरूप ही नियमों की व्यवस्था है। रस की प्रकृति नियमों की व्यवस्था नहीं है। नियमों की व्यवस्था का केवल ज्ञान रस का 'आभास' उत्पन्न कर सके तो कर सके, किन्तु वह रस की 'अनुभूति' से दूर ही होगा। नियम सामान्य होता है और बुद्धिग्राह्य। अनुभूति 'विशिष्ट' ही हो सकती है

और सर्वात्मना ग्राह्य । तब रस-मीमांसा में 'व्यवस्था' का क्या स्वरूप होगा ?

प्रस्तुत विवेचन 'रस' को 'अनुभूति' से पृथक् नहीं मानता । अनुभूति एक 'घटना' है । रसिक की अन्तरात्मा इस घटना का उद्गम है, किन्तु, स्मरण रहे कि यह विशुद्ध आध्यात्मिक या भावनात्मक अथवा बौद्धिक घटना नहीं है । यदि ऐसा होता तो सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य का महत्त्व ही न रह जाता, और विचार, ध्यान, समाधि अथवा आत्मानुभूति से इसका अन्तर ही अस्पष्ट हो जाता । हमारा साधारण अनुभव वस्तु के साक्षात् बोध अथवा प्रत्यक्ष से प्रारम्भ होता है । विकास के अनन्तर हम स्मृति, कल्पना और विमर्श तक पहुँच जाते हैं तथा उत्तरोत्तर वस्तु के साक्षात् बोध से दूर होकर हम स्मृति आदि के ही विधानों के अनुसार अनेक मानसिक व्यापार सम्पन्न करते हैं । विचार की क्रिया मे बुद्धि अपने ही नियमों का पालन करती है । यह मानसिक विकास की एक दिशा है । यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि रसानुभूति की यह दिशा नहीं है । इस अनुभूति का पोषण बुद्धि, मन, स्मृति, कल्पना, चित्त, अहंभाव, भावना और इन सबकी आश्रयभूत चेतना तथा शरीर सभी करते हैं । अनेक स्रोतों से निर्झर की भाँति झर कर 'रस' की शतधारा का निर्माण होता है । किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी इस अनुभूति में सुन्दर वस्तु के 'साक्षात्कार' का बोध रहता है । रसानुभूति से हम गोचर, प्रत्यक्ष अथवा संस्पर्शज तत्त्व को दूर नहीं कर सकते । रसानुभूति 'आत्मा' की अपेक्षा 'इन्द्रियों' के, विमर्श-विचार आदि की अपेक्षा 'प्रत्यक्ष' के, अधिक समीप घटित होती है । यह तथ्य इस अनुभूति की विशिष्टता है और साथ ही अन्य अनुभूतियों से भेदक भी ।

रसानुभूति एक 'घटना' है । घटना का व्यवस्थित ज्ञान उसके 'काल' 'दिक्' और 'कारण' के निरूपण से प्राप्त होता है । अतएव रस-मीमांसा में 'व्यवस्था' का स्वरूप रसानुभूति के काल आदि का निरूपण है । घटना किसी काल-विशेष, दिक्-विशेष और कारण-विशेष के माध्यम में ही घटित

हो सकती है। हम शास्त्रीय विधि द्वारा अपने 'वर्णन' में घटना के पूर्ण और स्पष्ट निरूपण से 'व्यवस्था' उत्पन्न कर सकते हैं। इसी प्रकार विवेचन में 'विचार' रहता ही है और विचार संगति के नियमों का पालन अवश्य करता है। विचार की सहायता से व्यवस्थित और संगत होकर हमारी वर्णन-विधि केवल वर्णनात्मक न रहकर विवेचनात्मक हो जाती है।

(४)

रसानुभूति मे 'काल' का क्या स्वरूप होता है?

काल के कई स्वरूप हैं। इसका एक रूप व्यावहारिक या यांत्रिक (Mechanical) है। इसे हम किसी वस्तु की 'गति' से नापते और जानते हैं। जैसे, पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है। एक 'चक्कर' पूरा होने पर हम 'रात-और-दिन' की माप करते हैं। पूरे 'चक्कर' को चौबीस बराबर भागों में बाँट कर हम चौबीस घंटे की गणना करते हैं। एक घंटे को बराबर अंशों मे बाँट कर मिनट, सेकंड या अन्य किसी प्रकार से बाँट कर घड़ी, पल आदि की माप की जाती है। इसी प्रकार सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की परिक्रमा, चन्द्रमा या दूसरे ग्रह, नक्षत्र आदि की गति के द्वारा भी काल-गणना की जाती है। यह गणना दूसरे प्रकारों से भी सम्भव है। यंत्रों के आविष्कार से यह 'काल' गणित के निश्चित नियमों द्वारा समझा जा सकता है। एक सेकंड का सहस्रांश भी नाप में आ सकता है। प्रश्न यह है कि क्या हम 'यांत्रिक काल' से अनुभूति को, विशेषतः रसानुभूति को नाप सकते हैं या नहीं?

'रस' का एक उदाहरण सम्मुख रखिये। कल्पना कीजिये कि हम एक अजन्ता का भित्ति-चित्र देख रहे हैं जिसमें रंगों और रेखाओं के माध्यम से गौतम का 'महाभिनिष्क्रमण' चित्रित किया गया है। रेखाओं में 'गति' है, इसके सूक्ष्म और तरल आरोह-अवरोह से अत्यन्त सुकुमार 'रूपों' का विन्यास प्रस्तुत किया गया है। रङ्गों के संयोजन से उस महानिशा

में यशोधरा के शयनागार में मणि-प्रदीपों का धीमा प्रकाश बिखर रहा है। रंगों और रेखाओं के सम्पूर्ण और सन्तुलित विन्यास में भावों की आभा छलक उठी है। यह वह क्षण है जब एक राजकुमार संसार और निर्वाण की तट-भूमि पर खड़ा हुआ एक ओर ज्योति, अमरता और सनातन सत्य को और दूसरी ओर घनान्धकार, मृत्यु और असत्य को निहार रहा है। वह भवन और वन की देहरी पर खड़ा है। उस क्षण का यह विकट भाव, भावनाओं की क्रांति, विचारों का आन्दोलन, जीवन और जगत् की समस्याओं का जटिल जाल, आत्मा का यह संकट और अन्तर्द्वंद्व, संक्षेप में, हमारी आध्यात्मिक सत्ता के सारे प्रश्न मानो रंग और रेखा के विन्यास में साकार और साक्षात् हो उठे हैं।

मानिये कि घड़ी के अनुसार हमने इस चित्र को एक घंटे तक देखा। यह हमारा व्यावहारिक 'काल' है जिसका आकलन यंत्र से सम्भव है। किन्तु यह समय वही बता सकता है जिसकी आँखें घड़ी पर लगी हों। रस का अनुभविता अब 'व्यवहार' के लोक में नहीं है। उसके लिये रस की अनुभूति 'युगों' की साधना को उपस्थित कर रही है, वह साधना जो आज युगान्तर में सफल और गोचर हुई है। रस की अनुभूति में मानो अनेक युग और अनन्त लोक, रसिक की अखिल आध्यात्मिक सत्ता, सिमिट कर एकस्थ हो गये हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ, अर्थात् यदि यह तमाशा केवल एक घंटे का ही था, तो रस की अनुभूति नहीं हुई। यदि रसिक ने 'रस' के लोक में सर्वात्मना प्रवेश किया तो स्पष्ट है कि हम यान्त्रिक काल से इसका निरूपण नहीं कर सकते।

बात यह है कि यांत्रिक काल केवल जाग्रत् अवस्था में व्यवहार के लिये उपयोगी होता है। स्वप्न में इस काल के सारे बन्धन और विधान समाप्त हो जाते हैं। तभी तो क्षणों में दीर्घकाल की घटनाएँ वहाँ घटित हो जाती हैं। स्वप्न में गति और परिवर्तन रहते हैं। अतएव वहाँ भी सूक्ष्म काल-चेतना सम्भव है। किन्तु स्वप्न से आगे चलकर सुषुप्ति में काल मानो निष्पन्द हो उठता है। इसे काल का चिर, अविचल और सनातन

रूप मानिये। यांत्रिक काल से स्वप्न और सुषुप्ति की अनुभूतियों का निरूपण सम्भव नहीं। रसानुभूति से इन अवस्थाओं का सादृश्य इतना अवश्य है कि हम उस समय व्यवहार की आवश्यकता से अवश्य मुक्त हो जाते हैं और समय बीत जाने की चिंता से दूर।

पूर्व और पश्चिम में ऐसे अनेक चिंतक हैं जो रसानुभूति को स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभव से भिन्न नहीं मानते। यह मान्यता बिल्कुल निराधार नहीं है। किन्तु इनका भेद भी स्पष्ट है; रसानुभूति में 'स्वप्न' के कई तत्त्व रहते हैं, किंतु यह केवल स्वप्न नहीं, वरन् चेतना की अत्यन्त चेतन और जाग्रत् अवस्था है। रस की अनुभूति में कल्पना से प्राप्त केवल मानसमूर्त्तियाँ ही नहीं रहतीं, वरन् इसमें इन्द्रियों के संस्पर्श से जनित अनेक गोचर तत्त्वों की प्रत्यक्ष प्रतीति भी रहती है। हम इतना मान सकते हैं कि रस का अनुभव केवल जाग्रत और प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है; इसका उदय चेतना के अनेक स्तरों पर होता है। इसी प्रकार सुषुप्ति से भी रसानुभूति का भेद और सादृश्य है; सुषुप्ति चेतना की 'आवृत' अवस्था है, रिक्त और शून्य, व्यवहार और ज्ञान की आवश्यकता से मुक्त। रसानुभूति में चेतना की इस स्थिति का 'आनन्द' रहता है; किंतु वह सुषुप्ति से इतनी ही भिन्न है जितनी 'राका' अमा की रात्रि से अथवा रीता मधु-कलश भरे हुए मधु-पात्र से।

यांत्रिक काल के अतिरिक्त एक मनोनिर्मित काल (Subjective Time) भी है। इस काल में युग भी क्षण की भाँति और क्षण भी युग की भाँति बीत सकते हैं। विरहिणी गोपियों के लिये अपने प्रिय को न देख सकने पर चुटकी भर काल युग हो जाता था : त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्। इसमें घटनाओं के वेग के अतिरिक्त भावनात्मक वेग (Emotional tempo) भी सन्निहित रहता है। यदि हम रसानुभूति से मनोनिर्मित काल को निकाल दें तो हम नाट्य, नृत्य, संगीत, साहित्य में ही नहीं, चित्र, स्थापत्य आदि कलाओं में भी अनुभूति के स्वरूप को नहीं समझ सकते। वस्तुतः अनुभूति की प्रबलता के लिये आवश्यक है कि यांत्रिक काल की 'अतीत', 'वर्त्तमान' और 'अनागत' की सीमाएँ समाप्त हो जायें।

मनोनिर्मित काल में केवल 'विद्यमान' क्षण रहता है, अतीत और अनागत नहीं—ऐसी शून्यवादी बौद्धों की मान्यता है। किन्तु 'अतीत' मरते-मरते 'विद्यमान' को जन्म दे जाता है और 'विद्यमान' में 'अनागत' का गर्भ-बीज रहता है। "काल केवल 'क्षण' नहीं है; वह क्षणों का जीवित प्रवाह है"—यह भी दूसरी बौद्ध मान्यता है। हमारे समय में फ्रेंच दार्शनिक बर्गसाँ ने इसको पुष्ट और प्रतिपादित किया है। वह काल को जीवन से भिन्न नहीं मानता। उसके लिये काल जीवन का प्रवाह (Elan vital) है। आइन्स्टीन इससे एक पग और आगे है। उसके अनुसार जगत् की जड़ और चेतन सत्ता किसी अज्ञेय और अनिर्वचनीय 'शक्ति' (Energy) का निरन्तर स्पन्दन है। काल इस स्पन्दन का मूलाश्रय है, और सम्पूर्ण सत्ता में ओत-प्रोत है। मानना होगा कि 'काल-तत्त्व' रसानुभूति में भी ओत-प्रोत है; वह इसके स्पन्दन और जीवन का मूल है। किन्तु यह 'काल' न्यूटन का यांत्रिक काल नहीं है। मन के अतिरिक्त भी इसकी सत्ता है, अतएव केवल 'मानसिक' मानना भी उपयुक्त नहीं। तब इसका क्या स्वरूप है?

'काल' का एक ऐतिहासिक (Historical Time) स्वरूप भी है। इतिहास 'अतीत' और 'वर्तमान' की सीमा को विलीन कर देता है, क्योंकि 'विकास' इसका मूल-तत्त्व है। 'विकास' में सारा 'अतीत' भी विद्यमान रहता है। बीते हुए काल की लब्धियों पर हम 'नूतन' का सृजन करते है। अकस्मात् 'नूतन' का उन्मीलन नहीं होता, वरन् बीज से अंकुर, अंकुर से पल्लव और पल्लव के पुष्प आदि की भाँति विकास में सम्पूर्ण व्यतीत अवस्थायें 'वर्तमान' का निर्माण करती हैं। विज्ञान विकास की इस परिभाषा को जड़ और जीवित दोनों प्रकार की सृष्टियों के लिये स्वीकार करता है। मनोविज्ञान इससे एक पग और आगे है : इसके अनुसार हमारा व्यक्तित्व अर्थात् हमारी विद्यमान मनोवृत्तियाँ, रुचि, विचार, संकल्प तथा अन्य मनोदशायें व्यतीत अनुभूतियों के द्वारा निश्चित की जाती हैं। ये अनुभूतियाँ हमारी 'स्मृति' हैं। हम 'वर्त्तमान' का निर्माण इसी स्मृति-

निधि पर करते हैं। और ये स्मृतियाँ केवल हमारे इस जन्म का संचित कोश नहीं है, अपितु जीवन के मूल आविर्भाव से भी पूर्व से लेकर असंख्य विकास-क्रमों से ये संचित हो रही हैं। वस्तुतः हमारी व्यष्टि चेतना का मूलाधार समष्टि चेतना या समष्टि-स्मृति (Racial Mneme) है। हमारा चेतन मन एक प्रकाशित किन्तु क्षुद्र 'बिन्दु' है। इसके चारों ओर तटीय चेतना (Marginal Consciousness) का घेरा है। इसको भी अनन्त अतीत की स्मृतियाँ अवचेतन और अचेतन के रूप में चारों ओर से घेरे हैं। इतिहास में 'अतीत' मरता नहीं है; वह जीवित रहता है और विद्यमान का निर्माण करता है।

रसानुभूति में विपुलता रहती है, क्योंकि इसमें क्षणों में युगों का अनुभव सिमिट आता है। केवल 'वर्त्तमान' से विपुल अनुभव सम्भव नहीं। राग की एक मूर्च्छना या चित्र की एक रेखा अथवा काव्य का एक पद हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व में जो हलचल खड़ी कर देता है उसका आधार तटीय चेतना, अवचेतन और अचेतन तलों में प्रभावों का संचार ही है। स्मृति-कोश में आन्दोलन से हमारा अखिल 'अतीत' प्रस्तुत हो जाता है। संक्षेप में, रसिक में 'इतिहास' अथवा समष्टि-चेतना के उदय से रस का संचार होता है।

रसानुभूति में 'विकास' रहता है। 'विकास' इतिहास का सार है। इसका अर्थ है कि रस-चेतना में इतिहास की समष्टि-चेतना जगती है। समष्टि-चेतना के प्रस्फुरण से अतीत और वर्त्तमान की सीमा विलीन हो जाती है। समय की वह मानसिक सीमा है जिसके हट जाने से 'उन्मुक्त' मनोदशा का उदय होता है। यह रसानुभूति में आनन्द का एक स्रोत है। किन्तु इतना ही नहीं, रसानुभूति में गति, प्रगति अथवा विकास ही नहीं रहते, उसमें 'संगति' अथवा 'पूर्णता' का बोध भी रहता है। जो अपूर्ण और विकल है, वह सुन्दर नहीं; जो असुन्दर है उसमें रसोन्मेष की योग्यता नहीं। अतएव हम केवल ऐतिहासिक काल के द्वारा रस-चेतना का निरूपण नहीं कर सकते। रस-चेतना का अपना

'काल' है जिसमें अतीत, वर्त्तमान और अनागत की मनोनिर्मित सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं : इसमें सब कुछ विद्यमान रहता है। न केवल स्मृतियाँ, अपितु आशा और उल्लास के भाव, मन की कमनीय कामनाएँ और सुकुमार कल्पनाएँ, जीवन के सुनहरे स्वप्न और जो कुछ भी सुन्दर आदर्श हों—ये सब रस-चेतना के विद्यमान क्षण में सम्पिण्डित होकर साकार और साक्षात् हो जाते हैं। भूत और भावी का वर्त्तमान में यह पिण्डीभूत होना रस-चेतना की विलक्षणता है। रसानुभूति का यह लक्षण अनुभूति की तात्कालिकता (Immediacy of experience) कहा जा सकता है।

भूत और अनागत, स्मृति और कल्पना, अनुभूत और अननुभूत, कान्त और काम्य की सीमाओं के हट जाने से अथवा इनके 'विद्यमान' में पिण्डीभूत होने से, रस की अनुभूति इतनी विपुल, विशाल और गम्भीर हो उठती है। यह काल का चिरन्तन स्वरूप है जिसका निर्वचन हम यान्त्रिक, मानसिक, ऐतिहासिक अथवा क्षणिकवादी संकल्पना द्वारा नहीं कर सकते। यह अनुभूति का काल है जिसमें इसकी व्यावहारिक सीमाएँ घुल गयी हैं। समाधि और तन्मयता की अन्य अवस्थाओं में भी हम काल के चिरन्तन, सीमाहीन स्वरूप में प्रवेश करते है। किन्तु इनका रसानुभूति से अन्तर स्पष्ट है। समाधि में चित्तवृत्तियों के निरोध से प्रत्याहार, धारणा, ध्यान आदि के निरन्तर अभ्यास के द्वारा मनोमलों के शान्त होने पर—मन के विरजस्क, रजोहीन, होने पर—जिस ब्रह्मज्योति अथवा ऋतम्भरा-प्रज्ञा का आविर्भाव होता है उसके साक्षी केवल सिद्ध योगी ह। है। रस की अनुभूति के लिये योग और चित्त-वृत्ति निरोध की अपेक्षा नही। न चित्त-वृत्ति के निरोध से रस की प्रतीति होती है, बल्कि चित्त-वृत्तियों में क्रिया के जागरण से रसोन्मेष होता है। किन्तु इतना अवश्य है कि इस समय चित्त के व्यापार किसी व्यावहारिक लक्ष्य की सिद्धि और ज्ञानार्जन की ओर प्रवृत्त नहीं होते। प्रत्यक्ष सौंदर्य, उसके रूप-विन्यास, सन्तुलन, अंग और अंगों का विलक्षण सम्बन्ध, रूप के द्वारा निरूपित

भावों की ओर संकेत, आदि को सर्वात्मना ग्रहण करने में ही चित्त-वृत्तियाँ व्यापृत हो जाती हैं। चित्त के इस व्यापार मे ही रस का अनुभव सम्पन्न होता है; इस व्यापार के शमन से नहीं।

'तन्मयता' की एक अवस्था गणित अथवा अन्य प्रकार के विचार-व्यापार में भी होती है। वस्तुतः यह 'प्रत्याहार', 'धारणा' और ध्यान की अवस्था है। प्रत्याहार में साधक चित्त-वृत्तियों को सब ओर से समेटता है, और अवधान को तथा इसकी बहिर्मुखी गति को 'धारणा' के अभ्यास से रोकता है। रोक कर इन्हें केन्द्रस्थित कर देना 'ध्यान' है। गणित मे 'समस्या' उपस्थित होती है। ध्यानपूर्वक विचार की क्रिया से इस समस्या में अनेक सूत्र, खण्ड या अवयव स्पष्ट होने लगते हैं। यह 'विश्लेषण' है जो विचार-व्यापार का प्रमुख पद है। हमारा पूर्वज्ञान (Apperceptive mass) इस समय उपस्थित होता है तथा खंडों और सूत्रों में सम्बद्धता, परस्पर संगति आदि का मानसिक प्रत्यक्ष कराता है। अवयवों में एकसूत्रता, संगति और संबद्धता के आविर्भाव से हम समस्या के 'हल' तक पहुँच जाते हैं। यह सम्पूर्ण अनुभव बौद्धिक होते हुए भी मनःप्रसाद उत्पन्न करता है। किन्तु यह, साथ ही, रस की उस तन्मयता से भिन्न है जिसमें बुद्धि और उसका बोध भी सरस हो जाते है, जिसमे ध्यान के साधन और श्रम के स्थान पर परम निर्वृति का लाभ होता है, जो 'कान्ता-सम्मित' होकर चित्त में दीप्ति, द्रवता और विस्तार का संचार करती है और अन्त में, जिसे हम 'सर्वात्मना' ग्रहण करते हैं।

(५)

हमने देखा है कि रसानुभूति में विलक्षण काल-चेतना का उन्मेष होता है। वस्तुतः यह रसिक की ही चेतना का उदय है जिसमें गत और अनागत की सीमाएँ घुल गई हैं और उसके व्यावहारिक व्यक्तित्व के जाल कट गये हैं। यह चेतना की विशुद्ध और सरल दशा है। उपनिषद् की भाषा में इस समय चेतना के ऊपर आवरण करने वाले सारे मलिन 'कोश'

विलीन हो जाते हैं। चेतना 'आनन्दमय' कोश में पहुँच जाती है। हमारे देश की दार्शनिक शब्दावलि में, इस विलक्षण क्षण में तमः और रजोगुण के मल धुल जाने से शुद्ध 'सत्व' का आविर्भाव होता है। मन की तामस अवस्था में मनोवेग, उद्वेग और उत्ताप जगते हैं; रजोगुण की दशा में क्रियात्मक संकल्प, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि का मूल्यांकन प्रारम्भ होता है। सत्व की स्थिति में शान्ति, आनन्द, उपरति आदि के भाव उदित होते हैं। किसी भी प्रकार से निर्वचन किया जावे, रसानुभूति में काल-चेतना का विलक्षण स्वरूप रहता है, और यह रसिक की ही चेतना का स्वरूप है—इसमें वैमत्य नहीं है।

संगीत में काल-चेतना का निकटतम और प्रकृष्टतम उन्मीलन रसज्ञ मानते हैं। मुग्ध श्रोता स्वरों का शरीर धारण करता है और उनके आरोह-अवरोह में बह कर स्वयं लय और गति का अनुभव करता है। स्वरों का सारा माधुर्य और सौकुमार्य उसकी चेतना में उतर आता है। संक्षेप में, संगीत की अनुभूति में श्रोता सबसे अधिक लाघव और चेतना की उन्मुक्त अवस्था को पहुँच जाता है। इस समय काल-चेतना दिक् और स्थान के बन्धनों से मुक्त होती है।

किन्तु साधारणतया 'काल' को 'दिक्' से अलग नहीं रखा जा सकता। काल का रूप 'गति' है तो दिक् का रूप स्थान या 'स्थिति' है। गति और स्थिति परस्पर सापेक्ष और सम्बद्ध है। फलतः रस-चेतना में स्थान या स्थिति-चेतना का अंश अवश्य रहता है—न्यून या अधिक। अतएव अनुभूति की दृष्टि से यदि संगीत एक छोर पर है तो स्थापत्य दूसरे छोर पर। संगीत स्वरों का विन्यास है जो गतिमय है और 'काल' में मानो उच्छ्वास लेता है। स्थापत्य में जड़ शिलाओं का विन्यास रहता है जिसमें स्थिति का बोध रहता है और स्थान का विस्तार होता है। संगीत और स्थापत्य के मध्य में अन्य कलाओं का स्थान है।

प्रश्न यह है कि रस-चेतना में जो दिक्, स्थान, स्थिति या विस्तार का बोध रहता है उसका स्वरूप क्या है? गंगावतरण का एक चित्र फलक,

पट या भित्ति पर देखिये। रेखा और रंगों के विन्यास में यहाँ एक अलौकिक लोक का उन्मीलन होता है। प्रकाश और छाया के सूक्ष्म संयोजन से आँखें कभी हिमालय के हिमाच्छन्न तुंग शृंगों पर चढ़ जाती हैं तो कभी रेखा के सहारे हिमानी के भयंकर गर्त्तों में उतर आती हैं। रेखा और रंगों के बल से ही गंगा का फेनिल, सुकुमार स्वरूप गोचर होता है और, दूसरी ओर रेखाओं की सूक्ष्म और द्रुत गति में शिव का 'प्रलयंकर' स्वरूप, उनके संकल्प की दृढ़ता और शक्ति की प्रचण्डता का बोध मानो छलक रहा है। सफल साधक भगीरथ के मुख की भंगिमा युगों की तपस्या को व्यक्त करती हुई एक छोटी सी रेखा से अंकित है। संक्षेप में, इस चित्र में एक सम्पूर्ण लोक उतर आया है और एक युग का सारा इतिहास एकस्थ हो गया है। यह स्पष्ट है कि चित्र के लोक को जिसमें दिशाएँ हैं हम पैमाने से नहीं नाप सकते। यह लोक उस जगत् का अंश नहीं है जिसमें यह चित्र-पट या चित्र-फलक रक्खा हुआ है। मूर्ति या रंगमंच पर अभिनय की अनुभूति में भी जिस लोक और दिशा का बोध होता है वे किसी यंत्र से नहीं नापे जा सकते, क्योंकि वे हमारे साधारण व्यवहार के लिये उपयुक्त लोक व दिशा के भाग नहीं हैं।

तब रसानुभूति में उन्मीलित 'दिक्' का क्या स्वरूप है? एक मत के अनुसार चित्र आदि में चित्रित 'दिक्' स्वयं-स्वीकृत 'भ्रान्ति' (Illusion) है। रेखा और रंगों अथवा प्रकाश-छाया के संयोजन से परिप्रेक्ष्य (Perspective) के नियमों के अनुसार यह दिक्-भ्रान्ति उत्पन्न की जाती है। इस भ्रान्ति से कल्पना को स्फूर्ति मिलती है। यही 'रस' का स्रोत है। हमारे देश में श्रीशङ्कुक ने 'चित्रतुरग' न्याय का प्रतिपादन किया है। चित्र में वास्तविक तुरग नहीं है, किंतु उसे 'तुरग' के रूप में देखने से अद्भुत मनोमोद प्राप्त होता है। कुछ विद्वान् एक पद और आगे चलते हैं : उनके अनुसार चित्र, नाट्य आदि में बोध का स्वरूप 'अनुमिति, (Inferential) होता है। चित्र में साक्षात् तुरग न सही, अनुमिति-बोध्य तुरग है। अन्य चिन्तक इसे केवल 'संकेतित' तुरग मानते हैं। चित्र और दूसरी कलाओं में दिक्

बोध होता है, उसे भ्रान्ति, अनुमिति अथवा संकेत-जनित अभिव्यक्ति माना जा सकता है। किन्तु इस मान्यता में दोष यह है कि रसिक इसे प्रत्यक्ष और गोचर अनुभूति मान कर ही रसास्वादन करता है। इस मान्यता में सत्य का अंश इतना ही है कि रसास्वादन की पूर्ण क्रिया में कल्पना और अनुमान के व्यापार भी सम्मिलित रहते हैं।

रसानुभूति में दिक्-बोध क्या स्वप्न की भाँति केवल मनोनिर्मित (Subjective) तो नहीं होता ? यह सच है कि रसास्वादन मे मन के अनेक व्यापार होते हैं। मन और कल्पना जीवन की आवश्यकता और मर्यादाओं से मुक्त होकर अवश्य वहाँ विहार करते है। किंतु दिवा-स्वप्न में ये जिस प्रकार स्वच्छन्द अथवा अपनी वासनाओं से वासित होकर विहार करते हैं, उसी प्रकार सौंदर्य के अवगाहन के अवसर पर नहीं। सौंदर्य की कलात्मक सृष्टि, जैसे राग, चित्र, मूर्त्ति आदि अपने ही सन्तुलन, संगति, लय आदि गुणों से मन और कल्पना को भर देती है। अतएव रसास्वादन केवल दिवा-स्वप्न से भिन्न होता है ; वह एकान्ततः मनोनिर्मित अथवा कल्पनाजन्य नहीं होता। रसानुभूति में 'साक्षात्' और 'प्रत्यक्ष' अनुभव रहता है। फलतः रस-चेतना में दिक् बोध केवल मनोनिर्मित नहीं हो सकता।

रसानुभूति में दिक् अथवा 'स्थान के स्वरूप-निरूपण के लिये हमें 'सत्य' और 'स्वप्न' की साधारण मीमांसा बदलनी होगी। स्वप्न मनोनिर्मित लोक मे घटित होता है; इसमें 'प्रत्यक्ष' का स्वल्प अंश हो सकता है, जो स्वप्न-विज्ञान से सिद्ध है। प्रत्यक्ष को हम 'सत्य' अथवा 'यथार्थ' का स्रोत मानते हैं; इसमें कल्पना का अल्पतम अंश होना चाहिये। व्यवहार के लिये सत्य और स्वप्न का भेद उपयोगी ही नहीं, आवश्यक है। रस की अनुभूति व्यावहारिक नहीं होती। अतएव रसास्वादन में दोनों का अन्तर अनावश्यक है। फलतः स्वप्न और सत्य दोनों का संगत संघटन रस में होता है। इतना ही नहीं; रसिक की अन्तस्थ चेतना, बुद्धि का सम्पूर्ण बोध, मन के सुकुमार भाव, कल्पना की सृजन-शक्ति और इन्द्रियों के

वस्तु से संस्पर्श जनित साक्षात् अनुभूति, ये सभी रसास्वादन के क्षण मे प्रत्यक्ष और गोचर हो उठते हैं। ताजमहल, नटराज अथवा बुद्ध के करुणामय चित्रों में इनका साक्षात्कार होता है, और स्वप्न तथा सत्य की भेदक भित्ति गल जाती है।

स्थापत्य में 'दिक्' का स्वरूप स्पष्ट होता है। ताजमहल की ऊँचाई, विस्तार आदि को नापा गया है; किन्तु इसकी 'अनुभूति' भौतिक न होने के कारण अमेय है। यह भ्रान्ति, अनुमान अथवा स्वप्न भी नहीं है। इसमे विन्यास और विस्तार, उच्छ्राय और वृत्तों की वर्त्तुलता, योजना का सौकुमार्य और पूर्णता, संगमरमर का दुग्ध-धवल वर्ण और इसकी चतुरस्रता, भारों का साम्य और सन्तुलन, अंगों का अंगी में स्वरों का राग की भाँति मिलन, संक्षेप में, 'रूप' की पूर्ण और प्रखर अभिव्यंजना जो ताजमहल मे मिलती है वह 'प्रत्यक्ष' है; स्वप्न, माया या भ्रम नहीं है। माना कि इस प्रत्यक्ष मे रसिक का सम्पूर्ण 'स्व' उसकी चेतना का अखिल आलोक, बुद्धि का परम प्रसाद, कल्पना की सृजन-शक्ति तथा मन और चित्त के आर्द्र भाव, सभी सम्मिलित हैं, किन्तु ये हैं सब गोचर, आँखों के सम्मुख दिशा में स्थित।

मनोविज्ञान और विज्ञान दोनों सहमत हैं कि दिक्-बोध केवल आँख अथवा कान से उत्पन्न नहीं हो सकता। आँखों से हम रंगों अथवा प्रकाश-छाया की संवेदनाओं (Sensations) को पाते है। स्मृति, कल्पना और विमर्श के सहारे हम इनका विन्यास करते हैं। किन्तु इस विन्यास में दूर और समीप, ऊँचा-नीचा, ह्रस्व-लघु, गोल-आयत आदि का बोध नेत्रेन्द्रियों को चलाने वाली नाड़ी और पेशी, अस्थि और इनके जोड़, तनाव और स्पर्श, संक्षेप में, शरीर के जीवित संस्थान द्वारा प्राप्त होता है। शरीर का प्रयत्न, इसकी आभ्यन्तरिक और बाह्य गति, स्थूल और सूक्ष्म चेष्टायें दिक् का बोध उत्पन्न करती हैं। विकास-क्रम में केवल आँखों अथवा कानों से भी इसका ग्रहण सम्भव होता है। इतना ही नहीं, रसानुभूति के क्षण में दिक् का विन्यास सुन्दर होता है अर्थात् वह रूप के अनेक विधानों का पालन करता है। अतएव बुद्धि मन स्मृति कल्पना शक्ति के प्रयत्न भी

इसके ग्रहण में सन्निविष्ट रहते हैं। इस प्रकार दिक्-बोध में इन्द्रियो से लेकर मन के सूक्ष्म व्यापारों तक सम्मिलित होते हैं। फलतः हमें मानना होगा कि रसानुभूति में दिक् अथवा स्थान रसिक की चेतना का स्वरूप होता है। उसकी चेतना ही स्थान की स्थिति, दिक् का विस्तार और रूप का विन्यास ग्रहण करती है।

(६)

रसानुभूति को साक्षात तथ्य व घटना मानकर इसकी कारण-सामग्री की खोज करना स्वाभाविक है। अगले अध्यायों में इसका विवेचन है। यहाँ हमें उस दृष्टिकोण को स्थिर करना है जिसके अनुसार रसानुभूति के कारण की गवेषणा करना उचित होगा।

'कारण' की एक यान्त्रिक (Mechanical) संकल्पना है जिसके अनुसार 'कारण' पूर्वकालिक घटना का नाम है और 'कार्य' उत्तरकालिक घटना को कहते हैं। कारण और कार्य में 'पूर्व' और 'पर' का 'क्रम' रहता है। हम रगमंच पर नृत्य देखते हैं---यह पूर्वकालिक घटना है, और हमें रस का अनुभव होता है---यह उत्तरकालिक घटना कार्य माना जा सकता है। किन्तु 'नृत्य का देखना' और 'रस का अनुभव' इन दोनों में पूर्व-पर का सम्बन्ध होते हुए भी इस 'क्रम' का कोई महत्व प्रतीत नहीं होता। नृत्य का अधिष्ठान, दूसरे शब्दो में, नृत्य के कलात्मक सौन्दर्य का अधिष्ठान, नर्त्तक है, और रसानुभूति का आश्रय प्रेक्षक है। दोनों अधिष्ठानों में 'क्रम' होते हुए भी नगण्य है, और न इस 'क्रम' के द्वारा हम इनके कारण-कार्य सम्बन्ध की आलोचना कर सकते हैं। रसिक स्वयं चेतनसत्ताधारी व्यक्ति है। वह 'रस' का ग्रहीता मात्र नहीं है वरन् इसका सक्रिय अधिष्ठान और अंशतः स्वयं कर्त्ता भी है। हमने ऊपर देखा है कि रसास्वादन में प्रेक्षक की चेतना अनेक उपाधियों से मुक्त और निरवच्छिन्न होकर काल और दिक् का रूप धारण करती है। इस प्रकार रसास्वादन में प्रेक्षक की चेतना ही रस-चेतना में परिणत होती है। इस परिणति का कारण केवल 'क्रम' के द्वारा स्पष्ट नहीं समझा जा सकता।

विज्ञान के अनुसार कारण और कार्य में घटना-क्रम 'नियत' होना चाहिये, और कारण में कार्य को उत्पन्न करने के लिये आवश्यक योग्यता और शक्ति होनी चाहिये। आधुनिक विज्ञान के अनुसार कारण किसी एक 'परिस्थिति' का नाम नहीं है, वरन् अनेक परिस्थितियों के व्यूह या संस्थान में 'कारणता' रहती है। व्यूह पूरा न होने पर अथवा बाधक परिस्थितियों के कारण, यह सम्भव है कि 'कारण' से 'कार्य' नियत रूप से उत्पन्न न हो। अतएव सम्पूर्ण व्यूह को ही कारण मानकर हम घटना-क्रम को नियत और अव्यभिचरित मान सकते हैं, अन्यथा नहीं। इस वैज्ञानिक संकल्पना के अनुसार 'नृत्य' मात्र को हम 'रस' का कारण नहीं मान सकते। 'नृत्य' के साथ अन्य परिस्थितियाँ भी सम्मिलित रहती हैं और इनमें रसिक की मनोदशा, उसकी रस-ग्रहण की क्षमता, रुचि और बोध, उसके संस्कार और स्वभाव आदि का रसास्वादन की घटना के लिये बहुत महत्त्व है। परिस्थितियों के अपूर्ण संस्थान में 'कार्य' को उत्पन्न करने की योग्यता नहीं रहती। फलतः नृत्य के देखने से रसास्वादन होता है और नहीं भी होता।

'नृत्य के देखने' और 'रस के अनुभव' में क्रम नियत रहे अथवा अनियत, यह निश्चय है कि केवल नृत्य में अथवा नृत्य के देखने में सम्पूर्ण कारणता नहीं रहती, क्योंकि 'देखना' और 'रसानुभूति' दोनों का अधिष्ठान रसिक की चेतन आत्मा ही है। अतएव हम 'कारण' से इस चेतन तत्त्व को पृथक् नहीं कर सकते। फलतः कारण-कार्य का वैज्ञानिक विचार रस के क्षेत्र में नहीं ठहरता। इसी से अनेक विवेचक यहाँ 'उत्पत्ति' शब्द का प्रयोग ही अनुचित समझते हैं। उनके अनुसार रस की 'उत्पत्ति' नहीं होती, वरन् रस की अभिव्यक्ति अथवा अर्थ-स्फोट की भाँति रस-स्फोट होता है।

इस मत की समीक्षा आगे होगी। यहाँ इतना स्पष्ट है कि कारण-कार्य का साधारण सिद्धान्त (विज्ञान द्वारा सम्मानित उत्पादन-उत्पाद्य भाव) रस-विवेचन के क्षेत्र में लागू नहीं होता। अन्य मत के अनुसार रस

को हमारी साधारण चेतना की पुष्टि या उत्तेजन (Intensification) माना गया है। भावना का प्रवाह हमारी चेतना का प्राणवान् अंश है। सौन्दर्य इस भावनात्मक तत्त्व को पुष्ट व उत्तेजित कर देता है जिसे हम रस की अनुभूति कहते है। सौन्दर्य पोषक अथवा उत्तेजक कारण है। किन्तु वस्तुत: सौन्दर्य-बोध उत्तेजना को शमन करता है और शरीर की प्रतिक्रियाओं को 'व्यापार' मे परिणत होने मे रोकता है। अतएव सौन्दर्य को उत्तेजक (Stimulus) और रस को प्रतिक्रिया (Response) मानना उचित नहीं प्रतीत होता। इस आरोप से बचने के लिये अनेक मान्यताएँ प्रचलित हुईं: जैसे, सौन्दर्य-बोध को केवल स्वयं-स्वीकृत मनोभ्रान्ति मानना; कल्पना, स्वप्न, माया आदि को ही रस का अनुभव स्वीकार करना। अन्य विवेचक 'रस' को बोध-रूप ही मानते हैं। कला के क्षेत्र मे इन्होंने 'रसानुमिति' की कल्पना की है। इन सब मतवादों में एक दोष तो यह है कि मन या बुद्धि की एक किसी दशा या क्रिया को 'रस' मान लेना व्यर्थ ही इसके स्वरूप का संकोच करना है। दूसरे, रस मे सरसता का भाव इन व्यापारों से कैसे उत्पन्न होता है, यह स्पष्ट नहीं है। इन्हे हम मनोविज्ञान के अन्तर्गत बौद्धिक मतवाद कह सकते है। ये मनोविज्ञान की ओर से रस-विवेचन प्रारम्भ करते हैं, और रस की अनुभूति में 'बोध' तत्त्व को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं। इसमे हम ग्राह्य अंश इतना ही है कि रस में 'बोध' तत्त्व रहता अवश्य है किन्तु इसे केवल कल्पना, स्मृति, भ्रम, स्वप्न, विमर्श अथवा अनुमिति मान लेना अनुचित है।

मनोविज्ञान ने दूसरो ओर से भी रस के मर्म को समझने का प्रयत्न किया है। 'बोध' तत्त्व को हटा कर, केवल भावों के उद्रेक को 'रस' माना गया है: स्थायी भावो रस: स्मृतः। साधारण काम, क्रोध, भय आदि की भावना से शृंगार, रौद्र, भयानक रस को पृथक् करने के लिये विभाव, संचारी भाव, सात्त्विक भाव आदि की कल्पना की गई है। इस कल्पना में तथ्य है और रस की सरसता का मूल भावनाओं की आर्द्रता

में ही मिल सकता है। किन्तु केवल भावोद्रेक को रस मानना, 'बोध' की भाँति ही, संकुचित दृष्टिकोण है। रस के सम्पूर्ण अनुभव में बुद्धि का 'आलोक' और भावों का 'उद्रेक' दोनों तत्त्व रहते हैं। एक के बिना रस 'अन्धा' है, निरालोक और अर्थहीन बवंडर, और दूसरे के बिना निश्चेष्ट, निर्जीव मन का स्पन्दन।

अध्यात्मवादी दार्शनिकों के दल 'रस' की विवेचना में 'चित्त' अथवा 'चिति' की दशाओं को स्थान देते हैं। गम्भीर होने के कारण, रस के अनुभव में 'आत्मा' तक पहुँचना अनुचित नहीं प्रतीत होता। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि रस शुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति नहीं है, क्योंकि उसमें इन्द्रिय-संस्पर्शज, शरीरज तथा मन और बुद्धि से उत्पन्न तत्त्व भी रहते हैं। इसमें 'सौन्दर्य का साक्षात्कार' होता है। अतएव केवल आध्यात्मिक दृष्टिकोण से रस-विवेचन सर्वतः ग्राह्य नहीं हो सकता। वस्तुतः रस के लिये कला का ही दृष्टिकोण सम्मान्य होना चाहिये।

प्रस्तुत रस-मीमांसा में कला का दृष्टिकोण ही सम्मानित रूप से ग्रहण किया गया है। रसानुभूति रसिक के लिये एक तथ्य है, घटना है जो काल, दिक् और कारण की विशेष परिस्थितियों में घटित होती है। अपनी सत्ता के एकांश से रसिक रस को ग्रहण नहीं करता; प्रत्युत सर्वांश से (सर्वात्मना) उसे आत्मसात् करता है। इसी का दूसरा नाम 'तन्मयता' (Self-merger) है जो 'रस' का गर्भ-भाग है। इस तन्मयता में शरीर, मन, प्राण, बुद्धि, चित्त और आत्मा से अनेकों स्रोत आकर मिलते हैं, और अपना-अपना सारभूत निष्यन्द इसमें उड़ेलते हैं। इससे 'रस' का विपुल और गम्भीर अनुभव उदित होता है। 'रस' उस जाह्नवी का जल है जो आत्मा की गुहा से निसृत होता है, किन्तु मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, भाव, कल्पना, विमर्श, स्मृति आदि शिखरों से अनेक सुन्दर और सुस्वादु निष्यन्द लेता हुआ इन्द्रिय-द्वारों तक पहुँच कर 'साक्षात्' और 'प्रत्यक्ष' हो उठता है। इसी रस-जाह्नवी का अवगाहन प्रस्तुत पुस्तक का गन्तव्य लक्ष्य है।

२

रस और रसास्वादन (१)

पिछले अध्याय का निष्कर्ष है; चेतना की विशिष्ट परिणति का नाम 'रस' है। रस रसानुभूति से पृथक नहीं किया जा सकता। रस का स्वरूप ही 'अनुभूति' है; 'रसास्वादन' चेतना का व्यापार है। अतएव रस की मीमांसा रसिक के दृष्टिकोण से उचित और विश्वसनीय हो सकती है।

हमें पूछना है कि चेतना की रस-परिणति का क्या स्वरूप है? यह कैसे सम्भव होती है? 'सुन्दर' वस्तु का बोध (सौन्दर्य-बोध) रसास्वादन के लिये अपरिहार्य है; जैसे, रंगमंच पर नृत्य के देखने या राग के सुनने से अथवा भावमयी मूर्त्ति, भव्य भवन के अवलोकन या नाटक, काव्य आदि के अध्ययन से 'रस' का आविर्भाव। यह सौन्दर्य-बोध कैसे रस का संचार करता है? रस की अनुभूति प्रत्यक्ष अथवा साक्षात् 'अनुभूति' है, किन्तु इसमें स्मृति, कल्पना, विमर्श, भावना, इन्द्रिय-बोध, शरीर, स्नायु-मंडल, हृदय, आदि से प्राप्त अनेक तत्त्व रहते हैं। 'वर्त्तमान' और 'विशिष्ट' होते हुए भी, इस अनुभूति में 'अतीत' और 'अनागत' की सम्पूर्ण निधि ओत-प्रोत रहती है। 'रस' मानव की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है; चेतना के अखिल उन्मीलन (Complete and total reaction) और रसिक की आत्मा के अखंड आलोक, से वह पूर्ण होता है। यह किस प्रकार सम्पन्न होता है? संक्षेप में, हमारा प्रश्न है रस की क्या मीमांसा है?

मानना होगा कि यह प्रश्न पुराना है। 'पूर्व' और 'पश्चिम' में युगों की विचार-धारा इस प्रश्न को लेकर बहती रही है। किसी भी उत्तर तक

पहुँचने के लिये हमें इस 'धारा' में प्रवेश करना पड़ेगा, और अवगाहन तथा आलोडन भी। प्रस्तुत अध्याय का उद्देश्य भारतीय रस-मीमांसा के पुरातन प्रवाह में ईषत् स्नान-पान करने का प्रयत्न है।

इतिहास साक्षी है कि इस देश की मौलिक सौंदर्य-चेतना वेद-काल से भी प्राचीन है। इस चेतना में अनेक स्रोत पूर्व (जैसे, चीन आदि) से, दक्षिण (द्रविड़ जातियों) से तथा यहाँ के अन्य आदिम निवासियों से आकर मिल गये हैं। इन तत्वों का पता लगाना इतिहास का रोचक विषय हो सकता है। वैदिक ऋषियों ने मूल सौंदर्य-चेतना को समृद्ध बनाया। सूक्तों में स्थान-स्थान पर कला और वाणी के स्वरूप पर विशद विचार मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि आर्ष-दृष्टि रस और सौदर्य के मर्म तक पहुँच चुकी थी। किंतु इनका निष्कर्ष आध्यात्मिक था : रसो वै स :। मूल और आदिम सौदर्य-चेतना का पुराना विवेचन कलात्मक था, और इसका आधार नृत्य, नाट्य, संगीत, चित्र, मूर्त्ति आदि कलायें थी। वेदों के आर्ष-निष्कर्ष और आदिम कलात्मक विवेचन का संगम और सामञ्जस्य आवश्यक था। यह संगम आचार्य भरत में सम्पन्न हुआ। इनके नाट्य-शास्त्र में युगों के विकास की कहानी सिमटी हुई है, और स्वयं यह आगामी विकास की दृढ़ आधार-शिला है। अतएव सच्चे अर्थ में भरत को भारतीय रस-मीमांसा का जनक स्वीकार किया जा सकता है।

भरत में रस-मीमांसा के आध्यात्मिक और कलात्मक दृष्टिकोण मनोविज्ञान के धरातल पर मिलते हैं। आचार्य का प्रसिद्ध रस-सूत्र इस मीमांसा का मूलाधार है। इसे हम इतिहास की विचित्र गति ही कहेंगे कि भरत से सौंदर्य-तत्व को समझने के लिये निकली विचार की अनेक धारायें अपने चरमांत पर पहुँच कर वहीं विलीनप्राय हो गईं, परन्तु आचार्य के रस-सूत्र का अनन्त अन्तराल अभी तक अवगाहा न गया। इस सूत्र में अनेक पार्श्व और पर्ते हैं। जैसे (१) सौंदर्य-तत्व का मानसिक आधार मनुष्य की मूल-प्रवृत्तियाँ हैं। (२) इनके उद्रेक से 'आनन्द' प्राप्त होता है। (३) परन्तु यह 'आनन्द' जीवन की अन्य परिस्थितियों में अनुभूत आनन्द से सर्वथा

भिन्न होता है, यद्यपि दोनों की निर्गम-भूमि समान ही है। (४) कला की परिस्थितियों को 'विभाव' कहते हैं जो व्यवहार और ज्ञान की दृष्टि से अनुपयोगी होते हुए भी अपना मूल्य और महत्त्व रखते हैं। (५) विभाव कला की अलौकिक और विशिष्ट सृष्टियाँ हैं। विभावों में आलम्बन और उद्दीपन दोनों प्रकार के कारण होते हैं जिनके द्वारा भावों के उद्रेक से 'रस' का अनुभव होता है। (६) स्थायी भावों का उद्रेक ही रस का सर्वस्व नही है, यह विभावों द्वारा ही निष्पन्न होना चाहिये, क्योंकि भावों का उद्रेक अन्य प्रकार से भी सम्भव है। (७) स्थायी भावों का मूलाश्रय रसिक का रस-वासना से वासित आत्मा या चित्त है। वही रस का ग्रहीता है। 'रस' वही से उठता है और अन्त में वहीं 'लय' हो जाता है। (८) रसिक विभावों के प्रभाव को अपनी सहज रस-वासना से आत्मसात् करता है। उस क्षण वह साधारण विधि-निषेध, मर्यादा और संगति के लोक से उठकर अपनी ही प्रतीति और रस-वासना के बल पर टिके हुए कला के द्वारा सृजित विभावों के लोक में रहता है। (९) केवल भावोद्रेक ही इस समय नहीं होता, शरीर और मन में अनुरणन व स्पन्दन भी प्रारम्भ हो जाता है। पाश्चात्य-मनोविज्ञान और जीव-विज्ञान भावोद्रेक में होने वाले शरीर के सक्रिय प्रतिध्वनन (Organic Resonance) को जेम्स-लांगा सिद्धान्त के रूप में अभी समझ पाये हैं। परन्तु भरत ने अनुभाव और सात्त्विक (मानसिक) भावों को रसानुभूति के पोषण के लिये युगों पूर्व ग्रहण किया था। (१०) रसोद्रेक की अवस्था में केवल स्थायी भाव ही नही जगते, अपितु, स्मृति, कल्पना, आशा, विचार, संकल्प तथा अन्य सुप्त और अभूत-पूर्व अनुभूतियाँ भी साथ में सजग हो उठती हैं जिससे 'रस' स्फीत और समृद्ध होता है। ये 'व्यभिचारी' भाव हैं। वरनोन ली नामक यूरोपीय दार्शनिक ने इसे आध्यात्मिक या आन्तरिक (Drama of the Soul molecules) नाटक कह कर रसोद्रेक में होने वाले आभ्यन्तरिक स्पन्दन को स्वीकार किया है। (११) हमारे दुर्भाग्य से भरत से प्राप्त एक संकेत की ओर हमारा ध्यान ही न गया। वह यह कि 'रस' का मूल-स्वरूप

'शम' है। सारे रस इसी मे उदय होकर इसी में विलीन हो जाते है। साधारणतया हमने भरत को आठ या नौ रसों का प्रतिपादक ही माना; उनकी मौलिक एकता को न समझ कर पिष्ट-पेषण चलता रहा। जहाँ कहीं रस की एकता का प्रतिपादन भी हुआ वह अन्य रसों को कभी करुण (भवभूति), कभी शृङ्गार (भोजराज) में, और कभी तो अद्भुत मे, समाविष्ट करने के प्रयत्न-स्वरूप हुआ। परन्तु यह न हुआ कि हम 'शम' के स्वरूप को विशद करके भारतीय कला के चिर-कालीन विकास के मूल-स्रोत और मूल-शक्ति को पा सकें, और भावी विकास के प्रयत्नों का पथ-प्रदर्शन कर सकें।

भरत के रस-सूत्र मे मीमांसा की कई धारायें फूट निकलीं, जैसे, आध्यात्मिक, दार्शनिक, साहित्यिक और कलात्मक मीमांसायें। इनका निर्वचन आगे होगा। इन मीमांसाओं ने सूत्र की व्याख्या हुई, और प्रत्येक ने अपना पृथक् दृष्टिकोण उपस्थित किया। किन्तु मनोविज्ञान के अद्युनातन विकास ने तथा साहित्य और कला की नूतन प्रवृत्तियों ने इस क्षेत्र मे विचार के अभिनवीकरण के लिये हमें बाध्य किया है। अतएव सूत्र की केवल पुनर्व्याख्या नूतन परिस्थिति मे पर्याप्त न होगी। सूत्र की स्वाभाविक सीमाएँ निम्नलिखित हैं जिनके समाप्त हो जाने से ही भारतीय रस-मीमांसा का भावी विकास सम्भव है। (१) मानव-प्रकृति का स्थायी प्रवृत्तियों में विभाजन अनुचित और अमान्य है। (२) स्थायी प्रवृत्तियो के उद्रेक को 'रस' मान लेने पर इसमे केवल भावनात्मक तत्त्व (Emotional element) को प्रधानता मिलती है। कला की पूर्ण और पुष्ट अनुभूति मे अन्य तत्त्व भी रहते हैं। (३) एक स्थायी भाव दूसरे से बिल्कुल पृथक् नहीं किया जा सकता। फलतः रसों का वर्गीकरण निराधार हो जाता है। (४) स्थायी भावों के मूल में जीवन और चेतना की एकता रहती है। रस का उदय इसी से होता है, किन्तु जीवन, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शरीर आदि से, अनेक स्रोत आकर इसमें मिलते हैं जिससे रस स्फीत और स्फुट होता है। भरत में इस अनुभूति की एकात्मता का स्पष्टीकरण नहीं होता। (५) प्राचीन (भरत की) रस-मीमांसा से सौंदर्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं

होता। सौन्दर्य से रस का संचार होता है, यद्यपि सौन्दर्य का अधिष्ठान सुन्दर 'वस्तु' और रस का आश्रय प्रेक्षक की रस-चेतना है। "विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है" (विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः) इस कथन से विभावादि को ही 'सौन्दर्य' मानना चाहिये। किन्तु वस्तुतः सन्तुलन, लय, संगति, सारसाम्य आदि सौन्दर्य के आवश्यक गुण हैं। 'रूप' सौन्दर्य का केन्द्रीय तत्त्व है। इस सूत्र से रूप के स्वरूप और रूप-विधानों की व्याख्या सम्भव नहीं है। 'निष्पत्ति' का मानसिक रूप भी स्पष्ट नहीं होता। (६) परम्परागत व्याख्या के अनुसार रामायण के नाट्य में रंगमंच पर स्थित 'सीता' और 'राम' आलम्ब विभाव और वन, वसन्त, कोकिल आदि उद्दीपन विभाव हैं। अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन्हीं के आंगिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य आदि भाव हैं। इनका संयोग रस का निष्पादक होता है। इस संयोग का क्या स्वरूप है तथा इससे किस प्रकार प्रेक्षक में रसोन्मेष होता है? यह भरत से स्पष्ट नहीं होता। संक्षेप में, भारतीय रस-मीमांसा की सीमाएँ युगनिर्मित हैं। इसके उत्तरकालीन विकास में इनको 'पार' करने के अनेक सराहनीय प्रयत्न हुए हैं, किन्तु अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण इनमें सम्प्रदायिक संकोच मिलता है। वे प्रयत्न निम्नलिखित हैं।

(२)

अध्यात्मवादियों ने 'रस' को आत्मा या चेतना के स्वरूप में ग्रहण किया है। 'रस' आत्मा की वह स्थिति है जब वह व्यवहार के बन्धनों से मुक्त होकर अपने सनातन, निरवच्छिन्न, अखंड, आलोकमय स्वरूप को प्राप्त होती है। यही आत्मा का आनन्दमय रूप है जो हमारे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोशों से आच्छन्न और व्यवहार की आवश्यकताओं से विच्छिन्न व परिमित रहता है। कला का सौन्दर्य आत्मा के स्वरूप का उन्मीलन करता है। व्यवहार तथा अन्य वासनायें 'चिद्' आत्मा के ऊपर 'आवरण' डालकर उसे परमार्थ और आनन्द से वंचित रखती हैं। अतएव 'चिदावरणभंग' ही रस का सार है।

अध्यात्मवादी मतों में सार का इतना अंश है कि रसानुभूति का सम्बन्ध आत्मा या रसिक की रस-चेतना से है, और इसकी वह 'स्थिति' अवश्य ही अलौकिक है। व्यवहार व जीवन की अन्य वासनायें चेतना को जड़, जटिलीकृत, आवरणों से परिच्छिन्न करके उसे विशुद्ध आध्यात्मिक सुख मे वंचित करती हैं। रसास्वादन में व्यवहार की आवश्यकताओ से मुक्त होने के कारण आत्मा निस्सीम हो उठती है, और इस अनुभूति का परम सुख 'रस' में विनिविष्ट रहता है। वस्तुतः यह सुख रस की सम्पूर्ण अनुभूति में आवश्यक आध्यात्मिक तत्त्व है। किन्तु कला के क्षेत्र में अध्यात्म-वाद की सीमाएँ भी स्पष्ट हैं। (१) 'रस' विशुद्ध आध्यात्मिक अनुभूति नहीं हो सकता, जैसे, समाधि या धार्मिक अनुभूति। रस में इन्द्रियों के द्वारा सौन्दर्य का साक्षात्कार, प्राणों के द्वारा लय का ग्रहण, इसी प्रकार मन, बुद्धि आदि की अपनी-अपनी वृत्तियाँ रहती हैं। वृत्तियों के निरोध से समाधि के 'शून्य में मन यहाँ नहीं जाता, वरन् सम्पूर्ण वृत्तियों की लयात्मक गति से सौन्दर्य का अवगाहन करता है। (२) अध्यात्मवाद न केवल रस के सम्पूर्ण तत्त्वों को पहचानता है, अपितु वह रसास्वादन की क्रिया को विशद करने में असमर्थ है। 'रूप' और उसके विधानों तथा संगति आदि गुणों का निर्वचन, सौन्दर्य-बोध की क्रिया व सौन्दर्य-चेतना के सभी लक्षणों की मीमांसा अध्यात्मवाद नहीं करता। (३) अध्यात्मवाद रस-मीमांसा के लिये संकुचित दृष्टिकोण प्रदान करता है, क्योंकि कला का सुख अलौकिक होते हुए भी असाधारण नहीं है। राग का माधुर्य, चित्र का सौकुमार्य, भवन की भव्यता आदि को ग्रहण करने की सहज क्षमता किसी अभागे को छोड़ कर सभी में है। इसके लिये विशेष साधन अनिवार्य नहीं है। सौन्दर्य-ग्रहण साधारण मानव-स्वभाव है। (४) अध्यात्मवाद व्यर्थ ही रस-मीमासा में 'रहस्य' ले आता है।

(३)

'कारण-कार्य' सम्बन्ध को आधार मान कर दर्शन ने रस-मीमासा को कई दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। हम रंगमंच पर शकुन्तला-दुष्यन्त का

अभिनय देखते हैं। इससे प्रेक्षक के मानस में जो विशिष्ट अनुभूति उदित होती है वह रसानुभूति है। 'रसानुभूति' कार्य है, 'अभिनय का देखना' कारण है। इनके सम्बन्ध में क्या विशिष्टता है? कारण से कार्य किस प्रकार निष्पन्न होता है? इन प्रश्नों को लेकर कई मतवाद उठ खड़े हुए हैं। कारण-कार्य की दार्शनिक आलोचना यहाँ उचित न होगी। किन्तु हमें इसका विषय के लिये उपयोगी अंश ज्ञात होना चाहिये।

'कारण कार्य' सम्बन्ध को विशद करने के लिये हमारे यहाँ दो मत हैं, सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद। 'सत्कार्यवाद' कार्य का 'सत्' मानता है अर्थात् कार्य कारण में रहता है (सत्), और कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के वश कारण में इसका आविर्भाव हो जाता है, जैसे, दूध में नवनीत रहता है। ऐसा नहीं है कि नवनीत (कार्य) दूध (कारण) में न हो। कारण और कार्य दोनों एक ही प्रक्रिया के दो रूप हैं। 'कारण' में परिणमन अथवा विकृति के आविर्भाव होने से 'कार्य' स्वरूप ग्रहण करता है। सत्कार्यवाद की दो शाखायें हैं; परिणामवाद और विवर्त्तवाद। परिणामवाद के अनुसार कारण का परिणाम अथवा परिवर्तन वास्तविक होता है, जैसे, दूध का दही में अथवा दही का मक्खन में परिवर्त्तन। परिणामवाद सांख्य दर्शन का मत है। इसके अनुसार प्रकृति मे निरन्तर 'परिणाम' अथवा परिणमन होता रहता है, और कारण-कार्य शृङ्खला के रूप में विकास का क्रम चलता है। विवर्त्तवाद वेदान्ती धारा है। इसके अनुसार 'कारण' मे वास्तविक परिवर्त्तन नहीं होता, जैसे, सोने से कंकण, कुंडल आदि आभूषणों के बनने से व्यवहार सम्पन्न होता है: कंकण हाथों में और कुंडल कानों में पहिने जाते हैं। किन्तु व्यवहार की दृष्टि से कार्यों में भेद रहने पर भी तात्त्विक दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है, और 'सुवर्ण' (कारण) ने कंकण-कुंडल आदि व्यावहारिक भेद होते हुए भी कोई तत्वतः विकार उत्पन्न नहीं होता। अतएव 'कार्य' कारण का 'परिणाम' नहीं है, वरन् इसका विवर्त्त मात्र है।

सत्कार्यवाद का रस-मीमांसा के लिये क्या उपयोग है? हमारे सम्मुख

दो प्रश्न हैं। क. नटों द्वारा रंगमंच पर सीताराम अथवा दुष्यन्त-शकुन्तला का अभिनय, अथवा शिला-खंड में बुद्ध, विष्णु आदि का आविर्भाव, अथवा रंग आदि विन्यास में चित्र का उन्मीलन इत्यादि। ख. अभिनय, मूर्त्ति, चित्र आदि के देखने से प्रेक्षक में रस का संचार। विवेचन के लिये दोनों का अलग रखना आवश्यक है। पहला प्रश्न 'सृजन' से सम्बन्धित है। कला की सृष्टि अर्थात् अभिनय, मूर्त्ति, चित्र आदि में कारण-कार्य सम्बन्ध का क्या स्वरूप होता है? इस प्रश्न का उत्तर पुस्तक की सीमा से बाहर है। रसानुभूति को 'कार्य' मानकर इसके 'कारण' की खोज करना हमारा प्रकृत विषय है। सत्कार्यवादी सिद्धान्त के अनुसार 'चेतना' ही 'कारण' है जिसमें 'रस-चेतना' का आविर्भाव होता है। चेतना की विशेष स्फूर्ति ही रस-चेतना (कार्य) के रूप में प्राप्त होती है अथवा चेतना ही रस का अधिष्ठान या उपादान कारण है। फलतः चेतना (कारण) के सम्पूर्ण लक्षण रसानुभूति (कार्य) में व्याप्त रहते हैं। बिना सत्कार्यवाद को स्वीकार किये हम रस की सम्पूर्ण मीमांसा नहीं कर सकते।

चेतना की रस-परिणति सच्ची है अथवा केवल विवर्त्त? इस प्रश्न का उत्तर हम कला में 'अलीकवाद' पर विचार करते हुए देंगे। सांख्य दर्शन की विचार-प्रणाली के अनुसार यह 'परिणति' वास्तविक होती है, किन्तु वेदान्त के अनुसार यह मायिक व क्षणिक होती है, ठीक उसी प्रकार जैसे रज्जु में सर्प-भ्रान्ति अथवा शुक्ति में रजत-प्रतीति। यद्यपि सत्कार्यवाद हमें रसानुभूति के अधिष्ठान को प्रस्तुत करता है, तथापि वह इस प्रश्न का उत्तर नहीं देता कि इस अधिष्ठान (चेतना) में वस्तु के सौन्दर्य का क्या प्रभाव रहता है और किस प्रकार वह प्रभाव ग्रहण किया जाता है? सौन्दर्य का गोचर आधार वह वस्तु है जिसे हम 'सुन्दर' कहते हैं। सौन्दर्य की आत्मा अवश्य ही वह 'प्रभाव' है जिसका अधिष्ठान 'वस्तु' है। यह प्रभाव रसानुभूति के 'कारण' में अवश्य ही अनुप्रविष्ट है। इस प्रभाव-ग्रहण अथवा सौन्दर्य-बोध की प्रक्रिया में 'रस' का रहस्य निहित है। सौन्दर्य रूप-विन्यास तथा विन्यास के समष्टि सन्तुलन आदि गुणों से बोध-गम्य होता है सौन्दर्य

किस प्रकार रस-संचार करता है अथवा सौन्दर्य-बोध किस प्रकार रसान्मेष निष्पन्न करता है ? इस प्रश्न का उत्तर हम आगे देंगे। यहाँ हमें इतना ज्ञातव्य है कि सौन्दर्य (कारण) में रस (कार्य) उसी प्रकार विद्यमान (असत्) नहीं रहता जैसे दूध में नवनीत सत्कार्य वाद के अनुसार रहता है। अतएव सौन्दर्य से रस की उत्पत्ति मानने से वस्तुत: असत्कार्यवाद के सिद्धान्त पर स्वय पहुँच जाते है। सत्कार्यवाद के अनुसार 'रस' अपने कारण (चेतना) की परिणति है, अथवा 'अभिव्यक्ति' है तो असत्कार्यवाद के लिये 'रस' सौन्दर्य (कारण) के द्वारा निष्पन्न 'उत्पत्ति' अथवा 'प्रारम्भ' है। रस-मीमांसा के क्षेत्र में कारण-कार्य के दोनों विरोधी सिद्धान्त राग मे वादी और संवादी स्वरों की नाई संगत हो जाते हैं। 'रस' को चेतना की 'अभिव्यक्ति' और सौन्दर्य द्वारा 'उत्पत्ति' स्वीकार करना ही उचित है।

रसिक की चेतना क्षणिक है अथवा निरन्तर धारा के रूप में ? बौद्ध सम्प्रदाय इसे क्षणिक मानते हैं। काल भी क्षणिक है अर्थात् काल-सन्तान (Time-continuum) में 'पूर्व' क्षण नष्ट (शून्य) होकर विद्यमान 'क्षण' को जन्म देता है, और क्षण में स्वयं शून्य हो जाता हैं। शून्य (असत्) से सत् उत्पन्न होकर स्वयं असत् हो जाता है। यह बौद्धों का 'शून्यवाद' अथवा क्षणिकवाद है। क्षणिकवाद का रस-मीमांसा के लिये जो महत्त्व है वह हमने पश्चिमी कला के प्रभाववादी (Impressionism), अति-यथार्थवादी (Surrealism) तथा प्रयोगवादी (Experimentalism) सिद्धान्तों के द्वारा पहचाना है। ये आधुनिक 'वाद' चेतना के अस्थायी, क्षणिक, रूप-विधानों से मुक्त, सन्तुलन, लय, संगति आदि गुणों से रहित, रूप को ही स्वीकार करते हैं। इन वादों ने कला के युग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित किया है। क्या सौन्दर्य बिना 'रूप' (Form) के टिक सकता है ? क्या रसानुभूति बिना रूप-बोध (Sense of Form) के सम्भव है ? इन प्रश्नों के उत्तर का यहाँ अवसर नहीं। बौद्ध शून्यवाद अवश्य ही रस-मीमांसा के लिये एक विशिष्ट और विचित्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। शून्यवाद या क्षणिकवाद कारण-कार्य सिद्धान्त का ही एक रूप है।

(४)

दूसरे दार्शनिक चिन्तकों ने रस-विवेचन के लिये नये वाद प्रस्तुत किये हैं। कुन्तल का वक्रोक्तिवाद लीजिये। इसके अनुसार कला की सुन्दर सृष्टि 'वक्र' की 'उक्ति' है। वक्रता (Deviation) साधारण व सामान्य से दूर होकर असाधारण व असामान्य को प्रस्तुत करना है। चेतना को रस-चेतना मे परिणत करने के लिये इसकी आन्तरिक ज्वाला व ज्योति को प्रज्ज्वलित करना चाहिये। यह 'ऋजु' के द्वारा नहीं, 'वक्र' के द्वारा ही सम्भव है। कुन्तल ने वक्रता की विशद व्याख्या वक्रोक्तिजीवित में की है। किन्तु हमें इसका आधुनिक स्वरूप पहचानना चाहिये। 'वक्र' के द्वारा चेतना की विस्फूर्ति (Intensification) रसानुभूति के लिये अनिवार्य है। अमेरिका के प्रसिद्ध चिन्तक ड्यूई ने कलानुभूति (Art-experience) को चेतना की विस्फूर्ति के रूप में स्वीकार किया है। पिछले भाग में जिन नये वादों का नामोल्लेख हुआ है, उनमें साधारण से असाधारण की ओर जो मोड़ दीखता है वह वक्रता (Deviationism) ही है, यद्यपि इनमें वक्रता की व्याख्या विचित्र ही की गई है। रस-चेतना के लिये कलात्मक वक्रता का क्या अर्थ है और इसकी क्या सीमा है? यह प्रश्न आज भी बहुत महत्त्व रखता है।

कलानुभूति में बौद्धिक प्रक्रियाओं को स्थान देने वाला श्रीशंकुक का अनुमितिवाद है। अनुमिति की तर्कशास्त्र द्वारा स्वीकृत प्रक्रिया में हम कुछ आधार वाक्यों (Premises) से चलकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, जैसे, हम धूम पर्वत पर देखते हैं तथा धूम और अग्नि का साहचर्य (व्याप्ति सम्बन्ध—जहाँ धूम रहता है, वहाँ अग्नि रहती है) ज्ञान हमें है, तब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पर्वत पर अग्नि अवश्य है। काव्य, नाट्य और कला के क्षेत्र में रस का उन्मेष, श्रीशंकुक* के अनुसार, अनुमिति के द्वारा

---

* काव्यानुसन्धानबलात् शिक्षाभ्यासनिर्वर्त्तितस्वकार्य प्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्य सहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानै

निष्पन्न होता है। रंगमंच पर नट अपने नैपुण्य से आंगिक, वाचिक तथा आहार्य अभिनय द्वारा राम-सीता विषयक रति को प्रस्तुत करता है; वह विभाव, अनुभाव आदि की ऐसी प्रस्तावना करता है कि रस-वासना से वासित सामाजिक नट में ही राम-सीता की 'रति' का अनुमान कर लेता है। काव्य प्रकाश में की गई इस मत की व्याख्या को देखिये और रेखांकित पदों पर ध्यान दीजिये। नट में जो 'राम' प्रतीत होते है अथवा चित्र तथा मूर्त्ति में जो 'राम' उन्मीलित किये जाते हैं, वे व्यवहार की दृष्टि से अवश्य ही 'कृत्रिम' हैं, किन्तु रसास्वादन के अवसर पर हम ऐसा नहीं समझते। नट में 'राम' की, चित्र में बुद्ध की अथवा शिला-मूर्ति में विष्णु की प्रतीति तत्तत् लक्षणों (विभावादि) द्वारा आनुमानिक होती है। किंतु वस्तु के सौंदर्य-बल से रसनीय होने के कारण यहाँ आनुमानिक प्रतीति भी तर्क के अनुमान से विलक्षण जान पड़ती है। अतएव नट आदि में संभाव्यमान रति का भाव वस्तुतः 'न होते हुए भी' रस-वासना अथवा स्वाभाविक रस-ग्राहिणी प्रवृत्ति के कारण 'रस' के रूप में सामाजिक (प्रेक्षक) द्वारा ग्रहण किया जाता है।

श्रीशंकुक का काव्यानुमितिवाद कई प्रश्न उठाता है। क्या रस की अनुभूति अनुमिति का फल हो सकती है? कृत्रिम कारणों से सहज कार्य की क्या सम्भावना है? काव्यानुमितिवाद मे सत्य का इतना अंश है कि रसोन्मेष के लिये बोध-क्रियायें (Cognitive processes) आवश्यक हैं, केवल स्थायी भाव का उद्रेक रस नहीं हो सकता। सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य-बोध के लिये 'अनुमान' (Inferential process) किया जाता है, किन्तु हम इन्द्रियों के प्रत्यक्ष सम्पर्क और इनके द्वारा सौन्दर्य के साक्षात्कार

विभावादिशब्द व्यपदेश्यैः 'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपात् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलात् रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन संभाव्यमानो रत्यादिर्भावः तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशंकुकः। —काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास

को रस के अनुभव से नहीं निकाल सकते। सच तो यह है कि सौन्दर्य की अनुभूति आत्मा, मन, बुद्धि आदि की अपेक्षा इन्द्रियों के अधिक समीप होती है। सन्तुलन (Balance) सौन्दर्य का विशेष लक्षण है। इसी प्रकार 'लय' भी। यह माना कि इन गुणों के ग्रहण करने में मन और बुद्धि सहायक होते हैं, किन्तु मनुष्य में तल्लीनता (Self-merger) की सहज प्रवृत्ति होने के कारण वह इनको शरीर, हृदय की गति, श्वास-क्रिया द्वारा पहले आत्मसात् करके तब बुद्धि आदि को समझने का अवसर देता है। 'लय' का आधार हृदय की सम और नियत गति है। सन्तुलन का प्रथम भान हमें गुरुत्वाकर्षण का शारीरिक अनुभव प्राप्त करके होता है। अतएव सौन्दर्य-बोध का मूलाधार वस्तु का प्रत्यक्ष साक्षात्कार है। अनुमिति में परोक्षता रहती है। अतएव इसके द्वारा रस का जीवन्त और ज्वलन्त अनुभव सम्भव नहीं।

कृत्रिम कारणों से सहज कार्य की सम्भावना को स्वीकार करके कला में 'अलीकवाद' का जन्म होता है। श्रीशंकुक 'चित्र-तुरग न्याय' को मान्यता देते हैं। कुछ रेखाओं के विन्यास में हम 'तुरग' न होते हुए भी तुरंग देखते हैं। चित्र का तुरग 'अलीक' और 'कृत्रिम' है। किन्तु रसिक इस स्वयं-स्वीकृत भ्रान्ति से रस का अनुभव करता है। कला के क्षेत्र में 'सत्य' और 'असत्य' का विकट प्रश्न है। इसके लिये प्रस्तुत प्रबन्ध में विचार का अवसर नहीं है। रसानुभूति की दृष्टि से रेखाओं में उन्मीलित 'अश्व' अश्व नहीं है, अश्व-सदृश है। सादृश्य-ग्रहण के लिये उपमिति की मानसिक प्रक्रियायें होती हैं और इन क्रियाओं में आनन्द का अंश रहता है। केवल वस्तु के यथावत् उपस्थितिकरण (Representation) को कला का चरम लक्ष्य मानने वालों के लिये यह सादृश्य-ग्रहण रसानुभूति का मूल-स्रोत है। किन्तु कला का उदय कलाकार के अध्यात्म में होता है। अतएव कला-सृष्टि में सौन्दर्य के सन्तुलन, लय आदि लक्षणों का साक्षात्कार होता है। 'रूप' का साक्षात्कार सौन्दर्यानुभूति का स्रोत है; 'रूप' का उन्मीलन कलाकार के मनोलोक की अद्भुत घटना है यह

घटना सत्य है; अतएव चित्रित तुरग के 'रूप' में हम अनेक आध्यात्मिक, मानसिक गुणों का साक्षात्कार करते हैं। फलतः चित्र-तुरग व्यवहार की दृष्टि से कृत्रिम या अलीक हो सकता है, यद्यपि कला-सृजन की दृष्टि से ऐसा नहीं है। रसास्वादन के लिये अथवा सौन्दर्य की अनुभूति के लिये चित्र-तुरग सत्य और सहज है।

(५)

चित्र-तुरग में अथवा शिला-खंड में मूर्त्तिमान् विष्णु में अथवा रंगमंच पर स्थित सीता-राम में साधारण सत्य अथवा असत्य का प्रश्न उठाना वैज्ञानिक दृष्टि से उचित जान पड़े, किन्तु रस के लिये यह प्रश्न अप्रासंगिक है, क्योंकि काव्य आदि में ज्ञान अथवा व्यवहार की प्रवृत्तियाँ शिथिल हो जाती हैं: काव्ये रसयिता सर्वो न बोद्धा न नियोगभाक्। अतएव अलीकवाद कला के लिये ग्राह्य दृष्टिकोण नहीं है। फिर भी रसास्वादन के क्षण में हम बोध-केन्द्रों पर एक दम पर्दा नहीं डाल पाते, और प्रश्न गौण रूप में बना ही रहता है। इसके उत्तर के लिये कई प्रयत्न हुए हैं। भट्टलोल्लट* आदि का विचार है कि रस का आधार नर्त्तक ही है। नर्त्तक में रस की उत्पत्ति विभावों द्वारा होती है। विभाव रसोत्पत्ति के 'कारण' हैं। अनुभाव 'कार्य' हैं जिनसे वह 'प्रतीतियोग्य' होता है अर्थात् अभिव्यक्त होता है तथा व्यभिचारी रस के सहकारी कारण हैं जिनसे रस 'उपचित' अर्थात् पुष्ट होता है। इस प्रकार रस की पूर्ण निष्पत्ति के लिये उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि तीनों ही आवश्यक हैं। राम आदि

---

* विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादा-वनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः इति भट्टलोल्लट प्रभृतयः।—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास

'अनुकार्य' हैं अर्थात् मूल बिम्ब हैं तथा नट आदि मे इनकी 'अनुकृति' (अथवा प्रतिलिपि या प्रतिकृति) मिलती है। प्रेक्षक में अनुकृति को अनुकार्य के अनुरूप देख कर रस का संचार होता है। दूसरे शब्दों में, नट मे राम की अनुरूपता का ज्ञान रस का कारण होता है। किन्तु 'ज्ञान' से 'रस' का उदय असंगत जान कर भट्टलोल्लट अपने को सुधारता है। 'नट' में 'राम' को देखने की इच्छा भी प्रेक्षक में होनी चाहिये। किन्तु यदि पूछा जाये कि क्या ऐसा सम्भव है तो उत्तर है कि जिस प्रकार रज्जु को सर्प के रूप में देख कर भय लगता है (यथा असत्यपि सर्पे सर्पतयावलोकितात् दाम्नोऽपि भीतिरुदेति) उसी प्रकार नर्त्तक में स्थित न होने पर भी वहाँ सीता-राम की रति 'सहृदयहृदय' द्वारा ग्रहण की जाती है (तथा सीता विषयिणी अनुरागरूपा रामरतिः अविद्यमानापि नर्त्तके नाट्यनैपुण्येन तस्मिन् स्थितेव प्रतीयमाना सहृदयहृदये चमत्कारसर्पयन्त्यैव रसपदवी मभिरोहतीति का० प्र० बालबोधिनी)। भट्टलोल्लट की इस मीमांसा में कई दोष है। यह इस प्रश्न का उत्तर नहीं देती कि प्रेक्षक क्यों और कैसे सर्प न होने पर भी 'दाम' (रस्सी) में सर्प देखता है (असत्यपि सर्पे सर्पतयावलोकितात्) ? 'दाम' से भीति का उदय कैसे होता है तथा इस भीति का कला में क्या 'रूप' है ? नर्त्तक में 'रस' न होने पर वहाँ इसके ग्रहण की क्या सम्भावना है ? इस सम्पूर्ण क्रिया में 'सहृदयहृदय' का क्या महत्त्व है तथा हृदय की सहृदयता का क्या अर्थ है ? और रसास्वादन में नाट्यनैपुण्य का क्या तात्पर्य है ? यह मीमांसा वास्तविक प्रश्न का उत्तर न देकर अनेक प्रश्नों को उत्पन्न करती है। वस्तुतः यह रस की सही मीमांसा नही है।

जैसा हम ऊपर देख चुके हैं कि श्रीशङ्कुक का अनुमितिवाद या अलीकवाद भी इन प्रश्नों को सुलझाने के लिये असमर्थ है।

भट्टनायक ने रसास्वादन की इस समस्या के समाधान के लिये भावकत्व और भोजकत्व नामक शब्द के दो नूतन व्यापारों का आविष्कार किया। शब्द, नाट्य, अभिनय आदि का एक सीधा और साधारण अर्थ

होता है जिसे हम 'अभिधा' शक्ति द्वारा ग्रहण करते हैं। कला का आधार 'अभिधा' नहीं है। यदि हम रंगमंच पर नट-नटी को अथवा मूर्ति में केवल पत्थर को अथवा चित्र में केवल रेखा या वर्ण-विन्यास मात्र देखते हैं तो निश्चित है कि हम इनके अभिधेयार्थ को ही ग्रहण करने में लगे हैं। कला का प्रारम्भ इसके अनन्तर होता है। रसास्वादन के लिये हमें इससे ऊपर उठना चाहिये। नट-नटी में हम न केवल राम-सीता को देखें, वरन् इससे भी ऊँचे उठकर इनमें हम पुरुष और प्रकृति के सामान्य रति-सम्बन्ध को ग्रहण करें, तब रस का प्रादुर्भाव प्रेक्षक में होता है। कला में इस सामान्य सम्बन्ध को उपस्थित करने की शक्ति होती है। इस व्यापार का नाम 'भावकत्व' है। इसके द्वारा हम सीता-राम को प्रेयसी और प्रेमी के रूप में ग्रहण करते हैं। भावकत्व व्यापार से यह सम्भव होता है। रस के क्षण में सत्त्व के उद्रेक से न केवल हम इस सम्बन्ध को बुद्धि से ग्रहण करते हैं, अपितु हृदय से भी। हृदय द्वारा यह ग्रहण भोजकत्व* व्यापार द्वारा सिद्ध होता है। काव्य के क्षेत्र में अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व दो अलौकिक क्रियाएँ हैं जो रस-निष्पत्ति की साधक होती हैं।

भट्टनायक की मीमांसा में 'भोजकत्व' व्यापार का अर्थ काव्यादि में भावनात्मक तत्त्व (*Emotional element*) को हृदय से ग्रहण करना है। मनुष्य में यह क्षमता सहजात है। उसकी सौन्दर्य-रुचि आरोपित और कृत्रिम नहीं है। इस अंश में यह मीमांसा अपनी पूर्व मीमांसाओं से बहुत आगे है। वस्तुतः भट्टनायक ने भोजकत्व के आविष्कार से मीमांसा के लिये कला के दृष्टिकोण को प्रथम बार प्रस्तुत किया। न केवल इतना ही, 'भावकत्व' का अर्थ 'साधारणीकरण' की प्रक्रिया द्वारा उसने विशद किया, और आगामी

---

* काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय संविद् विश्रान्ति सतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।—काव्यप्रकाश

मीमांसा के लिये विमर्श का बृहत् क्षेत्र खोल दिया। उसका प्रश्न था कि 'अर्थ' (काव्यार्थ जो साधारणतया बुद्धि-ग्राह्य पदार्थ है) भोग्य अथवा हृदय-ग्राह्य कैसे बने? रंगमंच पर हम नट-नटी के अभिनय मात्र को देखते हैं। प्रस्तुत विभाव आदि के द्वारा रति का उद्रेक भी उन्हीं में होता है। किस विधा से प्रेक्षक में उस अभिनय मे रस का संचार होता है? भट्टनायक का उत्तर था कि काव्य और नाट्य में अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व व्यापार भी रहता है। इसके द्वारा नट-नटी (अथवा, प्रस्तुत राम-सीता) अपने 'विशिष्ट' रूप को त्याग कर पुरुष-स्त्री के 'सामान्य' रूप में ग्रहण किये जाते हैं। भट्टनायक के इस उत्तर में भारतीय रस-मीमांसा ने प्रथम बार स्वीकार किया कि रसास्वादन के लिये रसिक को 'अभिधेयार्थ' को छोड़ना होगा और हृदय तथा बुद्धि की उच्चस्तरीय क्रियाओं का संचार करना होगा। रस स्थायी प्रवृत्तियों का प्राकृतिक उद्रेक मात्र नहीं है। इसके लिये मन-बुद्धि के उद्बुद्ध और उदात्त व्यापार आवश्यकीय हैं। संक्षेप में, भट्टनायक ने ध्वनि के आविष्कार के लिये मार्ग प्रशस्त किया।

भट्टनायक ने साधारणीकरण का अर्थ किया था; सीता-राम का अपने ऐतिहासिक स्वरूप (विशिष्ट) को त्याग कर स्त्री-पुरुष के रूप (सामान्य) मे ग्रहण किया जाना। परन्तु यह कलात्मक रूपान्तरण उस समय तक सम्भव नहीं जब तक प्रेक्षक भी अपने विशिष्ट, वैयक्तिक तथा जीवन की परिस्थितियों से सीमित स्वरूप को त्याग कर अपने चिन्मय, निरुपाधिक तथा बन्धनरहित असीम व साधारण स्वरूप को न ग्रहण करे। इसका तात्पर्य है कि साधारणीकरण की प्रक्रिया प्रेक्षक में ही रूपान्तरण (Transformation) करती है, जिसके फलस्वरूप वह रसास्वादन के क्षण में दृश्य नृत्य, अभिनय आदि मे अथवा श्रव्य संगीत मे इतना निमग्न हो जाता है कि उसे किसी दूसरे पदार्थ की चेतना नहीं रहती। वह अपनी सम्पूर्ण चेतन सत्ता से सौंदर्य का अवगाहन करता है। प्रेक्षक में अपरिमित चेतना के उन्मेष से रसास्वादन स्वयं अपरिमेय हो उठता है; 'रस' स्वयं मानो आँखों के सामने परिस्फुरण करता है, मानो हृदय में व्याप्त हो रहा है, मानो शरीर के सारे अंगों का

आलिंगन कर रहा है। रसास्वादन की यह स्थिति ब्रह्मानुभूति के सदृश हो उठती है। यह सब रसिक में साधारणीकरण के परिणाम-स्वरूप होता है। आचार्य अभिनवगुप्त* की यह व्याख्या भट्टनायक के दृष्टिकोण को प्रशस्त और संगत बनाने में समर्थ हुई है—यह इतिहास का निष्कर्ष है।

(६)

अभिनवगुप्त द्वारा की गई साधारणीकरण की व्याख्या से हमारी रस-मीमांसा आगे बढ़ी। इसमें कई नूतन तत्त्व प्राप्त हुए। किंतु इसका श्रेय, ऐतिहासिक दृष्टि से, आनन्दवर्द्धन को है जिसने 'ध्वनि' के आविष्कार से रस-मीमांसा को प्रथम बार ही कलात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया तथा रस और रसास्वादन की मनोवैज्ञानिक-सौंदर्यशास्त्रीय (Psycho-aesthetic) विवेचना प्रस्तुत की। 'ध्वनि' का आविष्कार भारतीय रस-मीमांसा के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है जिसे अब भी समझना हमारे लिये शेष है।

सम्भवत: ध्वनि का आविष्कार वैयाकरणों के 'स्फोट' वाद से हुआ। व्याकरण के अनुसार शब्द में अर्थ निहित रहता है, जैसे, कारण में कार्य, और उच्चारण की क्रिया से इसका झटिति उन्मेष चेतना के आलोक के रूप में होता है। इस घटना को 'स्फोट' कहा गया है। व्याकरण का यह महत्वपूर्ण प्रश्न है कि शब्द जिसका उच्चरित या वैखरी रूप भौतिक है—

---

* स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपाय-बलात् तत्काल विगलित परिमित प्रमातृ भाववशोन्मिषित वेद्यान्तर-सम्पर्कशून्यापरिमित भावेन प्रमात्रा सकल हृदय संवादभाजा. . .चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिक चमत्कारकारी श्रृङ्गा-रादिको रसः।—काव्यप्रकाश

वायु के कुछ स्पन्दन मात्र—उससे किस प्रकार 'अर्थ' जिसका स्वरूप आध्यात्मिक आलोक है, उदित होता है? इसका एक उत्तर अध्यात्म-वादियों ने दिया है जो वाणी के चार विकास-क्रम मानते हैं। परा, पश्य-न्ती, मध्यमा और बैखरी। 'परा' वाणी का अत्यन्त सूक्ष्म और चेतन रूप है। यह साक्षात् 'ब्रह्म' है। शनैः शनैः यह चेतन शब्द-ब्रह्म पश्यन्ती और मध्यमा के मार्ग से उच्चरित रूप में अभिव्यक्त होता है। दूसरा उत्तर स्फोटवादियों का है जो स्फोट की रहस्यमयी प्रक्रिया द्वारा शब्दोच्चारण से अर्थस्फोट मानते हैं। वस्तुतः इन दोनों वादों में केवल दृष्टिकोण का अन्तर है। चेतन 'अर्थ' किस प्रकार शब्द में अभिव्यक्त होता है? इस प्रश्न का उत्तर अध्यात्मवाद देता है। शब्द के उच्चारण से किस प्रकार अर्थालोक फूट उठता है? इसका उत्तर स्फोटवादी देते हैं। हमारा प्रकृत प्रश्न दूसरा है, और दूसरे से भी कुछ भिन्न। हमें केवल यह नहीं पूछना है कि शब्द से (चित्र में रेखा आदि से) उसका साधारण अर्थ कैसे प्राप्त होता है? वरन् हमारा प्रश्न है कि शब्द से उसका विलक्षण काव्यात्मक अर्थ (कलात्मक अर्थ) किस प्रकार उन्मीलित होता है? इसका उत्तर ही 'ध्वनि' है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन* काव्य में दो प्रकार के 'अर्थ' मानता है। वाच्य और प्रतीयमान। 'वाच्यार्थ' काव्य में शब्दों का सर्व-स्वीकृत, व्यवहार का सम्पादक और साधारण अर्थ है। यह काव्य का अभिव्यक्त रूप है। अन्य कलाओं में सौन्दर्य का गोचर आधार जैसे रेखा, रंग, शिला तथा इनमें उन्मीलित विन्यास, रूप आदि को वाच्यार्थ अथवा प्रत्यक्ष तत्त्व कहा जा सकता है। किन्तु काव्यात्मक अथवा कलात्मक अर्थ 'वाच्य' तक सीमित नहीं रहता। वाच्यार्थ साधारण और इन्द्रिय-ग्राह्य होने के कारण हृदय की मर्म-स्पर्शी और आनन्दोद्रेक करनेवाली उच्चस्तरीय मानसिक

---

*योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥ ध्वन्यालोक

क्रियाओं को नहीं जगा सकता। अतएव काव्यार्थ 'प्रतीयमान' (Suggested) अर्थ होता है। 'प्रतीयमान' अर्थ महाकवियों की वाणी में मिलता है, किन्तु यह 'अर्थ' वाच्य में आश्रित हुए भी उससे अतिरिक्त झलकने लगता है, ठीक उसी प्रकार जैसे तरुणी के अंगों और अवयवों में 'रूप' का आविर्भाव होते हुए भी वह तरंगायमान होकर उनसे 'अतिरिक्त' लावण्य* के रूप में ग्रहण किया जाता है। प्रतीयमान अर्थ तरुणी के तरंगायमान लावण्य की भाँति काव्य में वाच्यार्थ के ऊपर झलक उठता है। ध्वनिकार प्रतीयमान अर्थ को 'काव्यात्मा' स्वीकार करते हैं।

प्रतीयमान अर्थ (Suggested meaning) को काव्यात्मा स्वीकार करके आनन्दवर्धन ने 'रस' को "स्थायी भावो रसः स्मृतः" इस संकुचित मीमांसा से बाहर निकाला। इतना ही नहीं, इससे रस-मीमांसा को आधार-सूत्र मिला। वह यह कि 'रस' का उन्मेष 'चर्वणा' से होता है; चर्वणा रसिक द्वारा सर्वात्मना सौन्दर्य का अवगाहन करना (Aesthetic contemplation) है; चर्वणा केवल 'ज्ञान' नहीं है; वह केवल स्थायी भाव का उद्रेक भी नहीं; वह व्यापार और व्यवहार से भी दूर है। चर्वणा रसास्वादन और सौन्दर्य को आत्मसात् करने की क्रिया है। यह 'हृदय-संवाद'† (Emotional harmony) से उत्पन्न होती है और जीवन तथा चेतना के सारे पार्श्वों में व्याप्त हो जाती है। संक्षेप में, चर्वणा काव्य-व्यापार (Aesthetic activity) है। इसी से 'रस' गोचर अथवा अनुभूतिगम्य होता है। 'रस' को इस 'व्यापार' से पृथक् नहीं किया जा सकता। फलतः 'रसास्वादन' ही रस' है।

---

*प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्तु वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

ध्वन्यालोक

†यस्तु स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिक व्यवहार पतितः, किन्तु शब्द समर्प्यमाण हृदयसंवाद सुन्दर विभावानुभाव समुचित प्राग् विनिविष्ट

'रस' चर्वणा के कलात्मक व्यापार से ही रसनीय होता है; यह भारतीय कला-मीमांसा का आज भी मूल-सूत्र है। रस का संचार रसिक की 'अपनी' (आत्मिक) ही आभ्यन्तरिक (Self-activity) और सहज क्रियाओं से सम्पन्न होता है। यह नूतन मीमांसा का विधान है। आनन्द-वर्धन और उसके टीकाकार अभिनवगुप्त ने प्रतीयमान, चर्वणा, चमत्कृति आदि का जो अर्थ किया है वह आज भी सम्मान्य है। केवल इसकी एक सीमा है जो जानने योग्य है। वह यह कि 'प्रतीयमान' अर्थ पर सारा बल देकर इसने चर्वणा अथवा काव्य-व्यापार को 'प्रत्यक्ष' और 'साक्षात्कार' के स्तर से ऊपर उठाकर बुद्धि या हृदय के स्तर पर बिठा दिया। सौन्दर्य के आस्वादन में न केवल बुद्धि और हृदय ही रहते हैं, अपितु इन्द्रियाँ संस्पर्शज संवेदनाओं को ग्रहण करती हैं; हृदय की गति से तथा श्वास की संयमित अवस्था से हम संगीत में 'लय' को आत्मसात् करते हैं। 'सन्तुलन' (Balance) का आधार हमारे शरीर का पेशी-संस्थान (Musculature) है। संगति-चेतना (Harmony) का मूल-स्रोत है हमारी श्रवणेन्द्रिय। इसी प्रकार भार-साम्य (Proportion)को ग्रहण करने में शरीर की आभ्यन्तरिक चेष्टायें सहायक होती हैं। 'रूप' और रूप में गति, विन्यास, विस्तार आदि के लिये भी सम्पूर्ण जीवन-संस्थान (Organism) उत्तरदायी है। अतएव 'चर्वणा की वह परिभाषा हमें अमान्य है जो केवल प्रतीयमान' अर्थ को ही काव्य-व्यापार मानती है। काव्य में भी गोचर तत्त्व रहता है; उसमें सौन्दर्य और उसके सन्तुलन आदि गुण रहते हैं। अतएव केवल 'प्रतीयमान अर्थ' ही काव्य का सर्वस्व नहीं माना जा सकता है। और, काव्य से भी बढ़कर संगीत, चित्र, मूर्ति तथा नाट्य आदि कलाओं में तो 'चर्वणा' का अभिप्राय केवल 'प्रतीयमान' का ग्रहण नहीं हो सकता। माना कि इन कलाओं में

रत्यादि वासनानुराग सुकुमार स्वसंविदानन्द चर्वणा व्यापाररसनीयरूपो रसः; स काव्यव्यापारैकगोचरो रसध्वनिरिति स च ध्वनिरेवेति।

ध्वन्यालोक—लोचनम्

भी गम्भीर आध्यात्मिक संकेत मिलते हैं तथा प्रतीकों द्वारा अनेक भावों की अभिव्यक्ति होती है। इनके ग्रहण करने के लिये 'चर्वणा' में कई विमर्शात्मक अथवा बौद्धिक तत्त्व मिल जाते हैं। यह सब होते हुए भी, कला का सम्पूर्ण प्रभाव इतने में पर्यवसित नहीं होता। जैसा ऊपर प्रस्तुत किया गया है, रसास्वादन चेतना और जीवन की सम्पूर्ण प्रतिक्रिया (Complete and total reaction) है। अतएव कला में 'प्रतीयमान' के अतिरिक्त भी तत्त्व रहते हैं। अभिनवगुप्त ने ध्वनिवाद की इस सीमा को स्पष्ट स्वीकार भी किया है : अखिल बुद्धि समास्वाद्यं काव्यम्।

ध्वनि के आविष्कार के अनन्तर भारतीय रस-मीमांसा अनेक धाराओं में विभक्त हो गई। केवल 'रस' को लेकर एक धारा बही, जिसने काव्य के क्षेत्र में "रसात्मकं वाक्यं काव्यम्" को स्वीकार किया। मूर्ति और चित्र-कला में भी रसोद्रेक को लक्ष्य करके विभाव-अनुभाव आदि को प्रस्तुत करने का प्रयत्न हुआ। इस विकास का चूडान्त रीतिकालीन काव्यों में हुआ। तान्त्रिक, शैव, शाक्त तथा अनेक वैष्णव-सम्प्रदायों और अन्य ऐतिहासिक घटनाओं ने भारतीय कलाओं की समृद्धि और विकास हुआ। इनमें से भारतीय सम्प्रदायों ने रस मे 'आनन्द' तत्त्व की अनेक व्याख्यायें कीं तथा भारत में विदेशों से आये हुए प्रभावों ने, विशेषतः इस्लाम की स्थापत्य कला ने, 'रूप' की सही और संगत व्याख्या उपस्थित की। इन प्रभावों और व्याख्याओं में जाने का यह अवसर नहीं है। स्यात्, कुछ राजनैतिक और कुछ अन्य कारणों से सौन्दर्य की मीमांसा में 'रस' और 'रूप' दोनों तत्त्वों का सामञ्जस्य न हो सका। एक ओर रस-प्रधान मूल भारतीय मीमांसा तान्त्रिक, शैव, शाक्त और वैष्णव भक्तों के हाथों में पड़कर 'आनन्द' शोभा, कान्ति, लावण्य आदि की व्याख्या में निमग्न रही, यद्यपि इसमें 'रूप' को छोड़ा न गया था। हाँ, 'रूप' (*Form*) रस के अधीन रहा। इसी प्रकार यूनानी, अरब तथा फ़ारस की कला-परम्पराओं को सम्मान देने वाली मीमांसा नीरस 'रूप' तत्त्व को ही विशद करती रही तथा रूप-बोध को ही सौन्दर्य की अनुभूति मानती रही। पहली धारा का चरम विकास "उज्ज्वल

नीलमणि" में हुआ, और, दूसरी, मुग़लकालीन कलाओं में पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हुई। सौन्दर्य के आस्वादन में 'रूप' और 'रस' दोनों का सम्मिलन और सामञ्जस्य भारतीय रस-मीमांसा का भविष्य है। किन्तु इतिहास हमें यहाँ न टिकने देगा, क्योंकि हम आज कला के विश्वव्यापी प्रभावों के बीच में खड़े हैं। हमें विचार द्वारा इन प्रभावों की आलोचना करना चाहिये तथा उपयोगी और उपयुक्त प्रभावों को ग्रहण करके शेष को छोड़ देना चाहिये। क्या छोड़ सकेंगे? उसका उत्तर इतिहास ही देगा। अगले अध्याय में इन प्रभावों की आलोचना है।

२

रस और रसास्वादन (२)

पश्चिम में रस-मीमांसा का सूत्रपात यूनान में हुआ। यूनान एशिया-माइनर के इतना समीप था कि इसे अनेक सभ्यताओं और संस्कृतियों से प्रभाव ग्रहण करने का अवसर मिला। एशिया माइनर में एक ओर पूर्व से भारत, फारस, ईरान, चीन, तिब्बत और मध्य एशिया, दूसरी ओर से मिश्र, लिबिया, मोरक्को और स्पेन तक से तथा तीसरी ओर अरब प्रांतों से और चौथी ओर यूनान, हंगरी, यूगोस्लेविया आदि उत्तरीय विभागों से, न केवल व्यापार की अन्तर्राष्ट्रीय राहें मिलती थीं, अपितु संस्कृति, सभ्यता, धर्म, कला और विज्ञान में भी परस्पर अन्तर्जातीय आदान-प्रदान होता था। इस युग का महत्त्व आज भी हमें समझना शेष है। कला की दृष्टि से योरोपीय मीमांसा की मूल मान्यताओं का आविर्भाव यहीं हुआ। सम्भवतः मिश्र की गणित-परम्पराओं ने 'रूप' का विचार कला को दिया। ज्यामिति के विकास से वृत्त, सरल रेखा तथा अन्य आकृतियों की 'पूर्णता' की अनुभूति लोगों को हो चली थी, और ज्यामितिक आकृतियों की पूर्णता का अनुभव न केवल बौद्धिक ही था, वह रसात्मक, विशेष मानसिक स्फूर्ति तथा आनन्दालोक का देने वाला माना जाने लगा था। इस प्रकार 'रूप' की परिभाषा कला को गणित से मिली जिसकी मूलभूमि मिश्र थी। स्यात्, उस युग का अन्तर्जातीय जीवन युद्ध-प्रधान था, और युद्ध के लिये अनुशासन, नियमों का पालन, अंगों की दृढ़ता तथा व्यूह आदि अनिवार्य थे। नैतिक चरित्र पर प्रचुर बल दिया जाता था। फलतः नैतिकता का अर्थ अनुशासन का पालन किया गया, और अनुशासन का आधार गणित के सनातन सत्यों

की भाँति नियमों का पालन था। इस प्रकार सौदर्य-चेतना में नैतिकता, रूप के विधान, दृढ़ता आदि तत्त्वों का समावेश हुआ। इतिहास इस समय तक पर्याप्त प्रगति कर चुका था, किंतु स्वचेत योरोपीय रस-मीमांसा यूनान से चली, और दार्शनिकों के हाथों रहीं। वही परम्परा यूरोप में चली। इस विवेचना में, विशेषतः यूनान में, चित्रण (Representation) और अनुकरण (Mimesis) को ही सौदर्य-सृजन का सार माना गया। इनके अनुसार चित्त-द्रव्य का द्रवित हो जाना ही रसास्वादन है। प्रस्तुत निबन्ध में हमने कलाकार और कला-सृजन के दृष्टिकोण को ग्रहण न करके केवल रसिक की अनुभूति की मीमांसा को ही लक्ष्य बनाया है। इसलिये हम कला में चित्रण और अनुकरण के महत्त्व और मूल्य की चर्चा न करेंगे। यूनानी और अन्य पश्चिमी चिंतकों ने यह समझाया कि मनुष्य का चित्त जीवन की साधारण परिस्थितियों में 'कठिन' रहता है जिससे वह साधारण सुख-दुःख के अनुभवों में उलझा रहता है। चित्रण और अनुकरण के द्वारा कलाकृति एक विशिष्ट लोक की सृष्टि होती है जिसका प्रभाव चित्त को द्रवित कर देता है। यह प्रभाव सौंदर्य है। चित्त के द्रवित होने से मनोविकार, क्रोध, भय, ईर्ष्या आदि भी, रिक्तता या रेचन (Catharsis) की विधा से शान्त और विरत हो जाते हैं। चित्त का द्राव, मनोविकारों का रेचन—जिसके फलस्वरूप साधारण सुख-दुःख से भिन्न शांति की अनुभूति—यही रस और रसास्वादन का स्वरूप है।

हमारे देश में भी चित्त की साधारण अवस्था को 'जतु' या कठिनीकृत लाक्षारस के समान माना है। सौंदर्य का प्रभाव इस 'चित्त-जतु' को पिघला देता है। इसे 'चित्त-विद्रुति' कहते हैं। किंतु भारतीय मत के अनुसार यह चित्त-विद्रुति की अवस्था शृङ्गार के केवल विप्रलम्भ रूप में और करुण रस में होती है। वीर रस में यह अवस्था 'चित्त-दीप्ति' का रूप धारण करती है तथा हास्य में 'चित्त-विस्तार' का। कुछ भी हो, इस मत में एक स्पष्ट आपत्ति तो यह है कि चित्त का रेचन, विद्रुति, दीप्ति या विस्तार आदि कथन केवल 'अलंकार' प्रतीत होता है, न कि मनोविज्ञान की भाषा

में तथ्य का वर्णन। रसास्वादन में चित्त की वस्तुतः क्या अवस्था होती है और क्यों? इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिला। प्लेटो ने सौंदर्य के आस्वादन में नैतिक भावना (Moral feeling) को लाकर 'मंगल' और 'सौंदर्य' दोनों का संकर कर दिया। अरस्तु ने केवल 'अनुकरण' को कला का प्राण न मानकर एक नये तत्त्व का आविष्कार किया : वह यह कि कला 'वस्तु' के प्रस्तुत, सीमित स्वरूप का अनुकरण नहीं करती, अपितु उसके सामान्य, सनातन या ऐतिहासिक स्वरूप का। इस तथ्य को ग्रहण करने से यह पता लगा कि सौंदर्य के आस्वादन में केवल चित्त ही द्रवित नहीं होता, मन और बुद्धि में भी अन्यान्य क्रियाओं का संचार होता है, क्योंकि 'वस्तु' का ऐतिहासिक स्वरूप केवल बुद्धि की उच्च गति द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। अरस्तु के उत्तरकालीन विकास में, विचारकों ने रसास्वादन की क्रिया में 'कल्पना का आनन्द' और जोड़ा। इसके अनुसार 'रस' वास्तव में मन में सौंदर्य के प्रभाव से जाग्रत हो जाने वाली कल्पना का सुख ही है। और भी आगे चलकर, कहा गया कि कल्पना द्वारा 'वस्तु' का आदर्श रूप, वह जो प्रकृति और ईश्वर की सृष्टि में या तो नहीं है और या दोषग्रस्त है, प्रस्तुत किया जाता है। इस क्रिया को आदर्शीकरण या अतिशयीकरण (Idealization) कहा गया। मानना होगा कि इस विचार-धारा में रस और रसास्वादन को समझने के लिये कई आवश्यक तत्त्व हैं।

एक दूसरी दार्शनिक विचार-धारा कान्ट से प्रारम्भ हुई। यूरोप में चिरकाल तक भावना (Feeling) का स्वतंत्र स्वरूप नहीं स्वीकार किया गया। इसे एक प्रकार का भ्रान्त विचार या शरीर की धातुओं का विकार माना गया। कान्ट ने प्रथम बार पश्चिम में विचार, भावना और संकल्प की त्रयी का प्रतिपादन किया। सौन्दर्य और रस इसी भावना के गर्भ से उत्पन्न होते है। हीगेल ने कहा कि केवल 'भावना' रस की निष्पत्ति नहीं कर सकती। विवेक शक्ति द्वारा 'भावना' चर्वणा (Contemplation) के योग्य होनी चाहिये। भावना' गर्भ रूप में बनी रहे, किन्तु रस का आस्वादन बुद्धि की उच्च

प्रगति बिना सम्भव नहीं जिसमें वह वाद या पक्ष (Thesis) से चल कर प्रतिवाद या प्रतिपक्ष (Antithesis) की स्थापना करते हुए, दोनों के संवाद या संगति (Synthesis) की दशा का उद्घाटन नहीं करती। सौन्दर्य के आस्वादन में विरोध और संगति दोनों रहने चाहिए—केवल विरोधी तत्त्व एक दूसरे के संहारक होंगे जैसे गीत में दो विरोधी स्वर। परन्तु स्वरों का जीवित संवाद विभिन्न और विरोधी स्वरों के मिलन से ही उत्पन्न हो सकता है। सौन्दर्य का सर्वोत्कृष्ट रूप उस समय उदित होता है जब दो सापेक्ष पक्षों का अन्तिम सम्मिलन और सामञ्जस्य निरपेक्ष (Absolute) तत्त्व के चिन्तन (Contemplation of the Absolute) को जाग्रत करता है। उसके अनुसार दर्शन ही सौन्दर्य की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है, और दार्शनिक ही वस्तुत: रसवेत्ता है।

कुछ भी हो, इस विचार-प्रणाली में कई आवश्यकीय तत्त्व हमें मिलते हैं जैसे रसास्वादन में भावना, चर्वणा, आन्तरिक प्रगति, विरोध और संवाद का महत्त्व और इन तत्त्वों का समावेश। इन में से एक एक तत्त्व को लेकर वादों का विकास हुआ। एक वाद ने सौन्दर्य के आस्वादन में निहित 'भावना' के रूप को विशद किया। निर्णय हुआ कि सौन्दर्य-भावना व्यक्तिगत न हो कर सामान्य और सनातन (Impersonal, universal feeling) होनी चाहिये। जर्मनी के अन्य दार्शनिकों (जैसे, फिक्टे, शैलिंग, शोपेनहावर, नीट्शे आदि) ने इसी सौन्दर्य भावना की मीमांसा की। हमें यहाँ इसकी आवश्यकता नहीं। 'रस' में भावना तत्त्व रहता है, परन्तु इसको रस के रूप में परिणत करने के लिये मन, बुद्धि और चित्त की अन्यान्य क्रियाएँ भी होती हैं—यह हमें स्वीकार करना है। परन्तु वे क्रियाएं क्या हैं जिनसे 'भावना' रसनीय हो जाती है—यह दर्शन स्पष्ट नहीं कर सका।

(२)

मनोविज्ञान ने जब कला के क्षेत्र में पदार्पण किया तो उसने प्रश्न उठाया — मन की किन क्रियाओं के द्वारा 'रस' का प्रादुर्भाव होता है? यदि

हम यह मान लें कि 'रस' का स्वरूप दर्शन ने विवेचित किया तो मनोविज्ञान ने 'रसास्वादन' की क्रिया को स्पष्ट किया। दोनों का यह सहयोग कला के लिये हितकर हुआ। मनोविज्ञान के लिये 'प्रत्यक्ष' (Perception) अनुभूति के विश्लेषण का प्रश्न उपस्थित हुआ। 'प्रत्यक्ष' में एक ओर वस्तु से निसृत होने वाली संवेदनाएँ (Sensations) रहती हैं जो मस्तिष्क के ज्ञान केन्द्रों में इन्द्रिय-प्रणालिकाओं के द्वार से उपस्थित होती हैं। इसे उपस्थितिकरण (Presentation) कहा जाता है। परन्तु उपस्थित संवेदनाओं (Presentations) को व्यवस्थित करके ही वस्तु का प्रत्यक्ष स्वरूप अवगत होता है। जैसे, जब मैं सरोवर में एक कमल-पुष्प को 'प्रत्यक्ष' देखता हूँ तो सरोवर, जल, पुष्प आदि अनेक वस्तुओं से निकलने वाली संवेदनाएँ, स्मृति, कल्पना, विचार आदि बुद्धि की क्रियाओं द्वारा व्यवस्थित होकर अपना-अपना स्वरूप ग्रहण करती हैं। संवेदनाओं की उपस्थिति के अनन्तर और इन बौद्धिक क्रियाओं के प्रारम्भ होने से पूर्व क्षण में एक सामान्य प्रवृत्ति का पता लगा जिसे मनोविज्ञान ने अन्तर्भावना (Empathy) का नाम दिया। इस प्रवृत्ति के कारण प्रेक्षक 'वस्तु' के रूप को ग्रहण करता है। यदि हम केवल यही मानें कि वस्तु से जो संवेदनाएँ (रंग, रूप, गन्ध, विस्तार आदि की संवेदनाएँ) हमें मिलती हैं, बुद्धि की सहज क्रियाएँ उन्हें तद्-तद् रूप में व्यवस्थित कर देती हैं, तो इतने से उस वस्तु के गुणों का सम्पूर्ण प्रभाव मन में नहीं उतरेगा; केवल एक शीतल, निष्प्राण चित्र ही अनुभव में आयेगा। अन्तर्भावनात्मक प्रवृत्ति द्वारा मन वस्तु के गुणों में प्रविष्ट हो जाता है, जिससे उसका 'प्रत्यक्ष' जीवन्त अनुभव के रूप में हमें मिलता है। सौन्दर्य के ग्रहण करने में भी यही प्रवृत्ति प्रकट और प्रबल हो जाती है जो साधारण प्रत्यक्ष में नहीं होती। एक जापानी चित्र लीजिये जिसमें समुद्र की उत्ताल तरंगों का चित्रण है। इस चित्र के सौन्दर्य का रहस्य ही यह है कि इसके देखने से प्रेक्षक स्वयं तरंगों की गति, विकट शक्ति, उनका भयकर उत्थान और मनुष्य को लपेट कर नष्ट कर देने का संकल्प, आदि का अनुभव करता है, क्योंकि प्रेक्षक रेखाओं के

प्रभाव से मानो उन लहरों में निविष्ट हो गया—और ऐसा हुआ अन्तर्भावना के कारण।

मनोविज्ञान की एक अन्य शाखा ने प्रयोग और यन्त्रों द्वारा 'सौन्दर्य' को समझने का प्रयत्न किया है। प्रायोगिक कला-मनोविज्ञान (Experimental Psycho-aesthetics) ने सुन्दर वस्तु में निहित सामान्य गुणों का पता वैज्ञानिक रीति से लगाया। हमारा इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। परन्तु इसने 'रस किस मानसिक दशा का नाम है' इस प्रश्न का उत्तर भी दिया है। 'यह दशा कैसे उत्पन्न होती है और क्यों फिर खण्डित हो जाती है?' इसका भी समाधान किया है। इसके अनुसार किसी वस्तु को देखने या सुनने से प्रेक्षक में सहज क्रिया और संकल्प जगते हैं। परन्तु सुन्दर वस्तु के प्रेक्षण में ये क्षण भर के लिये स्थगित हो जाते हैं, और, तब उसके ईक्षण से उत्थापित भावनाएँ प्रबल होकर रसनीय हो जाती हैं। केवल भावनाएँ ही नहीं, स्मृति, कल्पना, विचार आदि भी अपने अपने स्वाभाविक लक्ष्यों से विलग होकर उसी अनुभूति को स्फीत बनाते हैं। यह अनुभूति आस्वादन के योग्य हो जाती है। इसे 'रस' कहते हैं। इतना ही नहीं, शरीर, स्नायु और नाड़ी-मण्डल, हृदय और रुधिर चक्र, समवेदना केन्द्र (Sympathetic system) में भी क्रिया के स्थगित होने से, और सौन्दर्य के सामञ्जस्य, सन्तुलन आदि उत्तेजक प्रभावों के कारण, 'रस' नाम की मानसिक दशा पुष्ट और पुनः पुनः उज्जीवित होती है। इन सब से मिलकर रस की अनुभूति इतनी प्रखर और आनन्दजनक हो जाती है।

इस विचार-प्रणाली में मन और शरीर की उन क्रियाओं की मीमांसा है जो रसानुभूति के उद्भव और पोषण के लिये अपेक्षित हैं। परन्तु रस की क्रिया मन के केवल ऊपरी, ज्ञात और चेतन स्तर से ही सम्बन्धित नहीं रहती। इसका मूल कहीं मानव-चेतना के अचेतन गर्भ में है। रस की प्रकृति शाश्वत और गम्भीर है। स्यात्, इसी गम्भीर और सनातन प्रवृत्ति को तृप्ति और रूप देने के लिये सौन्दर्य का सृजन और

इसका आस्वादन होता है। यह मूल प्रवृति काम या सुख (Sex or libido), या जीवन का रूप है। इसकी मूल रूप में अभिव्यक्ति घृणित, अमर्यादित और भयावह हो सकती है। धर्म और नीति इसे मर्यादाओं से बांधते हैं, परन्तु इसकी तुष्टि नहीं करते। विज्ञान इसका लक्ष्य बदलने का प्रयत्न करता है। परन्तु कला अपने विधान व मर्यादाओं की सीमा में इस मूल प्रवृत्ति को तृप्त करने का प्रयत्न करती है। इस प्रवृत्ति की तुष्टि ही 'रस' है।

निश्चय ही चरम मनोविज्ञान (Meta-Psychology) ने 'रस' को गम्भीरता प्रदान की है। इसने बताया है कि रस का आस्वादन मानव-व्यक्तित्व के उस अंश से नहीं होता जिससे हमारा साधारण व्यवहार, संकल्प और वैज्ञानिक विचार चलते रहते हैं। व्यक्तित्व स्वयं एक जटिल गठन है, जो रसानुभूति के लिये उपयुक्त नहीं। अधिक इस विषय में आगे कहेंगे। यहाँ हमें यह मानना है कि रस-विवेचना को विशद बनाने में इस विचारधारा का बहुत योगदान है।

(३)

अवश्य ही कोई कारण है कि कलाकार ने कला-सृजन और रसास्वादन के विषय में अत्यन्त स्वल्प और सूत्र-रूप में ही कहा है। सौभाग्य से कला-मर्मज्ञों ने कला के ही दृष्टि-बिन्दु से इन समस्याओं पर शोध किया है जिसका हमारे लिये बहुत मूल्य है। अंग्रेजी में कला-विज्ञान के लिये (Aesthetics) शब्द है जिसका यौगिक अर्थ 'प्रत्यक्षीकरण का आनन्द' होता है अर्थात् (Pleasure of Perception)। यदि हम किसी वस्तु के प्रत्यक्षीकरण में उसके वर्ण, विस्तार, घनत्व, योजना, तीव्रता, बल, उतार-चढ़ाव आदि गुणों और प्रभावों को इन्द्रियों से ग्रहण करें, और, हमारा उद्देश्य किसी कामना की तृप्ति या उससे उपयोगिता अथवा पूर्ति की प्राप्ति न होकर केवल 'आनन्द' का लाभ करना ही हो, तो इस 'प्रत्यक्ष' को रस की अनुभूति कहा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि

सौन्दर्य का आस्वादन अंशतः अवश्य ही भोक्ता के अभिप्राय पर निर्भर होता है। वह अभिप्राय 'आस्वादन' ही होना चाहिये, और आस्वादन भी वस्तु से उपलब्ध संवेदनाओं का। परन्तु यह मत रस-मीमांसा के लिये अत्यन्त 'सरल' प्रतीत होता है। इसमें सत्य का अंश इतना ही है कि रसास्वादन का आधार सुन्दर वस्तु का प्रत्यक्षीकरण है।

कला-मर्मज्ञ क्रोचे के अनुसार वस्तु के प्रत्यक्षीकरण में चार अवस्थाएँ या स्तर, एक के पीछे एक उदित होते हैं। प्रथम सम्पर्क के क्षण में वस्तु का 'सुन्दर' रूप उदित होता है। इस सम्पर्क मात्र ही से एक मौलिक, अनिर्वचनीय और साधारण सुख-दुःख से भिन्न आनन्द की अनुभूति उत्पन्न होती है : यह चेतना और अचेतन के सम्पर्क का प्रथम और क्षणिक मिलन होता है। एक सहज आह्लाद की उत्पत्ति के कारण इसे 'रस' की परम अनुभूति कहते हैं। परन्तु इसके अनन्तर शीघ्र ही बुद्धि की क्रिया सजग हो उठती है, और वस्तु के लौकिक स्वरूप को, उसके स्थान, काल, भाव आदि को ग्रहण करने लगती है। अब 'वस्तु' का 'सुन्दर' स्वरूप न रह कर बुद्धिगम्य, साधारण व सामान्य रूप ही हमारे सामने रह जाता है। उदाहरणार्थ: प्रथम क्षण में जो पुष्प अनेक रंगों, गन्धों, कोमलता और रूपों की संवेदनाओं द्वारा आह्लाद उत्पन्न करनेवाला था, दूसरे ही क्षण में वह वन का एक सामान्य पुष्प बन जाता है ज्योंही बुद्धि अन्य वस्तुओं के समान इसे पुष्प जान लेती है। परन्तु क्रोचे मानता है कि यह क्रिया यहीं समाप्त नहीं होती। तीसरे स्तर पर हम अपनी अनुभूति के लाभ और हानि के विषय में सोचने लगते हैं, और तदनन्तर इस लाभ और हानि के विचार में 'उचित' और 'अनुचित' का नैतिक मूल्य आकर जुड़ जाता है। इस प्रकार प्रथम किसी वस्तु के सौन्दर्य का उद्घाटन होता है। यह बुद्धि की क्रियाओं के आविर्भाव से भी पूर्व होने के कारण स्वसंवित्ति (Intuition) का ही प्रकार है। इसे तर्क की अपेक्षा नहीं, और प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। बुद्धि इसे समझे या न समझे—परन्तु स्वसंवेद्य होने के कारण ग्रहण अवश्य करेगी। इसी प्रकार सौन्दर्य के अनुभव में

उपयोगिता या लाभ-हानि अथवा औचित्य-अनौचित्य के आर्थिक और नैतिक भेद लागू नहीं होते। सौन्दर्य का आनन्द प्रत्यक्षीकरण का शुद्ध आनन्द है।

उपर्युक्त सिद्धान्त में कई ग्रहण करने योग्य तत्त्व हैं। परन्तु इसके अनुसार रसास्वादन की क्रिया अत्यन्त सरल हो जाती है। सम्भव है यह रस का सार हो, परन्तु हमारे साधारण अनुभव में तो विलक्षणता यही रहती है कि इसमें अनेक तत्त्व आकर मिल जाते हैं। कला के अन्य मर्मज्ञ वर्नोन ली इसी विरोधी मत को प्रतिपादन करते हैं। उनके लिये रसानुभूति मन, बुद्धि, शरीर में अनेक क्रियाओं के सजग होने से उत्पन्न होती है। परन्तु इसमें बेचैनी (Excitement) नहीं होती, क्योंकि विकलता की दशा में विवशता का अनुभव होता है। रस के आस्वादन में सौन्दर्य का प्रभाव कल्पना को मुक्त कर देता है, दृष्टि के पथ भी खुले होते हैं, आत्मा भी क्षणिक उन्मुक्त अवस्था का अनुभव करता है। विचार और विमर्श की क्रियायें नवीन स्फूर्ति से गतिशील हो जाती हैं, यद्यपि इस समय तर्क शिथिल रहता है। तर्क की क्रिया के बिना भी 'रस-ज्योति' के उजाले में नवीन निष्कर्ष और निगमन स्वयं ही प्रस्फुटित होने लगते हैं, जैसे किसी उदार संगीत के सुनते समय या किसी नृत्य, नाटक, चित्र या भवन को देखते समय, विचारों की अभूतपूर्व वीथियाँ, कल्पना के नूतन आलोक स्वयं विशद हो जाते हैं। दृष्टि कभी तो सौन्दर्य के बहिर्प्राङ्गण में मद में सरापा हुई 'वस्तु' के अंग-प्रत्यंग का अवलोकन करती है, और, न जाने क्यों फिर अन्तर्मुखी होकर चेतना के आलोक से स्वयं ज्योतित हो जाती है। नेत्रों और अन्य इन्द्रियों का तथा मन-बुद्धि का 'सुन्दर वस्तु' की ओर जाना और बारम्बार लौट आना—यह केन्द्राभिसारी तथा केन्द्रपसारी गति ही रसानुभूति है। यही चर्वणा (Contemplation) का स्वरूप है।

यद्यपि मनोविज्ञान ने अन्तर्भावना (Empathy) का आविष्कार 'प्रत्यक्ष' को विशद करने के लिये किया था, तथापि ली ने इसका उपयोग रसानुभूति की विवेचना के लिये किया। सौन्दर्य के अनुभव में वस्तु का स्वरूप इतना प्रभावशील होता है कि वह चेतना को अपने 'प्रभाव' से

प्लावित कर देता है और स्वयं चेतना के जीवित आलोक से प्लावित हो जाता है। वस्तु और चेतना का अन्योन्य विमिश्रण या आप्लावन जिससे सौन्दर्य का प्रत्यक्ष इतना 'निकट' होता है, ली के अनुसार Self-merger कहलाता है। परन्तु merger में तो स्व-रूप विलय हो जाता है; रसानुभूति में 'वस्तु' और 'प्रेक्षक' परस्पर अपने गुण-प्रभावों के आदान-प्रदान से स्वयं स्फीत, पुष्ट और प्रबल हो उठते हैं। वास्तव में इसे विलयन (*Merger*) या विनिमय भी कहना उचित न होगा, क्योंकि रस के अनुभव में रसिक और सुन्दर वस्तु, ग्राहक और ग्राह्य के रूप में, स्वतंत्र रहते हुए भी अपने प्रभावों के विमिश्रण से उस अनुभव को समृद्ध बनाते हैं—सौन्दर्य अपने गुण-गौरव से चेतना को, और चेतना अपने आलोक तथा जीवन के प्रसाद से वस्तु को रूपान्तरित करते हैं। इस क्रिया से ही रस-स्रोत फूट निकलता है। सुन्दर वस्तु को आध्यात्मिकता, आभ्यन्तरिकता (*Inwardness*) और गाम्भीर्य आदि गुण चेतना से ही प्राप्त होते हैं तथा चेतना को चर्वणा के लिये सामग्री 'रूप' आदि सौन्दर्य-सम्पत्ति से मिलती है। इसे केवल आत्म-विलयन (Self-merger) कहना अपर्याप्त विवेचन होगा।

(४)

यूरोप की अधुनातन मीमांसा यथार्थवाद की ओर प्रवृत्त हुई। परन्तु यह नूतन यथार्थवाद अपने प्रारम्भिक स्वरूप से बहुत विभिन्न और विचित्र है। इसने सर्वप्रथम सौन्दर्य को और सौन्दर्य में रूप तत्त्व को अस्वीकार किया है। इसके अनुसार 'रूप' विन्यास से प्राप्त होता है; रूप में नियमों का बन्धन, मर्यादाओं का संकोच तथा जीवन की तरलता के बजाय जड़ता रहती है। 'रूप' में स्थिरता रहती है, गति नहीं। और भी, मनुष्य की मूल और शुद्ध अनुभूति में चेतना का क्षणिक स्फुरण होता है। यह अनुभूति 'यथार्थ' है। इसके ऊपर स्थायी और सनातन नियमों का आरोप कृत्रिम है। अतएव 'रूप' चेतन का सहज स्व-भाव नहीं, अपितु आरोपित

व्यवस्था है। जीवन की वास्तविक झाँकी उस क्षणिक स्फूर्ति में मिलती है जिसमें रूप, विन्यास व व्यवस्था का अभाव रहता है। रूप के अभाव में सन्तुलन, संगति आदि का उन्मेष भी कला में नहीं होता। फ्रायडवादी तथा उसके अन्य रूपों की कला में कला-चेतना का यही स्वरूप स्वीकार किया गया है। चेतना का मूलाधार 'अचेतन' है जो सन्तुलन, संगति की मर्यादा तथा रूप के विधान मानने को प्रस्तुत नहीं है। इस 'अचेतन' का चेतना के स्तर पर उद्रेक कला की अनुभूति है। कला वस्तुतः अचेतन मन को चेतन स्तर पर लाकर आत्म-तुष्टि (Wish-fulfilment) का अवसर देती है। यही कलानुभूति के सन्तोषप्रद होने का कारण है। अतियथार्थवाद (Sur-realism), अभिव्यक्तिवाद (Expressionism) आदि भी यथार्थ-सत्ता को चेतना के क्षणिक स्फुरण के रूप में स्वीकार करते हैं। सौन्दर्य बोध के लिये, इनके अनुसार, रस-चेतना में कोई स्थान नहीं है।

यथार्थवादी प्रवृत्ति का चूडान्त प्रयोगवाद (Experimentalism) में हुआ है। 'प्रयोग' का अर्थ केवल नूतन मार्गों तथा विधाओं की आजमाइश नहीं है, न केवल पुरातन के प्रति विप्लव और विद्रोह की भावना से परम्पराओं में उलट-फेर मात्र। इसके पीछे एक दार्शनिक दृष्टिकोण है। वह यह कि अब तक सत्ता और इसके विकास के पीछे हम सनातन, निश्चित, बोधगम्य नियमों को स्वीकार करते आये हैं। क्या विज्ञान, क्या धर्म, नीति, इतिहास और शास्त्र, क्या सामाजिक विकास—इन सबमें हम व्यवस्था के परिनिष्ठित, अकाट्य सिद्धान्तों की खोज करते रहे हैं। और, हमारा यह विश्वास भी रहा है कि जीवन और जगत् की व्यवस्था इन्हीं के अनुसार चलती है; क्षणिक घटनायें और परिवर्त्तन सत्ता के ऊपरी सतह पर केवल तरंग-भंग हैं। आधुनिक प्रयोगवाद इस चिरकालीन और सार्वजनीन निष्ठा को एकदम अस्वीकार करता है। इसके अनुसार विराट् (Cosmos) के विकास में पृथ्वी का बनना एक आकस्मिक और अनावश्यक घटना थी; इसी प्रकार पृथ्वी पर जीवन का आविर्भाव, और जीवित पदार्थों में मानव का विकास तथा मनुष्य द्वारा निर्मित समाज और इसकी

अनेकविध व्यवस्थायें—ये सभी प्रकृति की अनिश्चित और अकस्मात् घटनायें हैं। इस घटना-क्रम में 'व्यवस्था' का आभास कल्पित और आरोपित है। मूल्यों और मानदंडों की मीमांसा, नियमों और अटल सिद्धान्तों की व्याख्या मानों परिवर्त्तनशील, अव्यस्थित सत्ता में अपरिवर्त्तनशील व्यवस्था की खोज करना है। ऐसी परिस्थिति में 'जीवन' प्रकृति का एक प्रयोग मात्र है, स्यात् विफल प्रयोग। कम से कम यह बहुत उत्तम और सफल प्रयोग तो नहीं है। नूतन कवि-आलोचक ईलियट जीवन में अनिश्चय, क्षणिकता, परम्पराओं के प्रति विद्रोह, नूतन के प्रति श्रद्धा और प्रयोगवादी दृष्टि आदि मान्यताओं को पुष्ट करता है। इसके अनुसार चेतना की क्षणिक स्फूर्त्ति जो अपने को सब पारम्परीण जालों से मुक्त करके उदय होती है, कला की अभिव्यक्ति है। कला-चेतना इसी उन्मुक्त चेतना की क्षणिक स्फूर्त्ति का नाम है।

परम्परा को छोड़कर नये मार्गों पर चलने वाली यूरोपीय रस-मीमांसा का यह विद्यमान क्षण है। अभी इसकी सम्पूर्ण क्षमता का विकास अवशिष्ट है। देखिये भविष्य क्या कहता है।

३

रस और रसास्वादन (३)

जिन रस-मीमांसाओं की हमने ऊपर चर्चा की है, उनमें एक सामान्य तत्त्व है जिसे हम एक वैदिक सूत्र से व्यक्त करेंगे : 'रसो वै सः'। प्रस्तुत सन्दर्भ में इस सूत्र का अर्थ है कि रस की अभिव्यक्ति और रसास्वादन की क्रिया में रसिक स्वयं व्याप्त रहता है। अन्य अनुभूतियों में भी अनुभविता सामान्यतया वहाँ रहता है; परन्तु विषय और विवेचन की आवश्यकता के अनुसार उसे अंशतः छोड़ा जा सकता है। धर्म, नीति, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि में पाप-पुण्य, उचित-अनुचित, कर्त्तव्य, अधिकार, राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक जीवन का विकास, मूल्य आदि का विवेचन करते समय हम मनुष्य के रुचि, प्रवृत्ति, स्वभाव का अवश्य ही विचार करते हैं। हाँ, भौतिक विज्ञान अवश्य ही अपनी गवेषणाओं में इस मानव-तत्त्व को अलग करके शुद्ध, अ-मानव, वास्तविक (Objective) निर्णय देने का प्रयत्न करता है। परन्तु इस प्रयत्न में भी वैज्ञानिक निर्णयों में, यहाँ तक कि विवेचन की विधाओं में भी, वैज्ञानिक का व्यक्तिगत दृष्टिकोण अवश्य झलक उठता है। कला का स्थान विज्ञान के विरोधी ध्रुव-बिन्दु पर है। सृजन के क्षण में कलाकार सम्पूर्ण बाह्य और आन्तरिक साधनों से 'आत्मा' की ही अभिव्यक्ति करता है, और रसास्वादन में रसिक सुन्दर वस्तु के प्रभाव से अपने ही अन्तर में से फूटते हुए रस-स्रोतों का अनुभव करता है। किसी स्वाभाविक प्रेरणा से रसानुभूति को जो रसिक के अन्तर की क्रिया और परिस्थिति है, वह वस्तु के सौन्दर्य पर प्रक्षेप कर देता है। वह प्रेरणा क्या है? हम

पूछ सकते हैं। परन्तु रस-मीमांसा अपनी ही मूल मान्यता के अनुसार आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाने के लिये विवश है।

हम कहेंगे "जिन विषयों की हमने ऊपर चर्चा की है उनमें मनुष्य का केवल व्यावहारिक और विज्ञान द्वारा गवेषणीय रूप ही स्वीकार किया जाता है, उसका आध्यात्मिक, रहस्यमय रूप नहीं। और भी, यदि रस-मीमांसा को रहस्य के धुंधलेपन से बचाना है तो हमें अध्यात्म की गुफा में न घुसना चाहिये। जिस प्रकार 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्' कह कर हमने धर्म को विवेचना की सीमाओं से दूर कर दिया, उसी प्रकार 'कला रहस्यं निहितं गुहायाम्' के अनुसार कहीं रस-विवेचना का ही अन्त न हो जाय।" इस धारणा का खण्डन हमें अभीष्ट नहीं। परन्तु यह स्पष्ट है कि रसास्वादन की ही आन्तरिक आवश्यकता के अनुसार हमें उसके लिये विज्ञान और व्यवहार दोनों को ही स्थगित कर देना चाहिये। यदि रसानुभूति के क्षण में विज्ञान या व्यवहार की आवश्यकता प्रबल हो जाये, तो वह निश्चय ही यदि लुप्त न हुई तो फीकी अवश्य पड़ जायगी। अन्ततः हमें मानना होगा कि हम रस की विवेचना में रसिक के अध्यात्म को नहीं छोड़ सकते। रसिक के व्यावहारिक रूप से हमारा क्या लगाव रहेगा? इसको हम एक अध्याय में अलग से लेंगे।

परन्तु 'रसो वै सः' मान लेना रस-विवेचना नहीं है। हमें यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि रसानुभूति में कौन से विशिष्ट तत्त्व हैं, 'आत्मा' की कौन सी विक्रियाएँ हैं जिनके बिना इसका स्वरूप न समझा जा सकेगा। यही हमारी विवेचना का वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण भाग होगा। वे तत्त्व ये हैं:

१. आत्मा की रस के लिये सहज आवश्यकता (Aesthetic Imperative) है। यह हमें उसी प्रकार मानना चाहिये जैसे हम ज्ञान-विज्ञान के लिये या नैतिक पुण्य और मंगल के लिये सहज मानवी आवश्यकता समझते हैं। मंगल और ज्ञान की भावना का वही मूल-स्रोत है जो रस और सौन्दर्य का है।

२. अवश्य ही कभी यह सहज भावना सक्रिय और सजग होती है। केवल उसी समय रसिक रस का आस्वादन करने में प्रवृत्त होता है, और, तभी वह इसके लिये समर्थ भी होता है। रस-ग्रहण करने के लिये रसिक की स्वीकृति, आनन्द और विनोद में अपने आप को खो देने के लिये उसकी जाग्रत इच्छा अनिवार्य है। सौन्दर्य किसी 'अनिच्छन्नपि' व्यक्ति के ऊपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। स्यात्, यह पुण्य और पाप के बीच मे व्यवस्थित अन्तर की भाँति है। पुण्य को कर्त्ता अपने मनोबल से ग्रहण करता है, और पाप 'बलादिव नियोजितः' के अनुसार स्वयं सिर पर चढ बैठता है। कुछ भी हो, रसास्वादन में रसिक की रसेच्छा आवश्यक अग है। इस इच्छा से एक ओर रस के बाधक कारणों को दूर किया जाता है, और, दूसरी ओर प्रेक्षक में रस-प्रवणता, रसनीयता या रस-ग्राहकता को स्पष्ट किया जाता है।

३. यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यह रसेच्छा स्वयं रसानुभूति में बाधक हो सकती है। यदि प्रेक्षक अपना चेतन प्रयत्न इसी इच्छा को उद्बुद्ध करने में लगा दे, और सौन्दर्य को ग्रहणं करने के लिये मन, चित्त तथा इन्द्रियों की स्वाभाविक क्रियाओं को अग्रसर न होने दे, तो अवश्य ही चेतना की रस-परिणति सिद्ध न हो सकेगी। सुख के चाहने से सुख नहीं मिलता, प्रत्युत सुख की प्राप्ति के लिये हमारा ध्यान किन्ही अन्य क्रियाओं और परिणामों की ओर जाना चाहिये। यह सुखवादी नैतिक सिद्धान्त का विरोधाभास (Hedonic Paradox) है। ठीक यही विधा रस की प्राप्ति और रसेच्छा के सम्बन्ध में है। इस क्षेत्र में तो सम्भवतः व्यास की यह उक्ति ही ठीक उतरे कि सुख से सुख नही मिलता, दुःख से सुख प्राप्त होता है। इसे हम रस का अन्तस्थ विरोधाभास कह सकते हैं।

४. इसी प्रकार एक अन्य विरोधाभास इस क्षेत्र में है। वह यह कि रसास्वादन के लिये प्रेक्षक अपने को इच्छाओं से मुक्त करे, क्योंकि एक तो इच्छाएँ व्यवहार क्रिया को प्रेरित करती हैं जो रस के लिये बाधक हैं,

दूसरे इच्छा स्वयं उत्तेजना के रूप में ही अनुभव की जाती है। उत्तेजना मन और चित्त में व्याकुलता और शरीर के स्नायु-मंडल में तनाव उत्पन्न करती है। हृदय की गति और रुधिर-संचार, श्वांस-प्रश्वास में भी उत्तेजना का प्रभाव विकलता उत्पन्न करता है। इसलिये रसानुभूति में सभी 'इच्छाओं' का शमन होना आवश्यक है। यह 'दम और शम' जितना गम्भीर और स्वाभाविक होगा, उतनी ही उत्तेजना कम होगी और, रस का शान्त प्रवाह उतना ही प्रखर हो जायगा। उत्तेजना के कम होने से रसानुभूति का प्रकर्ष—यह स्पष्ट विरोधाभास है।

५. रसेच्छा स्वयं इच्छा है और उत्तेजना उत्पन्न कर सकती है। अनुत्तेजक इच्छा सम्भव नहीं। एक ओर रसेच्छा स्वयं रस की विघातक है तो दूसरी ओर अनिच्छा रस के प्रति उदासीनता लाने के कारण उसका तिरोभाव कर सकती है। तब क्या हो? इसका एक ही समाधान है कि अपने प्रथम स्फुरण में यह रसेच्छा और इच्छाओं का शमन कर दे और, फिर दूसरे चरण में स्वयं भी विलीन हो जाय। व्यास* के अनुसार पहले सात्विक अहंकार धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य, दोनों का निराकरण कर दें, और फिर स्वयं भी विलय को प्राप्त हो। तब एक निरहंकार आनन्द की अवस्था का अनुभव होता है। स्यात्, यही न्याय रसेच्छा और रसास्वादन के सम्बन्ध में भी चरितार्थ हो।

'रसो वै सः' की व्याख्या में रसेच्छा एक तत्त्व है। इच्छा के और भी कार्यों का वर्णन अगले अध्याय में किया जायेगा। परन्तु जैसाकि हमने माना है रसानुभूति का उपादान या समवायी कारण यदि रसिक का चेतन 'स्व' है, तो चेतना के सम्पूर्ण गुण इसमें अभिव्यक्त होने चाहिए। जैसे हम कंकण के रूप को सुवर्ण के बिना विशद नहीं कर सकते, उसी प्रकार रसाभिव्यक्ति रस-चेतना के बिना स्पष्ट नहीं हो सकती। या, ऐसा करना

---

*त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येनत्यजसि तत्त्यज॥

मानो जल के बिना वीचि-विलास के वर्णन सा अपूर्ण होगा! परन्तु वैज्ञानिक प्रश्न यह है कि (१) चेतना की रस-परिणति क्यों और कैसे होती है, तथा, (२) चेतना के कौन से गुण अपनी रसनीय अभिव्यक्ति में व्यक्त होते हैं?

(१) चेतना का रस-चेतना में रूपान्तरण प्रथम स्फुरण है। इस प्रक्रिया मे सुन्दर वस्तु का सौन्दर्य-प्रभाव अवश्य रहता है। दूसरी ओर प्रेक्षक की सहज रसेच्छा। परन्तु इतना पर्याप्त नहीं। इच्छाओं के शमन से संकल्प शान्त हैं, और उत्तेजना और उत्पीड़न भी विरत। परन्तु चेतना के शान्त समुद्र में इस समय कोई गति और स्फूर्ति अवश्य जगनी चाहिये। बिना समीर उसमें तरंग-भंगिमा कैसे उन्मीलित होगी? स्मरण रहे, हम अध्यात्म के मूल-प्रश्न को ले रहे हैं, और रस-चेतना की मूल-प्रेरणा को खोज रहे हैं। स्यात, यह मूल-प्रेरणा वही है जिसने प्रकृति में विकृति के लिये प्रथम स्पन्दन, सृष्टि के लिये प्रथम प्रयास, जीवन की अभिव्यक्ति के लिये प्रथम उच्छ्वास या बीज में अंकुरण के लिये पहली अंगड़ाई का प्रादुर्भाव होता है। अन्य कोई बाह्य प्रेरणा नहीं दीख पड़ती जो चेतना को रस-चेतना मे परिवर्तित करे। इसीलिये अध्यात्मवादियों ने चेतना का स्वरूप ही मूलत 'रस' माना है, और, यही मानने से "रसो वै सः" की आर्ष अनुभूति समझी जा सकती है। इस मान्यता के आधार से हम यह भी मान सकेंगे कि ज्ञान और क्रिया, जब कभी अपने स्वतंत्र उद्देश्यों की ओर अग्रसर नहीं होते, तब अवश्य ही इसी मूलतः रसमयी चेतना के ही उद्देश्य से प्रेरणा पाते हैं, इसी की तुष्टि और पुष्टि में संलग्न रहते हैं। अत ज्योंही चेतना के आवश्यक जालों का निर्गलन हुआ, त्योंही इसका रस-स्वरूप उद्भासित होने लगा।

(२) रस ही चेतना है। परन्तु चेतना जड़ नहीं। उसमें स्वतः स्फुरण होता है; उसमें स्वाभाविक गति और स्पन्दन हैं। स्यात्, हम इसके उस रूप को नहीं जानते जो गति और स्पन्दन से परे है, जिसे 'स्थाणु और अचल-प्रतिष्ठं' कहा गया है। परन्तु हमें यहाँ इस रूप की आवश्यकता नहीं है।

हमें यहाँ चाहिए चेतना का वह स्वरूप जो समन्तात् प्रवाहों से---इन्द्रिय, मन, बुद्धि के द्वारों से संवेदना आदि रूपों में---आपूर्यमाण हो रहा है, और जो कभी लहरों की वेला में आन्दोलित होता है तो कभी मन्द समीर में ऊर्मिल; कभी वेदना से द्रवित हो जाता है तो कभी प्रकाश की नूतन किरणों से प्रदीप्त; कभी झंझा से झुकलाता है तो कभी वेग से नूतन सीमाओं के विस्तार खोल देता है। अतः रस-चेतना का यही स्फूर्त रूप हमें ग्राह्य है।

(३) इस गति का रूप लयात्मक होता है। लय सौन्दर्यानुभूति का प्राण है। कलाकार की सौन्दर्य-सृष्टि में 'लय' एक प्रबल प्रभाव के रूप में रहता है। वस्तुतः इस प्रभाव का महत्त्व रस-चेतना में लय का संचार करने के लिये है। लय-संचार के पहले ही क्षण में रसिक का मानसिक सम्बन्ध हमारे सामान्य काल, स्थान और परिस्थितियों से टूट कर सौन्दर्य-सृष्टि के विलक्षण देशकालपरिस्थितियों से जुड़ जाता है। गीत की पहली तान या वाद्य की पहली झंकार चेतना-केन्द्र तक पहुँचते-पहुँचते अलौकिक लोक, काल आदि का उन्मीलन कर देती है। संगीत की लयात्मक गति जीवन और चेतना की निकटतम और स्पष्टतम अभिव्यक्ति है। अन्य कलाएँ जितनी संगीतात्मक होती हैं, उतनी ही कलात्मक होती हैं। हमारे साधारण व्यक्तित्व के विलय से नवीन, रस-ग्राहक, रस-प्रवण, उत्तेजना और उत्पीडन से मुक्त, जिस व्यक्तित्व का उदय होता है, वही 'चमत्कार' का आदि स्रोत है।

(४) सामान्य व्यक्तित्व का लय और रस-प्रवण व्यक्तित्व का उन्मीलन रसोन्मेष के लिये प्रथम क्षण है। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ज्ञान, व्यवहार की प्रेरणा, यहाँ तक कि हृदय-गति, रुधिर-संचार और श्वासोच्छ्वास में भी रस की लयात्मक गति व्याप्त हो जाती है। विशेषतः यह जानने योग्य है कि रसोन्मेष या लयोन्मेष की दशा में मन, बुद्धि आदि की क्या दशा रहती है। संकल्प-विकल्पात्मक चेष्टाओं का नाम 'मन' है। 'यह मुझे प्रिय है और वह अप्रिय, यह उपादेय, वह हेय' इस

प्रकार की आन्तरिक धाराओं को 'मन' कहते है। बुद्धि का साधन तर्क और विचार हैं। वह 'मन' की इच्छा व अनिच्छाओ को तर्क द्वारा स्थिर बनाती है। बुद्धि की क्रिया द्वारा 'प्रिय' या 'प्रेय' भी 'श्रेय' में बदल जाता है। 'जो प्रेष्ठ है वही श्रेष्ठ भी है'—यह विचार के द्वारा जीवन में लाया जाता है। इससे 'चित्त' को प्रसाद या इसका विपरीत 'विषाद' प्राप्त होता है। 'अहंकार' (Ego) इन क्रियाओं का संचालक, प्रेरक और अधिष्ठान होता है। 'मैं यह हूँ, वह नहीं हूँ'—यह अहंभाव है जो सम्पूर्ण मानसिक चेष्टाओं में व्याप्त रहता है। प्रश्न यह है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार नामक इन आन्तरिक प्रयत्नों की लयोन्मेष के क्षण में क्या अवस्था होती है ?

रंग-मंच पर एक अभिनय या नृत्य देखिये, कोई राग सुनिये या किसी भवन के प्राङ्गण में खड़े हो जाइये और तब अपने 'स्व' का अन्तर्वीक्षण कीजिये। एक ओर रसेच्छा के उदय से और दूसरी ओर 'वस्तु' के प्रभाव से, मन के साधारण व व्यक्तिगत संकल्प-विकल्प शान्त हैं। स्वेच्छा से प्रेरित और सौन्दर्य से आकृष्ट होकर, मन, अनायास और एकपदेन, एक ऐसे विशाल अन्तराल में प्रवेश कर रहा है जिसमें उसके साधारण जीवन के काल, देश और परिस्थितियाँ भिन्न हैं। वह सौन्दर्य का लोक है, जहाँ हमारे समाज व जीवन की सारी मीमांसा, मूल्य और मान भिन्न हैं। काल, स्थान और कारण-कार्य के प्राकृतिक नियम वहाँ लागू नहीं होते। वहाँ 'मुख को कमल' मानने में बाधा नहीं होती। वहाँ मनुष्य भगवान् से कहता है : हे भगवन्, माना कि तूने मुझे बनाया, परन्तु मैं तुझ से कम नहीं हूँ, क्योंकि तूने निशा का तम उपजाया, मैंने उस तम के घटाटोप को प्रकाशित करने के लिये दीपक का आलोक इत्यादि। संक्षेप में, कलाकार द्वारा सृष्ट सौन्दर्य का ऐसा लोक है जहाँ रस, भाव, कल्पना आदि के अपने नियम, विधि-निषेध, मर्यादा-मूल्य, यहाँ तक कि सम्पूर्ण मानसिक व प्राकृतिक विधान भी, अपने और विचित्र होते हैं। उस विचित्र काल, स्थान और परिस्थितियों से घटित लोक में मन के संकल्प-विकल्पों के

लिये न अवकाश है और न अवसर। 'निरालम्ब मन चकृत धावे' की अवस्था होती है।

यहाँ हमें कुछ स्मरण योग्य बातें मिलेंगी। १. रसास्वादन के लिये 'मन' का जितना 'रेचन' होगा, उतनी ही रसानुभूति प्रखर होगी। इसलिये सौन्दर्य का पहला कार्य 'मन' को रिक्त 'निरालम्ब' बनाना होता है। २. इस कार्य के लिये सबसे अत्यधिक प्रभाव उन कलाओं का होता है जिनमे 'गति' होती है। संगीत, नृत्य, अभिनय, साहित्य में यह गुण प्रकृष्ट रूप से रहता है। संगीत स्वरों द्वारा निर्मित लयात्मक गति का श्रेष्ठ रूप है। जीवन के गम्भीर स्तरों में 'लय' उत्पन्न होते ही उसके ऊपरी भागों मे स्थित व्यक्तित्व का भार मानो वाष्प बन कर उड़ जाता है। ३. नृत्य और अभिनय भी 'लय' के प्रबल और शुद्ध रूप हैं। साहित्य इस 'लय' गति में अर्थों का स्थैर्य और आलोक जोड़ देता है। ४. 'नाट्य' में 'गति' और 'अर्थ' दोनों से समन्वित 'लय' उत्पन्न की जाती है। इसमे संगीत, नृत्य, अभिनय, साहित्य का ऐसा अद्भुत सम्मिश्रण रहता है कि वे सब मिल कर एक ऐसे सौन्दर्य का निर्माण करते है जैसे स्वरो से घटित मनोहर राग। ५. नाट्य न केवल लयात्मक, गत्यात्मक व अर्थवती कलाओं का मिलन-बिन्दु है, इसमें चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि उन कलाओ का भी समावेश रहता है जो स्थैर्य, विस्तार, दृश्य रूपों का उद्घाटन करती हैं। नाट्य कलाओं का मूल बीज है जिससे अन्य कलाएँ अपना-अपना रूप, स्वभाव व स्थान, महत्त्व आदि ग्रहण करती हैं। भरत का 'नाट्य-शास्त्र' कला-मीमांसा का प्रस्थान सिद्धान्त इसी कारण से है। ६. मन के 'रिक्त' होने से संकल्प-विकल्प और उत्तेजना का शमन होता है। इसके फलस्वरूप एक अद्भुत 'शम' या 'शान्ति' का भाव प्रकट होता है जो रसानुभूति का सार है। ७. परन्तु मन का रेचन या शमन केवल निषेधात्मक क्रिया है जो बहुत काल तक नहीं चल सकती। संगीत का लयात्मक प्रभाव (जो अन्य कलाओं में भी न्यूनाधिक व्याप्त रहता है) जो 'रेचन' उत्पन्न करता है, शून्य हो जायगा यदि इसमें कोई भाव या अर्थ जिन्हें बुद्धि ग्रहण

कर सके, न जग जायें। इसलिये संगीत का विकास एक ओर साहित्य की दिशा में होता है जहाँ इसकी गति को 'अर्थों' का आधार व आलोक प्राप्त हो जाते हैं। एक दृष्टि से साहित्य अर्थों से गठित संगीत है, जैसे कि सगीत स्वयं स्वरों का साहित्य है। संगीत के विकास की दूसरी दिशा स्वरों के द्वारा रचित नूतन रूपों के आविष्कार की ओर होती है; परन्तु स्वरों की संगति में, इसके आरोह-अवरोह और विस्तार में ऐसा उन्मुक्त अवकाश रहता है कि रसिक अपने गम्भीरतम भावों को उसमें आरोपित कर सकता है—उन भावों को जिन्हें शब्द व्यक्त नहीं कर सकते, किन्तु जिन्हें मन स्वीकार करता है, रसिक अपने सम्मुख स्वरों के रूप में लहरे मारता हुआ देखता है। ये भाव कभी गम्भीर, अवर्णनीय वेदना के रूप में, कभी जीवन की मूल प्रवृत्ति या उन्मुक्त हर्ष, उत्साह आदि के रूप मे रसिक संगीत के स्वराकाश में भर देता है। संक्षेप में, मन में यद्यपि साधारण उत्तेजनाएँ शान्त हो जाती हैं, परन्तु इसके रिक्त अवकाश मे जीवन के मूल संकल्प जग उठते हैं।

(३)

रसोन्मेष की अवस्था में 'बुद्धि' क्या करती है? 'बुद्धि' का सामान्य कार्य, जैसा कि हमने देखा है, साधारणतया 'मन' के अधीन रह कर, इसकी इच्छा या अनिच्छा के अनुसार, संसार के विविध भोग-पदार्थों का उद्घाटन करना और विचार, तर्क, कल्पना आदि के द्वारा उपयोगी निर्णयों का प्रदान करना होता है। विवेकी मनुष्य में बुद्धि मन के सदैव अधीन नहीं रहती, और, कुछ मामलों में अपना स्वतंत्र निर्णय भी प्रकट करती हैं। रसास्वादन में मन स्वयं रसेच्छा के अधीन रहता है। इसलिये इस समय बुद्धि की स्वाभाविक गति का स्वत: अवरोध हो जाता है। परन्तु इतना पर्याप्त नहीं। यदि सौन्दर्य बुद्धि की स्वाभाविक चेष्टाओं के लिये अवकाश प्रदान नहीं करता—या तो इसलिये कि वह अत्यन्त सरल है जैसा कि मिट्टी के खिलौने में होता है, परन्तु बुद्ध की मुद्राओं में नहीं, या इसलिये कि वह अत्यन्त जटिल, कर्णकटु और दूषित है जैसा कि 'केशव

की कविताई' में है, परन्तु कालिदास के प्रसन्न-पद साहित्य में नहीं---तो निश्चय ही वह सौन्दर्य निष्प्रभाव व विकलाङ्ग होगा। अतएव प्रथमतः सुन्दर वस्तु का कलेवर ऐसा सुघटित होना चाहिये कि बुद्धि के अवगाहन के लिये पर्याप्त अवसर मिले। इन्द्रिय-प्रणालिकाओं से निकल कर बुद्धि वस्तु के अंग-प्रत्यंग, गति, लय, विस्तार, योजना, सामग्री के वर्ण, स्वच्छता, सौभाग्य आदि गुणों में उलझ जाये, और, फिर उसके पूर्ण रूप, उसकी अविकलाङ्गता, सामञ्जस्य, अन्विति, सन्तुलन आदि गुणों का अपनी क्रियाओं द्वारा निश्चय करे---यदि ऐसा अवसर बुद्धि के लिये मिलता है तो अवश्य ही वस्तु सुन्दर है। परन्तु बुद्धि सौन्दर्य के स्थूल कलेवर पर ही नहीं टिकती। उसके लिये भावों का विशाल जगत् चाहिये और अर्थों का स्फुट आलोक। इसलिये प्रत्येक कला---संगीत से लेकर स्थापत्य तक---अपने रूप में भाव व अर्थ की अभिव्यक्ति भी करती है। बुद्धि इनको ग्रहण करने में लग जाती है। परन्तु रसिकों का अनुभव है कि यदि बुद्धि अर्थ-ग्रहण पूर्णरूपेण कर लेती है तो इसकी क्रिया विरत होने से 'रस' भी विरस हो जाता है। रसानुभूति में बुद्धि से अग्राह्य तत्त्व उसका सार है। वस्तुतः बुद्धि की क्रियाएँ वहाँ सफल होती हैं जहाँ अर्थ और उनके सम्बन्ध स्पष्ट, निश्चित व सीमित होते हैं। विज्ञान और गणित में इसका यह स्वरूप प्रकट होता है। किसी वस्तु को 'जानने' का तात्पर्य ही यह है कि बुद्धि ने उसको सीमाबद्ध, स्पष्ट और शब्दों में व्यक्त करने योग्य बना दिया। तब प्रश्न यह है कि रसानुभूति में एक ओर बुद्धि को अवसर मिलना चाहिये, क्योंकि केवल इसके गत्यवरोध से शून्यता उत्पन्न हो सकती है, दूसरी ओर जानने की चेष्टा के द्वारा वस्तु के सौन्दर्य को 'सीमित' होकर लुप्त होने का भी भय है। तब क्या स्थिति होती है?

बुद्धि की सामान्य गति 'ज्ञात' की ओर से 'अज्ञात' की ओर होती है, जैसे गणित और विज्ञान के प्रश्नों में होता है। प्रश्न में 'ज्ञात से अज्ञात की ओर गति' और 'आश्चर्य', पूर्वज्ञान, कल्पना की रचनात्मक चेष्टा और इनके द्वारा उचित दिशा का अवगाहन आदि तत्त्व रहते हैं। इन तत्त्वों

मे से किसी एक के अभाव में या शिथिल होने पर प्रश्न से उत्तर की ओर गति सन्दिग्ध हो सकती है। सौंदर्य के अवगाहन में ये तत्त्व सक्रिय और प्रबल हो उठते हैं। जैसे, सुन्दर वस्तु का 'ज्ञात' सौंदर्य 'अज्ञात' दिशाओ मे बुद्धि के संचार के लिये अवकाश प्रदान करता है। 'ज्ञात' और 'प्रस्तुत' तो सुन्दर वस्तु में थोड़ा ही तत्त्व हो सकता है, परन्तु वह 'अज्ञात' और 'अप्रस्तुत' की ओर असंख्य संकेत प्रदान करता है। परन्तु रस-चेतना के उदय होने मे हमे 'उत्तर' की आकांक्षा नहीं है जैसा कि गणित के प्रश्न मे होता है; इसलिये बुद्धि का प्रवाह नियमित या सीमित दिशाओं में न होकर अनन्त धाराओं में बहने लगता है। जीवन के आकस्मिक बन्धनों के शिथिल हो जाने मे, इसकी मूल-भावना, प्राणों का स्वस्थ स्पन्दन, आनन्द के अननुभूत, पुलकित स्रोत बहने लगते हैं, और, बुद्धि की 'अप्रस्तुत' की ओर गति को पुष्ट करते हैं। बुद्धि सौंदर्य के अनन्त इंगितों के सहारे 'नवीन' की ओर उड़ती है। गणित के प्रश्न की अपेक्षा 'आश्चर्य' तो इस समय सौ गुना होता है। इसी प्रकार सौंदर्य के अवगाहन के लिये पूर्वज्ञान आवश्यक होता है जैसे गणित या विज्ञान में प्रश्न का उत्तर पाने के लिये। पूर्वज्ञान के बिना विज्ञान में कल्पना उठ नहीं सकती। इसी प्रकार सुन्दर वस्तु मे निहित इंगितों को समझे बिना सौंदर्यानुसन्धायनी कल्पना अज्ञात और अप्रस्तुत का अवगाहन करने के लिये न उठ सकेगी। एक उदाहरण लीजिए—कबीर का वाक्य · ''कबिरा जब हम पैदा हुए—सब हँसे हम रोये। ऐसी करनी कर चलो—हम हँसे सब रोये।'' इस सरल पदों मे बनी हुई साखी में हँसना, रोना, सब, हम, करनी आदि शब्द है जो वस्तुतः अनेक भावलोकों की ओर प्रबल संकेत करते हैं। 'सब हँसे, हम रोये' में जीवन का तथ्य निहित है। इसमे जीवन का सम्पूर्ण वैराग्य, नैराश्य और नियति का विधान झंकृत हो उठा है। ''ऐसी करनी कर चलो—हम हँसे, सब रोयें'' में नीति का सर्वस्व तत्त्व निहित है, और, जीवन की अखिल वेदना और विडम्बना। परन्तु शब्दो में छिपे हुए इन गम्भीर संकेतों को समझने के लिये दर्शन और नीति का पूर्वज्ञान आवश्यक है।

बुद्धि की क्रिया का चरम लक्ष्य 'समाधान' है। सौंदर्य के अवगाहन में इस समाधान का क्या रूप होता है ? समाधान विचार-क्रिया का वह चरम क्षण है जब एक आन्तरिक ज्योति का स्फोट होता है। सौंदर्य के आस्वादन मे चतुर्दिक् से यह ज्योति-स्फोट होता है। परन्तु प्रश्न यह है कि सौंदर्य किन समस्याओं का समाधान और किस प्रकार करता है ? संगीत को लीजिये। हमारे व्यावहारिक या वैज्ञानिक जीवन की समस्याओं का हल संगीत से नहीं मिलता। परन्तु सम्भवतः होता यह है कि संगीत या किसी भी प्रकार के सौंदर्य का प्रभाव बुद्धि के ऊपर लदे हुए और उसकी गति को कुण्ठित करने वाले जीवन के आकस्मिक जटिल जालों को गला देता है जिसके फलस्वरूप बुद्धि की प्रज्वलित शिखा अपने स्वाभाविक और अमन्द प्रकाश में जगमगा उठती है। इसे इस प्रकार भी देखिए : बहुधा देखा जाता है कि गम्भीर चिंतन करने वाले पुरुष किसी समस्या पर विचार करने के लिये उसके मूल पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। इसके लिये वे पहले पूर्वसंचित विचारों के जालों को हटाते हैं और विचार-क्रिया की स्वाभाविक गति को उद्दीप्त करते हैं। जितना वे गहरे में पैठते हैं उतना ही उनकी विचार-क्रिया सक्रिय और सफल होती है और वे प्रकाश पाते हैं। संगीत का प्रभाव विचार-क्रिया के आवरणों को हटा कर हमें अन्तःज्योति के उस मूल के समीप ले जाता है जहाँ से बुद्धि स्वयं अपना वैभव और शक्ति ग्रहण करती है। सौंदर्य के आस्वादन में हमें केवल समाधान का ही सुख नहीं मिलता, अपितु समाधान के लिये अपूर्व प्रकाश और बल प्राप्त होता है।

साहित्य इस मामले में संगीत और अन्य कलाओं से आगे है। संगीत (नृत्य, गायन और वादन) में नाद का प्रभाव रहता है; साहित्य में यह नाद शब्दायमान हो जाता है। शब्द के साथ अर्थ चलता है। इसका अर्थ है कि संगीत और साहित्य में सौंदर्य मुखर होता है और अन्य कलाओं मे मौन। साहित्य में संगीत की अपेक्षा सौंदर्य की मुखरता और भी स्पष्ट हो जाती है। अतएव साहित्य रसिक को अर्थ के आलोक में ले जाता है जिसे ग्रहण कर बुद्धि प्रसन्न होती है। तर्क की क्रियाओं में बुद्धि को समा-

धान के साथ श्रम भी मिलता है। साहित्य-सौंदर्य के ग्रहण करने में जीवन के अनेक सत्य और रहस्य बुद्धि मानो स्वयमेव प्रसाद के रूप में पा लेती है।

(४)

मन इस समय रस-प्रवण होता है, और, बुद्धि भी इसी के अधीन रहती है। मन और बुद्धि की सफल क्रियाओं का प्रसाद चित्त को मिलता है और चित्त प्रसन्न होता है। प्रश्न यह है कि रसास्वादन में चित्त की प्रसन्नता का स्वरूप क्या होता है? कला अनेक भावों को सौंदर्य का जामा पहना कर प्रस्तुत करती है जिनमें दुःख, भय, ग्लानि, खेद, क्रोध, निराशा, पीड़ा, विरह, विरूपता आदि के भाव भी रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सुख की अपेक्षा दुःख में (इसी प्रकार दूसरे भावों में भी) अधिक प्रभाव और गम्भीरता होती है। सुख में मनुष्य उछलता है, दुःख में अन्तर्मुखी होता है। अतएव कला अपने प्रभाव को गम्भीर और अन्तर्मुखी बनाने के लिये सुख की अपेक्षा दुःख का अधिक प्रयोग करती है। तब तो प्रश्न उठता है कि कला के सौंदर्य से चित्त की प्रसन्नता कैसी?

सबसे पहले 'रस' के अनुभव में से हमें इस विचार को निकाल देना चाहिये कि हमारे जीवन के साधारण सुख-दुःख उसमें रहते हैं। सुखान्त, दुःखान्त आदि कृतियों की कल्पना भ्रममूलक है। सुख की सुखता और दुःख की दुःखता किसी रसायन-विधि से (जिसकी चर्चा अगले अध्यायों में होगी) सौन्दर्य में पड़ कर केवल 'रस' के रूप में परिणत हो जाती है, और, रस के आस्वादन में चित्त की जो स्थिति होती है उसे 'सुखी', दुःखी न कह कर केवल रसमयी ही कहा जा सकता है। रस के द्वारा चित्त को, सामान्य अर्थ में, सुखी या दुःखी, तृप्त या अतृप्त नहीं बनाया जाता, क्योंकि पहले तो मन के साधारण संकल्प और उत्तेजना शान्त होने पर ही रस का उदय होता है, दूसरे बुद्धि भी अपनी साधारण तर्क तथा विमर्श की क्रियाओं से उपरत होकर ज्योति के उस उद्गम पर पहुँचती है जहाँ से

उन क्रियाओं को बल और प्रकाश प्राप्त होता है। तब होता यह है कि चित्त की सुख की प्राप्ति और दुःख से भागने की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ स्वयं उपरत हो जाती हैं। इन प्रवृत्तियों के कारण चित्त की जो जड़ीकृत, कठिन अवस्था हो जाती है, वह सौन्दर्य के प्रभाव से पुनः तरल और कोमल हो जाती है। जीवन के प्रवाह की जो सरल और स्वाभाविक गति चित्त के साधारण भय, उद्वेग और लालसाओं के कारण अवरुद्ध हो जाती है, वह पुनः मानो मुक्त हो आगे बढ़ती है। या, यों कहिये कि सांसारिक सुख-दुःख और अन्य द्वन्द्वात्मक अनुभवों से चित्त में जो तनाव, जड़ता आदि उत्पन्न हो जाते हैं, इनसे हमारी स्वाभाविक भावना की शक्ति (power of feeling) के स्रोत रुक जाते हैं। जीवन के अन्तर्द्वन्द्वों और संघर्षों मे (जिनके बिना सांसारिक सुख-दुःख सम्भव नहीं) हमारा मानसिक सन्तुलन डगमगा जाता है। गीता के शब्दों में मन 'अयुक्त' हो जाता है, और, उसमें भावना की शक्ति क्षीण हो जाती है (न चायुक्तस्य भावना)। इसका अभाव ही स्वयं महान् कष्ट है। चित्त के ऊपर सौन्दर्य का प्रभाव भावना के रुद्ध स्रोतों को खोल देता है, जिससे उसे प्रखर अनुभूतियों की क्षमता प्राप्त होती है। लकवा मारे हुए मनुष्य के स्तब्ध शरीर मे पुनः जीवन, गति और स्पन्दन का संचार होने मे जो आनन्द की अनुभूति हो सकती है, उसी प्रकार की अनुभूति चित्त में भावनाओं के संचार से प्राप्त होती है। सौन्दर्य ही इस संचार का कारण होता है।

यह न समझना चाहिये कि कला चित्त की वृत्तियों का विरोध करके निर्द्वन्द्व समाधि जैसी स्थिति उत्पन्न करती है। हाँ, कला द्वारा सृष्ट सौन्दर्य चित्त को उसके साधारण अन्तर्द्वन्द्वों और दैनिक जीवन की जटिलताओं से दूर हटा कर एक ऐसे अद्भुत लोक में ले जाता है जहाँ सभी वस्तुएँ मानो किरणों से बनाई गई हैं, जहाँ हमारे साधारण काल, स्थान, मान-मूल्यों के नियम नहीं है, जहाँ परिस्थितियों की सत्ता प्रातीतिक है, जहाँ क्रीडा और रमण ही एकमात्र उद्देश्य है। सौन्दर्य के उस अलौकिक तत्त्वों से गठित भाव-लोक में हर्ष-विषाद, भय, ईर्ष्या, सफलता-विफलता, पाप-

पुण्य, उत्थान-पतन आदि सभी होते हैं। जब मन स्वयं भावना-प्रवण होता है तो भावनाएँ अवरुद्ध या चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध होने के बजाय उस भाव-लोक में और भी स्वच्छन्द होकर गतिशील होती हैं। अनेक-विध भावनाओं के प्रभाव से कभी चित्त द्रवित होता है तो कभी दीप्त, कभी स्फूर्त होता है तो कभी चमत्कृत। जैसे किसी सरोवर में रुका हुआ जल अनेक स्रोतों में मुक्त होकर बह निकले, उसी प्रकार चित्त में रुकी हुई भावना मानो खुले हुए द्वार पाकर स्रोतों में बह जाय, इस प्रकार की अवस्था रसास्वादन में चित्त की होती है। वस्तुतः अरस्तु ने जिसे रेचन (Catharsis) कहा है वह भावना के स्रोतों का उन्मुक्त संचार ही है। व्यास ने चित को 'उभयतो वाहिनी नदी' माना है, क्योंकि यह आशा-निराशा, पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों में दोनों ओर समान रूप से बह सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान भी इन द्वन्द्वों को एक ही तत्त्व की दो विरोधी गति (Ambivalence of emotions) मानता है। सौन्दर्य अपने सामञ्जस्य और सन्तुलन (Harmony and Balance) के बल से भावनाओं के आन्तरिक द्वन्द्व (Ambivalence) से चित्त को ऊपर उठा कर उसे भावों के उस लोक में ले जाता है जहाँ उसे अपनी मूल प्रवृत्ति और स्वच्छन्द गति के लिये पर्याप्त अवकाश मिलता है।

(५)

रसास्वादन में हमारे अहंकार या अहंभाव (Ego) की क्या स्थिति होती है?

जैसा कि पहले कहा जा चुका है अहंभाव, मन, बुद्धि, चित्त की समस्त क्रियाओं और दशाओं का अपने को कर्त्ता और अधिष्ठान मानता है। फलतः रसास्वादन में मन, बुद्धि व चित्त आदि की समस्त क्रियाएँ और दशाएँ 'अहं' की ही परिणति होती हैं। मन में जीवन के आदिम व मूल संकल्पों का जागरण, बुद्धि के द्वारा नूतन दिशाओं का उन्मेष और चित्त में अवरुद्ध भावना की सहस्र-धारा का प्रवाह, ये सब 'अहं' अपने ही स्वरूप का

विस्तार स्वीकार करता है। परन्तु एक दृष्टिकोण होता है जब 'अहं' अपने को 'मम' से अलग करता है, जब 'भोक्ता' अपने 'स्व' को भोग और भोग्य से, ज्ञाता अपने को ज्ञान और ज्ञेय से विविक्त करके विशेष आनन्द का अनुभव करता है। अपने ही अस्तित्व की अनुभूति (Feeling of being या self-feeling) 'अहं' के लिये इष्ट होती है। सौंदर्य मानो अपने प्रहार से 'अहं' के ऊपर छाये हुए आवरणों को गला कर, उसकी सत्ता के मूल स्वरूप का उसके लिये उद्घाटन करता है। संगीत का शुद्ध प्रभाव मानो 'अहं' को उन बोझों को उतार फेंकने के लिये विवश कर देता है जो जीवन की आकस्मिक परिस्थितियों ने उसके ऊपर लाद दिये हैं। इसी प्रकार नृत्य और अभिनय भी आक्रामक होते हैं। भवन की विशालता, चित्र और मूर्ति का वैचित्र्य भी 'विवश' करने वाली शक्तियाँ हैं। साहित्य में गति और 'नूतन' का प्रस्फुरण 'अहं' के आकस्मिक रूप को दबाते हैं। कला में जो 'रसिक' को 'विवश' करने वाला प्रभाव है, वह 'अहं' को उसके व्यावहारिक स्वरूप से मुक्त करके अपनी सत्ता की अनुभूति की ओर ले जाता है। आत्म-सत्ता की यह प्रखर अनुभूति 'रस' का प्राण है।

परन्तु यहाँ भी वही विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न होती है। अहं-भाव के तीव्र होने से रस का तिरोभाव और अहंभाव के शिथिल होने से उदासीनता, और फिर रस का अभाव। नाटक में रंगमंच पर दुष्यन्त व शकुन्तला का अभिनय हो रहा है। यदि प्रेक्षक रस-वासना से वासित होकर, समवेदना और अन्तर्वेदना के बल से, अपने 'अहं' को दुष्यन्त या शकुन्तला के अस्तित्व में प्रक्षेप कर देता है तो उसकी रसानुभूति तत्काल 'काम' में परिणत हो जायगी, जिसमें उद्वेग और उत्तेजना बढ़ जाने से 'रस' समाप्त हो जायगा। दूसरी ओर, यदि किसी कारण से प्रेक्षक 'अहं' का आरोप नायक या नायिका में नहीं कर पाता, तो भी रसानुभूति निर्बल हो जायगी। इस विरोधाभास के कई समाधान हैं। जैसे, भावों का सामान्यीकरण (Generalization of feeling) या अ-वैयक्तिक भावना (Impersonal feeling) का उदय। इनमें पहला समाधान ठीक

नहीं, क्योंकि यह भ्रान्ति पर आश्रित है : जिस प्रकार अनेक 'मनुष्यों' को देखकर हम इनमें विद्यमान 'समान' तत्त्व को ग्रहण कर लेते हैं, जिसे हम सामान्य गुण—मनुष्यत्व—कहते हैं, उसी प्रकार हम भावना का सामान्यीकरण नहीं कर सकते। 'भावना' एक व्यक्तिगत घटना है जो व्यक्ति से पृथक् कर निःसत्व हो जायगी। इसी प्रकार अ-वैयक्तिक भावना—यह पदावली परस्पर विघातक अर्थों से बनी है जिसका कोई अर्थ एक साथ नहीं निकल सकता। दूसरा समाधान 'साधारणीकरण' के द्वारा दिया जाता है। प्रेक्षक और नायक (या नायिका) दोनों अपने स्वकीय रूपों को भूल कर समान या साधारण व्यक्तित्व धारण करते हैः—अर्थात् प्रेक्षक अपने सांसारिक अस्तित्व को भुलाकर अपने को केवल 'रसिक' मानता है और उधर दुष्यन्त, दुष्यन्त न रहकर, शकुन्तला, शकुन्तला न रहकर, रसिक के लिये भोग्य पुरुष और भोग्या स्त्री के रूप में परिणत हो जाते हैं। रसिक इस भ्रान्त अवस्था में समझता है कि मैं 'देवदत्त या यज्ञदत्त नहीं हूँ'—या तो मैं दुष्यन्त हूँ या रसेच्छा से प्रेरित केवल मनुष्य। हमें यह समाधान मान्य नहीं, क्योंकि हम 'रस' को 'भ्रान्ति' से उत्पन्न हुआ न मानकर जीवन की किसी मौलिक प्रेरणा से ही उत्पन्न मानने को तैयार हैं।

वह मौलिक प्रेरणा व्यक्ति में अपने अस्तित्व के मूल की ओर जाने की प्रवृत्ति है। यह मूल सम्भवतः अचेतन होते हुए भी हमारी व्यक्तिगत चेतना का स्रोत और आधार है। 'अहं' इसी मूल से उदित हुआ अङ्कुर है। कला का गम्भीर प्रभाव अहंभाव को केन्द्रोन्मुखी कर देने से ही लब्धप्राण होता है। संगीत का पहला 'प्रहार' अहं को अन्तर्मुखी बनाता है; और, इस 'प्रहार' को पुनः पुनः ग्रहण करने के लिये ही अवधान स्वरों की ओर जाता है, परन्तु वह पुनः पुनः 'अहं' को उसकी मूल सत्ता की ओर ले जाता है। संगीत में ध्यान-अवस्था का इसीलिये सर्वाधिक उपयोग होता है। जैसा हमने पहले माना है कि संगीत का साहित्य की ओर जो विकास हुआ है उसमें साहित्य रसिक के 'अहं' को 'अर्थ' का आलोक और आधार प्रदान करता है, दूसरी ओर शुद्ध संगीत अपने सौन्दर्य की सारी सम्पदा, लय,

गति, ओज, उत्थान-पतन और भावों का सम्पूर्ण वैभव, 'अहं' को प्रदान करता है। वस्तुत: संगीत 'अहं' को जीवन की मूल चेतना की सारी सम्पत्ति देकर उसे विराट्, स्वच्छन्द, निर्द्वन्द्व बना देता है। अन्य कलाओं मे भी न्यूनाधिक यही होता है।

वस्तुतः सौन्दर्य के प्रभाव से भोक्ता के अहंभाव का यह परिणमन (*Transformation of self*) 'रस' का आवश्यकीय तत्व है। इससे 'अहं' को मूल-चेतना की स्फूर्ति, स्वच्छन्द लयात्मक गति, अनन्त अन्तराल, आनन्द का अक्षय स्रोत मिलते हैं जो रसानुभूति को इतना सम्पन्न और प्रबल बना देते हैं। आत्म-सत्ता की अनुभूति में कलाएँ अपने अपने गुणों को भरने का प्रयत्न करती हैं, जैसे स्थापत्य में स्थान की स्थिति, गोचरता, स्थैर्य आदि। साहित्य-कला में नायक और नायिका का प्रचार रसिक को 'अहंभाव' प्रदान करने के लिये ही किया गया है, इसका कोई ऊपरी कारण नहीं है। 'नायक' वही व्यक्ति है जिसमें रसिक के अहंकार को मूर्त होने के लिये सर्वाधिक अवकाश मिलता है। और, अहंकार का वही रूप व्यक्त किया जाता है जो साधारण, सीमित और निर्बल नहीं, वरन् जिसमें जीवन की मूल शक्ति और चेतना का आलोक ओत-प्रोत रहता है।

(६)

रसास्वादन में शरीर, स्नायु और नाड़ी-मण्डल, हृदय, श्वास क्रिया, संक्षेप में, सम्पूर्ण जीवित-संस्थान (Organism) की जो परिणति होती है, यदि इसके विषय में सन्देह हो तो संगीत और अभिनय में गायक, वादक, अभिनेता आदि तथा प्रेक्षकों के शरीरों में गति, स्पन्दन, भंगिमा, और मुद्राओं को देखिये। कल्पना कीजिये कि ये गति, भंगिमा आदि सब गायक और श्रोता में विलीन हो गये। न गायक ताल और लय के साथ शरीर से इंगित करता है, न श्रोता स्वर-सन्दोह को ग्रहण करने के लिये सिर हिलाता है। ऐसी दशा में संगीत के रस का क्या स्वरूप होगा? सम्भवत: कानों से 'श्रवण' क्रिया चलती रहे, और बुद्धि उसमें स्वरों के ताने-बाने को ग्रहण करे। किन्तु संगीत को सर्वात्मना ग्रहण करने के लिये शरीर

को स्वर-लहरी के अधीन करना ही होगा। और, ज्यों ही शरीर को संगीत के अधीन किया गया कि इसमें स्वरों की तरंग दौड़ी, मुख और नेत्रों मे अनुरूप भंगिमा का उदय हुआ, हृदय में नियत गति प्रारम्भ हुई, संक्षेप में, सारे शरीर की बाह्य और आभ्यन्तरिक चेष्टायें स्वरों के साथ संगति करने लगीं। बाह्य चेष्टायें तो स्पष्ट होती हैं; आभ्यन्तरिक चेष्टाओं में हृदय, मस्तिष्क, श्वासोच्छ्वास, मांस-ग्रन्थियों (Glands) की क्रिया, रक्त-संचार आदि में होने वाले परिवर्तन हैं। इनके विषय में किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचने के लिये पर्याप्त सामग्री तो नहीं है, किन्तु निम्नलिखित तथ्य यह स्पष्ट करते हैं कि कलात्मक आनन्द व रसानुभूति का पार्थिव आधार शरीर-संस्थान अवश्य है :—

(क) रसास्वादन मे भावोद्रेक का अंश रहता है। जेम्स-लांगा नामक मनोविज्ञान के सिद्धान्तानुसार भावोद्रेक शरीर की बाह्य व आभ्यन्तरिक चेष्टाओं के बिना सम्भव नहीं होता, जैसे, क्रोध का अनुभव रक्त आँखें, शरीर में कठोरता आदि बिना, अथवा भय, पीला पड़ना, अंगों में कम्पन आदि के बिना सम्भव नहीं होता। रसास्वादन में बाह्य क्रिया के उपराम होने पर भी शरीर की आभ्यन्तरिक चेष्टाएँ रहती हैं। वस्तुतः व्यवहार के स्थगित हो जाने के कारण बाह्य-क्रियाओं के अवरोध से रस की अनुभूति में 'वेग' (Intensity) आता है। रस की पूर्णता और पुष्टि के लिये शरीर की बाह्य और आभ्यन्तरिक चेष्टाएँ जो स्वरादि के अधीन होकर उदित होती हैं अनिवार्य है।

(ख) संगीत में स्वर व स्वर-निर्मित रूप (Musical forms), चित्र आदि मे वर्ण-रेखा के विन्यास को ग्रहण करने के लिये अवधान (Attention), कल्पना, स्मृति, इन्द्रियों से संवेदनाओं का ग्रहण, आदि सभी आवश्यक होते हैं। इनके कारण शरीर 'विशेष' मुद्रा व भंगिमा को स्वीकार करता है। 'रस' की आभ्यन्तरिक अनुभूति के अतिरिक्त इससे जो प्रसन्नता अथवा आनन्द प्राप्त होता है वह मुख पर स्पष्ट झलकता है। यह आनन्द अंशतः 'शरीरज' ही है।

(ग) 'लय' का सम्बन्ध 'हृदय-गति' से अवश्य है। 'उद्वेग' के अनुभव (जैसे, शोक, क्रोधावेग, भय आदि) में, हृदय की गति अवश्य ही अनियमित हो जाती है। श्वासोच्छ्वास में भी इसका प्रभाव दीखता है। स्वर आदि से निर्मित 'गति' को ग्रहण करने में हृदय की गति भी लयात्मक (Rhythmical) हो जाती है। इससे शरीर की धातुओं पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। इसी कारण कुछ संगीत-विशारद संगीत के द्वारा शारीरिक रोगों की चिकित्सा सम्भव मानते हैं।

(घ) 'सन्तुलन' (Balance) का अनुभव भी मूलतः शरीरज है। विज्ञान के अनुसार कर्णेन्द्रिय में ऐसे जीवित तन्तु विद्यमान हैं जो हमें शरीर की सन्तुलित स्थिति का बोध कराते हैं। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के कारण हम कुछ प्रयत्नों के बाद ही सीधा खड़ा होना सीखते हैं। हमें 'गिरने' और 'सीधा खड़ा होने' की अनुभूति में अन्तर स्पष्ट मालूम होता है, अर्थात्, हम अपने शरीर के भार में उस सही स्थिति को पहचानते हैं जब हम न गिर कर सीधे खड़े हो सकें। यह 'स्थिति' सन्तुलन का बिन्दु (Point of Balance) है। स्थापत्य, चित्र और मूर्ति में प्रेक्षक इस बिन्दु के आश्रय से 'सन्तुलन' का अनुभव करता है। फलतः शरीरज सन्तुलन की अनुभूति से कला में भावनात्मक अथवा बौद्धिक सन्तुलन की अनुभूति विकसित होती है।

(ङ) इसी प्रकार भारसाम्य (Proportion) और संगति (Harmony) का मूलोद्गम स्थान शरीर और इसकी संवेदनशीलता (Sensitiveness) तथा अन्य अदृश्य चेष्टाएँ हैं। भार और गति के अनुभव में विशेषतः नाड़ी और मांस-पेशियों में 'गति' होती है। आधुनिक मनोविज्ञान साक्षी है कि दूर-समीप, निम्नोन्नत, विस्तार आदि का अनुभव हमें आँखों द्वारा ही नहीं होता। ये चाक्षुष (Visual) अनुभव मात्र नहीं हैं, अपितु नाड़ी, मांस-पेशी और दूसरे तन्तुओं (Cell-fibres) की विचित्र चेष्टाओं से ये 'अनुभव' उत्पन्न होते हैं। अतएव स्पष्ट है कि संगति, भारसाम्य आदि की उच्चस्तरीय अनुभूतियाँ मूलतः शरीरज हैं।

सच तो यह है कि सौन्दर्यास्वादन के क्षेत्र में हमें मानना होगा कि रसानुभूति का आश्रय 'शरीर' है। वैसे तो अन्य क्षेत्रों में भी सारी उदात्त और उच्चस्तरीय अनुभूति शरीर और इसकी चेष्टाओं में ही आश्रित होती हैं, किन्तु सौन्दर्य के विषय में तो इस मान्यता के बिना काम ही नहीं चल सकता। अंग्रेजी में सौन्दर्य की भावना को Aesthetic feeling माना गया है। Aesthetic पद का मूल अर्थ ही सौन्दर्य के साक्षात्कार का आनन्द है। हमने भी सौन्दर्य के आस्वादन में 'साक्षात्' तत्त्व को माना है। सुन्दर वस्तु में प्रेक्षक अपनी 'आत्मा' का साक्षात्कार करता है; उसके मानसिक भाव, बौद्धिक विचार, आशा, कल्पना, स्मृति, सभी मानो सुन्दर वस्तु में 'प्रत्यक्ष' हो उठते हैं। अतएव रस का आश्रय शरीर और इन्द्रियों की चेष्टाएँ हैं—इसमें सन्देह नहीं।

रस के अनुभव में स्वच्छन्दता की भावना (Feeling of liberty or relaxation) का अंश रहता है, क्योंकि इससे हम व्यग्रताओं से मुक्त होते हैं। यह भावना अवश्य ही मानसिक या इससे भी गम्भीर, आध्यात्मिक भूमि पर उदय होती है। किन्तु इसका मूल-स्रोत और आश्रय निश्चय ही शरीर के द्वारा 'स्वच्छन्दता' का अनुभव है। इस कथन की पुष्टि दो कारणों से होती है : (१) शरीर की साधारण चेष्टाओं में स्नायु, पेशी तथा अन्य अंगों में 'तनाव', जड़ता या उत्तेजना का अनुभव होता है। रसास्वादन में इनका अवसान या स्थगन हो जाता है जिससे रसिक को सारे शरीर में शिथलीकरण (Relaxation) का भान होता है। शिथिल होने की यह स्थिति अवश्य ही शरीर में 'मुक्ति' का स्वाद उत्पन्न करती है, और अंगों का शिथिलीकरण रसास्वादन की अवस्था का आवश्यक अंश है। इतना स्मरण रहे कि यह शिथलीकरण सोने में या बेहोशी की हालत में भी होता है। किन्तु यह 'शून्य' जैसी अवस्था है। रसास्वादन में अंगों का शिथिलीकरण इसलिये होता है कि इससे जनित शून्यता में रस का संचार हो सके और उसमें सौन्दर्य का लयात्मक प्रभाव भर जावे। यही कारण है कि रसास्वादन में, विशेषतः संगीत, नृत्य

आदि में, रसिक का सम्पूर्ण शरीर अनुरणन (Resonance) करता है। (२) स्वच्छन्दता अथवा मुक्ति की प्रथम स्फूर्ति शरीर और श्वास-प्रश्वास के स्वच्छन्द होने से जगती है। जिसने शरीर में इनका अनुभव नहीं किया वह मन, बुद्धि अथवा आत्मा के स्तर पर इनका आभास नहीं पा सकता। रसास्वादन में 'मस्ती' आती है। साहित्य में एक अर्थ या वाक्य-प्रयोग, संगीत ने कोई मूर्च्छना, चित्र की कोई रेखा, रसिक को 'मस्त' बना देती है। यद्यपि इसका अनुभव बुद्धि, मन या हृदय से जाग्रत होता है, यथापि 'मस्ती' की पूर्ण अभिव्यक्ति शरीर से ही सम्पन्न होती है। संगीत मे सिर हिलना, नृत्य में पैरों का चलना, सारे शरीर का झूम जाना, यह सब इस बात का द्योतक है कि रसास्वादन में शरीर का बहुत महत्त्व है। सौंदर्य का साक्षात्कार मन, बुद्धि आदि की अपेक्षा शरीर और इसके अवयवों से अधिक सिद्ध होता है।

(७)

रसास्वादन में सौन्दर्य-बोध का स्थान और प्रकार क्या होता है? यों तो जीवन की किसी भी पुष्ट अनुभूति में बोध-तत्त्व (Cognitive element) रहता है, तथापि हमें यहाँ पूछना है कि रस की अनुभूति में सौदर्य (सुन्दर वस्तु का गुण) का बोध कैसे होता है तथा यह 'बोध' कैसे रसोन्मेष में सहायक होता है? 'रस' और 'बोध' में अन्तर माना जाता है। इनमें विरोध की भी सम्भावना रहती है, क्योंकि 'बोध' क्रियाओं के प्रबल होने पर 'रस' में बाधा पड़ती है, और इसी प्रकार रस-प्रवण मन बोध के लिये असमर्थ होता है। अतएव रसानुभूति में बोध-तत्त्व के स्थान और स्वरूप का प्रश्न विचारणीय है। हमने देखा है कि रसास्वादन के क्षण में हमारा सम्पूर्ण कलेवर और इन्द्रियाँ चेष्टा करते हैं। इन्द्रियों की चेष्टा से रसिक सौन्दर्य का साक्षात्कार करता है। किन्तु इन्द्रियाँ सौन्दर्य के रहस्य का उद्घाटन नहीं कर सकतीं। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार भी हमारे साधारण प्रत्यक्ष (Perception) में इन्द्रियों द्वारा

प्राप्त संवेदनाओं (Sensations) को स्वरूप देने के लिये मन और बुद्धि की स्मृति, कल्पना, विमर्श आदि उच्चस्तरीय क्रियाएँ आवश्यक होती हैं। तब 'सौन्दर्य' को ग्रहण करने के लिये तो अवश्य बुद्धि का निमीलन नहीं, वरन् इसका प्रचण्ड उन्मीलन होना चाहिये। सौन्दर्य की अधिष्ठान सुन्दर वस्तु है। इसमें 'रूप' का उन्मेष होता है; रूप का आविष्कार सन्तुलन, संगति, लय और भारसाम्य आदि गुणों के द्वारा होता है। इनके सम्यक् बोध के लिये बुद्धि की क्रिया अनिवार्य है। अतएव हमारा प्रष्टव्य है : सौन्दर्य अथवा रूप-बोध का रसास्वादन में क्या प्रकार और स्थान होना चाहिये? इतना हम प्रारम्भ में ही मान सकते हैं कि रसानुभूति में बोध-तत्त्व उसी सीमा तक रहना चाहिये कि जिससे रस की हानि न हो किन्तु वह सीमा क्या है? यह ज्ञातव्य है।

सौन्दर्य का आधार 'रूप' है। रूप अंगों और अवयवों के विन्यास में गोचर होता है। अंगों के परस्पर विशिष्ट सम्बन्ध से एक ऐसा गुण उदित होता है जो पृथक्-पृथक् अंगों में विद्यमान न होते हुए भी उनके विन्यास में स्पष्ट झलकता है। इसी गुण का नाम 'रूप' है। अंगों की अनेकता में रूप 'एक' ही होता है, जैसे, अनेक स्वरों के सन्दोह में 'राग' एक ही रहता है; अनेक रेखा और रंगों के संयोजन में चित्र एक ही होता है। अतएव रूप-बोध के लिये 'अनेकों की एकता' (Unity in diversity) का ग्रहण होना चाहिये। एकता के बोध के बिना सौन्दर्य की साक्षात् प्रतीति सम्भव नहीं। यह गुण स्थापत्य से लेकर काव्य तक कला की सभी अभिव्यक्तियों में सामान्यतया मौजूद है। इसके ग्रहण के लिये बुद्धि की उच्च क्रिया अपेक्षित होती है।

स्थापत्य अथवा वास्तु-कला का एक अच्छा नमूना लीजिये, जैसे, ताजमहल या कोई देव-मन्दिर। इनमें एक ज्यामितिक रूप प्रस्तुत हुआ है। प्रत्येक अंग एक विशिष्ट योजना का अंश है, वह एक विचित्र विधान में बँधा है। कुशल शिल्पकारों ने मानो बुद्धि के एक 'विचार' को, उसकी एक स्वच्छन्द 'कल्पना' को स्वच्छ शिलाओं के माध्यम में आँखों के सामने

रख दिया है। कला-कृति के प्रत्येक अवयव में और उसके सम्पूर्ण संयोजन में प्रेक्षक को पूर्णता, भव्यता आदि का भान होता है। यह प्रतीति हृदय में होती है और प्रभाव के रूप में प्रेक्षक के मानस में व्याप्त हो जाती है। जैसा हमने देखा है कि भव्यता, विशालता, विस्तार आदि को ग्रहण करने में शरीर और उसकी आन्तरिक चेष्टाएँ भी सहयोग करती हैं। इस प्रकार वास्तु-कला का सम्पूर्ण प्रभाव प्रेक्षक 'सर्वात्मना' ग्रहण करता है। किन्तु इस 'सर्वात्मना ग्रहीत प्रभाव' में एक ज्योतित बिन्दु है जिसे हम बोध-तत्त्व कहते हैं। वह है बुद्धि द्वारा ग्रहीत इसका ज्यामितिक रूप, और इस रूप में अंगांगी सम्बन्ध, अंगों का परस्पर सन्तुलन, उनकी संगति, अंगो के भागों में विचित्र समानुपात और अन्त में, रूप का निरूपण करने वाली रेखाओं में लयात्मक गति। सौन्दर्य के सम्पूर्ण 'प्रभाव' में यह जोतिष्मान् अंश बोध-तत्त्व है और बुद्धि-ग्राह्य है।

यह प्रश्न यहाँ उठ सकता है कि सौन्दर्य की पूर्ण प्रतीति में बोध-तत्त्व रहते हुए भी नगण्य रहता है, क्योंकि इस तत्त्व के प्रबल होने पर रस की अनुभूति 'बोध' मात्र रह जायगी। अतएव बोध-तत्त्व का हमारे लिये महत्त्व ही क्या है? और, फिर बुद्धि की बोध-क्रिया श्रम उत्पन्न करती है जो रसास्वादन में नहीं होता। ज्यामिति के एक प्रश्न को सुलझाने में जो श्रम और प्रसाद का अनुभव होता है वह ताजमहल को देखने से सर्वथा भिन्न है। अतएव इसके देखने में ज्यामितिक रूप का उन्मीलन मानने का क्या अभिप्राय हो सकता है?

वस्तुतः रसानुभूति में बोध-तत्त्व विचार की उस क्रिया का फल नहीं होता जिसके द्वारा हम तर्क व ऊहापोह करके किसी निष्कर्ष की स्थापना करते हैं। सुन्दर वस्तु देखकर हम अनुभव करते हैं कि वह वस्तु सुन्दर है; किन्तु अनुभव की स्थापना तर्क द्वारा नहीं होती। तर्क द्वारा हम अननुभूत, केवल विचारगम्य, निष्कर्ष को सिद्ध करते हैं। अनुभूति की स्थापना केवल इसके दृढ़ीकरण से होती है। अतएव रसानुभूति में बोध-तत्त्व तर्क का फल नहीं होता। वह शिल्पी अथवा कलाकार की कृति द्वारा

विन्यास में रसिक के लिये प्रस्तुत किया जाता है। कला-कृति किसी उदात्त विचार अथवा उदार कल्पना का साक्षात् और गोचर रूप होती है। प्रेक्षक इसके गोचर रूप का साक्षात्कार करके उस विचार और कल्पना तक पहुँचता है, न कि तर्क अथवा ऊहापोह के द्वारा। कला-कृति मे कृतित्व और कृत्मित्व का लक्षण ही यह है कि वह अपने गोचर रूप के द्वारा विचार के ज्योतित लोक में प्रेक्षक को पहुँचा दे। फलतः रसानुभूति में बोध-तत्त्व साधारण बौद्धिक क्रियाओं द्वारा लभ्य नहीं होता। वह कृति में उन्मीलित होता है। 'उन्मेष' के रूप में स्वयं प्रकाशित हो जाने के कारण प्रेक्षक को इसे ग्रहण करने में श्रम नहीं होता; वरन् यह बोध-तत्त्व ज्योति-स्फोट अथवा आलोक के अनावरण की भाँति प्राप्त होने के कारण आनन्द का स्रोत बन जाता है। यह बोध-तत्त्व रसानुभूति में नगण्य नहीं, वरन् इसका ज्योतित गर्भ-भाग होता है।

वास्तु-कला में इसका ज्योतिष्मान् बोध-तत्त्व इसका ज्यामितिक रूप है, और इस रूप के आश्रित सन्तुलन, संगति आदि गुण। सन्तुलन, संगति, लय और भारसाम्य—ये गुण किसी भव्यभवन में ज्यामितिक विधानो के अधीन रहकर ही प्रकट होते है। ज्यामिति के सनातन सिद्धान्तों का गोचर रूप, अटल नियमों का विकट अनुशासन, स्वच्छ शिलाओं में साकार होता है। चित्र-कला में इस अनुशासन से मुक्ति मिलती है और रेखा स्वाधीन होकर जीवित लय (Vital Rhythm) का निर्माण करती है। रेखा और रंगों के इस नूतन माध्यम में 'गति' को नया अवकाश मिलता है और विन्यास के लिये अनन्त दिशाएँ। रेखा स्वाधीन होकर अनन्त लोकों और रूपों का सृजन करती है। इस प्रकार चित्र-कला सन्तुलन, सगति, लय आदि का नूतन अर्थ प्रस्तुत करती है, और अपनी लोच के कारण अभिव्यक्ति के लिये अनन्त अन्तराल खोल देती है। फलतः चित्र-कला में बोध-तत्त्व और भी स्फुट और मुखर होने लगता है। आगे चलकर सगीत दृश्य और बाह्य न होकर श्रव्य और आभ्यन्तरिक हो जाने के कारण और भी लोचदार हो उठता है। अभिव्यक्ति के लिये नूतन द्वारो का

उद्‌घाटन होता है। सन्तुलन आदि का रूप भी बदलने लगता है। फलत संगीत में विचित्र प्रकार का बोध-तत्त्व प्रकट होता है। अन्त में चलकर साहित्य में अर्थ (Meaning) अर्थात् मनुष्य की मुखरित अनुभूति बोध-तत्त्व के रूप में प्रकट होती है। अन्य कलाओं की अपेक्षा काव्य आदि में अर्थ की विकट ज्योति ही शब्दों की योजना में कलात्मक प्रभाव को प्रकट करती है। अतएव साहित्य में अर्थ-स्फोट के कारण ज्योतिष्मान् तत्त्व अधिक रहता है। अर्थ और उसका साक्षात् नादात्मक रूप अर्थात् शब्द सौन्दर्य का सृजन करते हैं। काव्यकला की सृष्टि में 'रूप' का नूतन अवतार होता है, और, इस रूप में सन्तुलन, संगति आदि के भी नूतन रूप उन्मीलित होते हैं, काव्य-सृष्टि के रूप, और इस रूप के आश्रित सम्पूर्ण गुणों का ग्रहण बुद्धि द्वारा होता है। जहाँ 'शब्द' है वहाँ 'अर्थ' अवश्य रहता है; जहाँ 'अर्थ' है वहाँ बुद्धि रहती है। अतएव स्थापत्य से चलकर साहित्य तक आते आते बोध-तत्त्व प्रबल हो उठता है। साहित्य का विशाल अन्तराल ज्योतिष्मान् अर्थों की दीप्ति से झलमलाता है।

बाह्यतः एक कला का दूसरी कला से अन्तर उनके माध्यम पर आश्रित है। माध्यम के अनुरूप ही 'रूप' का उदय होता है। मोटे तौर से दृश्य और श्रव्य, दो प्रकार के माध्यम माने गये हैं। चल और अचल, ये दो प्रकार भी प्रचलित हैं। दृश्य रूप, श्रव्य रूप, चल रूप और अचल रूप, इस भाँति कला में रूप का आविर्भाव अनेक प्रकार से होता है। संगीत और नाट्य में इन रूपों का समन्वय होता है। अतएव भारतीय कला-शास्त्र में नाट्य को पूर्ण कला माना गया है। मानना होगा कि इसकी अनुभूति में माध्यम के गुणों का प्रभाव रहता है, जैसे, रंगों की सुकुमारता, रेखा की गति, विन्यास की पूर्णता, स्वरों का माधुर्य अथवा नृत्य में गति की भावाभिव्यञ्जकता। इतना ही नहीं, इन माध्यमों में उन्मीलित रूप और रूपाश्रित सन्तुलन आदि गुणों का प्रभाव भी 'रस' में प्रविष्ट होता है। किन्तु यह कला का बाह्य अन्तर है। कलाओं के आभ्यन्तरिक अन्तर का आधार इनका सौन्दर्य-बोध है। किसी भवन, चित्र, मूर्ति, नृत्य, गीत,

नाट्य आदि में बाह्य रूप के अतिरिक्त रूप का बोध भी विचित्र होता है। इस बोध-तत्त्व की विशेषता यह होती है कि यह बुद्धि की विमर्शात्मक क्रिया से लब्ध न होकर सर्वात्मना ग्राह्य होता है। बुद्धि से ग्राह्य 'अर्थ' परोक्ष रहता है, किन्तु कला की सुन्दर सृष्टि में बुद्धि के परोक्ष और अतिपरोक्ष भाव, मन की उदात्त कल्पनायें, हृदय की कोमल अभिलाषायें और आत्मा की गम्भीर और अतिमानस अनुभूतियाँ—ये सब साक्षात्, प्रत्यक्ष और इन्द्रिय-गोचर हो उठते है। 'प्रत्यक्ष' के स्तर पर 'परोक्ष' और यदा-कदा अतिपरोक्ष, बुद्धि से भी अतीत और अतिमानस भावों का उन्मीलन कला का उद्देश्य है। इस दृष्टि से कला समाधि के विपरीत भी है। कला में बोध-तत्त्व अथवा ज्योतिष्मान् अर्थ 'प्रत्यक्ष' होता है। यह प्रत्यक्ष 'विपुल' होता है, क्योंकि इसमें स्मृति, कल्पना, विमर्श आदि सभी सम्मिलित रहते हैं। शरीर, जीवन, प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा के प्रयत्नों से कला में सौन्दर्य-बोध होता है। अतएव इसे 'सर्वात्मना' ग्राह्य मानना उचित होगा। सर्वात्मना ग्राह्य होने के कारण ही बोध-तत्त्व (Cognitive element) 'रस' की अनुभूति में परिणत हो जाता है, जो अन्यथा सम्भव नहीं।

(८)

अभी तक हमने "रसो वै सः" की व्याख्या की है। रसिक ही रस का अधिष्ठान और उपादान है। रसिक का 'स्व' ही, शरीर से लेकर आभ्यन्तरिक चेतना के मूल तक, परिणत होकर रसानुभूति को उत्पन्न करता है। रस आत्म-द्रव है, और आत्मा की रस-परिणति में रसेच्छा स्वयं एक कारण है। रस की अनुभूति में दो क्षण रहते हैं, एक वह जब आवरक जालों और जटिलताओं का निराकरण होता है, दूसरा वह जब आत्मा के सभी स्तरों में क्रिया और गति का संचार होता है। ये दोनों क्षण एक साथ भी हो सकते हैं जैसे दियासलाई जलाते ही प्रकाश का प्रसार और तम का अपसार एक साथ हो जाता है। स्मरण रखने योग्य यह है कि रसानुभूति में आत्मा का परिणमन (Transformation of the

self) आवश्यक तत्व है। इस परिणमन का स्वरूप हम ऊपर देख चुके हैं। परन्तु हमने इस विवेचन में सौन्दर्य और उसके प्रभाव की बार बार चर्चा की है। आत्म-परिणति की क्रिया में सौंदर्य अनिवार्य कारण है। केवल इतना मानना पर्याप्त न होगा कि सौन्दर्य रसोद्रेक के लिये बिजली के प्रकाश को लाने के लिये केवल 'स्विच' का काम करता है या बारूद में विस्फोट उत्पन्न करने के लिये केवल चिनगारी का काम करता है। वस्तुतः कलाकार सृजन के कौशल द्वारा किसी माध्यम में जो सौन्दर्य उत्पन्न करता है वह लय, सन्तुलन, रूप, गति, सामञ्जस्य, अर्थाभिव्यक्ति आदि गुणों द्वारा साकार होता है और ये गुण उतने माध्यम के गुण नहीं हैं जितने आत्मा या चेतना के गुण हैं। यहाँ सौन्दर्य-सृजन पर विचार करने का अवसर नहीं, परन्तु इतना कहना होगा कि 'सृजन' अचेतन में चेतन भावों को किसी कौशल से उत्पन्न करने का नाम है। इस प्रकार किसी वस्तु का सौन्दर्य उस वस्तु में अनेक आध्यात्मिक गुणों के सृजन से प्रकट होता है। इसी कारण सौंदर्य का अधिष्ठान यद्यपि 'वस्तु' है, परन्तु इसका प्रभाव आध्यात्मिक होता है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि रस का अधिष्ठान रसिक है और सौंदर्य का अधिष्ठान सुन्दर वस्तु। ये दोनों अधिष्ठान कैसे, कहाँ और क्यों मिलते हैं जिससे सौन्दर्य की अनुभूति या आत्मा की रस-परिणति सम्पन्न होती है?

हमने 'रस' और 'सौन्दर्य' को समानवाची मान कर मनचाहा प्रयोग किया है। साधारणतः इन दोनों के अधिष्ठान भिन्न हैं। रस का अधिष्ठान रसिक और सौन्दर्य का अधिष्ठान वस्तु। परन्तु रस के विश्लेषण और विवेचन से सौन्दर्य को, और सौन्दर्य की मीमांसा से रस को एकदम पृथक् नहीं किया जा सकता। यह उसी प्रकार है जैसे मिठास को गुड़ और चखने की क्रिया से अलग नहीं किया जा सकता। हम नहीं कह सकते कि मिठास केवल गुड़ के परमाणुओं में ही व्याप्त है, और न यह कि चखने वाला स्वय अपने अन्तर में से इसे पैदा कर सकता है। वास्तव में मिठास का अस्तित्व गुड़ के चखने की घटना में निहित है। इसी प्रकार रस का अस्तित्व

रसास्वादन की घटना में ही निहित है। इस घटना में सौन्दर्य गुरु का काम करता है। रसिक और सुन्दर वस्तु का संघटन अथवा समानाधिष्ठान या समानाधिकरण होना इस रसास्वादन की घटना के लिये आवश्यक है। समानाधिष्ठान की दशा को प्राप्त होने के लिये आवश्यक है कि रसिक सुन्दर वस्तु का और सुन्दर वस्तु रसिक का रूप ग्रहण करे, अर्थात् आत्मा का वस्तु-रूप-ग्रहण (objectification) हो, और, वस्तु का आध्यात्मीकरण (Spiritualization) हो। आत्मा, इन्द्रिय, शरीर, चित्त, अहंकार, बुद्धि, मन आदि की बहुविध क्रियाओं द्वारा वस्तु के अधिष्ठान को आत्मसात् करता है। प्रत्यक्षीकरण में अन्तर्वेदना या अन्तर्भावना के बल से (पश्चिमी विज्ञान के अनुसार) आत्मा अपने आप को वस्तु के सौन्दर्य-गुणों में विलीन करके समानाधिष्ठान होता है। वेदान्त के अनुसार इन्द्रिय-प्रणालिकाओं से निकल कर चेतना वस्तु का आकार धारण करती है। कुछ भी हो, रसिक और वस्तु के मिलने के लिये इन्द्रियों की स्वाभाविक चेष्टा अनिवार्य है। और इन्द्रिय से लेकर रसिक के 'स्व' का सम्पूर्ण आभ्यन्तर, यहाँ तक कि उसकी सम्पूर्ण सत्ता तथा इस सत्ता के चेतन और अचेतन आधार, सभी में वस्तु का सौन्दर्य व्याप्त हो जाता है, और, व्याप्त ही नहीं होता, वह वहाँ उनमें नवीन गति और स्फूर्ति भी उत्पन्न कर देता है जिनके बिना सौन्दर्य का आस्वादन सम्भव नहीं। वस्तुतः रस इसी रसास्वादन की क्रिया का नाम है जो शरीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक आदि जीवन और प्राण के सभी स्तरों पर प्रकट होती है। इस क्रिया का पहला परिणाम रसिक द्वारा सौन्दर्य को आत्मसात् करना होता है, जिससे सुन्दर वस्तु में कला द्वारा उन्मीलित 'गुण' मानो चेतना के आलोक और जीवन के ओज में जगमगा उठता है। और भी, एक ओर इसके द्वारा आत्मा का परिणमन होता है जिसमें मन, बुद्धि, चित्त, शरीर, प्राण आदि में असाधारण क्रियाएँ उत्पन्न होती हैं, दूसरी ओर बाह्य वस्तु का भी 'रूपान्तरण' (Transformation) होता है जिससे जड़ चेतन के रूप में, निर्जीव जीवन्त में, स्थान, काल आदि से सीमित पदार्थ असीम में, परिणत होकर, व्यक्त, प्रस्तुत वस्तु

अव्यक्त और अप्रस्तुत की ओर प्रबल संकेत फेंकने लगती है। रसिक और वस्तु की अनेक क्रियाओं द्वारा परिणति दोनों को समानाधिष्ठान बना देती है, उनमें विनिमय का अवसर खोल देती है।

इस विवेचन में हम यहाँ तक आ गये हैं कि कह सकते हैं; रसिक ही रस है; रस रसास्वादन की क्रिया का नाम है। यह क्रिया जीवन, चेतना, यहाँ तक कि आत्मसत्ता के भी स्तरों पर गति और स्फूर्ति के रूप मे जगती है। वस्तु में अधिष्ठित सौन्दर्य आध्यात्मिक गुणों से सम्पन्न होने के कारण एक प्रबल 'प्रभाव' के रूप में उपस्थित होता है और रसिक मे अधिष्ठित रसेच्छा उसे उस 'प्रभाव' के अधीन स्वेच्छा से बना देती है। मानो विद्युत् के दो कण समान क्षेत्र में रह कर एक दूसरे के समीप दौड़ते हों इसी प्रकार रस-प्रवण रसिक और सौन्दर्य का प्रभाव एक दूसरे को खींचते हैं–वे दोनों समानाधिष्ठान होने से एक दूसरे के समीप आते हैं–इतने समीप कि रसास्वादन मे बाधा न पड़े, क्योंकि दोनों का अत्यन्त सामीप्य या अत्यन्त दूर होना, दोनों ही परस्पर विघातक हो सकते हैं। हम आगे यह भी कह सकते हैं कि यद्यपि रसास्वादन की क्रिया सभी क्षेत्रों और स्तरों में लय-गति उत्पन्न करती है तथापि कुछ स्तरों पर यह क्रिया विशेष स्फूर्ति का आविर्भाव करती है। जैसे (१) जीवन और चेतना का अपने ऊपर लदे हुए परिस्थितियों के भार से मुक्त होना और इस मुक्ति का आनन्द। (२) इस मुक्ति या व्यक्तित्व के विलय से एक ऐसी सृष्टि का उदय होना जिसमें काल, स्थान, कारण-कार्य सम्बन्ध, सत्य और न्याय के मान, मूल्यों की मीमांसा, विचार और तर्कों की गति, आदि साधारण से भिन्न हो जाते हैं। (३) व्यक्तित्व के विलय से रसिक में उसकी मूल चेतना का उदय जहाँ उसे अपनी ही सत्ता का अपूर्व अनुभव (Feeling of Being) होता है। (४) आत्म-सत्ता के अनुभव से चेतना में अनेक मूल भावनाओं, (Primordial feelings) शक्तियों और प्रवृत्तियों का उदय होना जिनको धर्म, नीति, सभ्यता और संस्कृति, यहाँ तक कि विज्ञान ने या तो कुचल दिया है या रूपान्तरित कर दिया है। इस नवोदय से अपने आभ्यन्तर में

रसिक को नवीन सत्ता के उन्मीलन की अनुभूति (Sense of Becoming) (५) वास्तव में, नाट्य शास्त्र में जिसे 'रस' कहा गया है, वह तो केवल किसी प्राकृतिक प्रवृत्ति की विशेष परिणति का नाम है। परन्तु 'रस' में यह प्रवृत्ति का परिणमन केवल मानसिक स्तर पर ही होता है। इसके अतिरिक्त रसास्वादन में बुद्धि, चित्त, अहंकार, यहाँ तक कि आध्यात्मिक और आभ्यन्तरिक स्तरों पर भी परिणमन की क्रियाएँ होती हैं और रस-बोध को प्रबुद्ध तथा स्फीत बना देती है। भरत के रस-प्रतिपादन में इसमे सम्मिलित इन अन्य तत्त्वों को स्पष्ट नहीं किया गया है। (६) हमें मानना होगा कि रसानुभूति जीवन की सरलतम अनुभूति है। हमारा व्यक्तित्व इच्छा, उत्तेजना, जीवन की सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों से उत्पन्न जटिल जालों का निर्माण है। रस के लिये इसका विलय आवश्यक है, इसलिये कि जीवन, प्राण तथा चेतना का सरलतम रूप अपने स्वकीय तथा स्वाभाविक मानों और मूल्यों के साथ उदय हो सके। यह 'उदय' ही वस्तुत: रस का उदय है। रसास्वादन की सम्पूर्ण क्रियाएँ रसिक में उसकी स्वच्छन्द, स्वकीय और स्वाभविक गति और दशा को जगाने के लिये होती हैं। (७) इसीलिये रसास्वादन में स्वच्छन्द गति व साक्षात् स्वतंत्रता का आस्वादन होता है। संगीत में यह आस्वादन तीव्र होता है; अन्य कलाओं में भी सौन्दर्य के अनुभव में सीमा व बन्धन भंग होते दीख पड़ते हैं। परन्तु केवल स्वच्छन्दता का तीव्र अनुभव पर्याप्त नहीं, क्योंकि सौन्दर्य के अपने विधान और मर्यादाएँ हैं। इसलिये रसानुभूति में एक ओर परम स्वतंत्रता का साक्षात्कार और दूसरी ओर स्वयं आरोपित मर्यादाओं के गोचर रूप रहते हैं (Liberty within Law) अर्थात् "छन्दोबद्ध स्वच्छन्द गति" का सर्वोत्तम नमूना संगीत और काव्य में मिलता है। (८) आस्वादन को क्रियाएँ सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य को 'प्रभाव' के रूप में परिणत कर देती है। सुन्दर वस्तु को नापा, तोला या विश्लेषण किया जा सकता है, परन्तु सौन्दर्य जो प्रभाव और क्रियाओं के रूप में प्रस्तुत होता है, वह अमेय और अ-विश्लेषणीय होता है। (९) रसास्वादन की क्रियाएँ मीमांसा की सीमाओं

में स्यात् आ सकती हैं, परन्तु रसानुभूति, जहाँ तक कि रसिक की सरल, स्वच्छन्द व स्वाभाविक चेतना के उदय से इसका उन्मीलन होता है, मीमांसा के लिये लब्ध नहीं। आत्मा की भाँति 'रस' की परिभाषा सम्भव नहीं। (१०) व्यक्तित्व का विलय, रसिक की वस्तु के साथ तद्रूपता, असीम, सरल और स्वच्छन्द चेतना का नवोन्मीलन, सौन्दर्य और रसिक का समानाधिष्ठान होना, सत्ता के सभी क्षेत्रों और स्तरों में रस-क्रिया का संचार, आदि ऐसी क्रियाएँ हैं जो रसास्वादन में 'चमत्कार' और 'चर्वणा' का मूल हैं। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि न केवल रसिक ही रस है, और रस रसास्वादन से अभिन्न है, बल्कि रसिक रसास्वादन की क्रिया में परिणत होकर ही रसानुभूति ग्रहण करने योग्य होता है। रसिक की रस-परिणति रसानुभूति का मूल रहस्य है।

५

रसिक का व्यक्तित्व

अभी तक जो कहा गया है उससे कुछ परिणाम निकालने के लिये हमें दुबारा यहाँ स्मरण करना होगा। रसिक के जीवन व सत्ता के सभी पार्श्वों व स्तरों में सौन्दर्य के प्रभाव से जो गति और क्रियाएँ संचरित होती है, उन्हीं का एक नाम 'रसास्वादन' है। रस की सत्ता इससे भिन्न अनुभव में नहीं आती और रसिक स्वयं रस से अभिन्न ही रहता है। इस उक्ति से कई अनुमितियाँ प्राप्त होती है, जैसे (१) यह कोरा अध्यात्मवाद है जो हमारी विज्ञान-प्रवण बुद्धि को ग्राह्य नहीं। (२) रसिक और रस के एक होने से भोक्ता और भोग्य का अन्तर ही मिट जायगा। (३) सुन्दर वस्तु के प्रभाव से रसिक की रस-परिणति सदैव ही नहीं होती—यह अनुभव की बात है। यदि सौन्दर्य, रसास्वादन की क्रिया और रसिक में कोई अचूक सम्बन्ध है तो यदा-कदा का प्रश्न न होना चाहिये। इससे भ्रान्त मत उत्पन्न होता है कि सौन्दर्य केवल विषयीगत (Subjective) प्रतीति है; उसका कोई विषय या वस्तुगत आधार नहीं। (४) न केवल रसास्वादन की क्रिया सदैव ही जाग्रत नहीं होती, बल्कि सदैव ही समान रूप से जाग्रत नहीं होती। रसास्वादन में अंश (Degrees) होते हैं। हमारे प्रस्तुत विचार से रसास्वादन में अंशों की सम्भावना कैसे हो सकती है? (५) रस की प्रस्तुत विधा को स्वीकार कर लेने से इसमें 'भेद' नहीं हो सकते। रसिक की रस-परिणति सदैव समान ही माननी चाहिए। तब आचार्यों की रस-भेद-मीमांसा क्या व्यर्थ है? (६) क्या व्यक्तित्व रसास्वादन में सर्वथा बाधक होता है? यदि हाँ तो यही रसानुभूति की

गति-रोधक उपाधि हैं। किन्तु क्या हम इस स्थिति को स्वीकार कर सकते हैं कि रसास्वादन के लिये व्यक्तित्व का तिरोधान, भंग या निर्गलन होना चाहिये। ऐसा मानने से कई आपत्तियाँ उठती हैं, जैसे, (क) क्या व्यक्तित्व का तिरोधान सम्भव है (ख) क्या रसिक अपने ही व्यक्तित्व का सम्पर्क छोड़ कर वस्तु-सत्ता से इतना दूर तो न हट जायगा कि रसास्वादन और सौन्दर्य स्वयं ही अवास्तविक हो उठें? (ग) यदि रसास्वादन केवल 'स्व' से उत्पन्न क्रिया नहीं है (जैसा निरोध-समाधि में हो सकता है) और इस क्रिया में वस्तुगत सौन्दर्य का हाथ रहता है तो 'व्यक्तित्व' के मार्ग बिना रसिक वस्तु तक कैसे पहुँच सकता है? (ङ) यदि रसास्वादन मे व्यक्ति के सुख-दुःख, आशा-निराशा का कोई स्पर्श नहीं, तो उसके रुचि और अवधान 'सौन्दर्य' में क्यों टिकने लगे? (च) व्यक्ति अपना सुख, सन्तोष और विकास चाहता है, न कि उसका ह्रास या विलय। क्या रसास्वादन की क्रिया व्यक्ति के लिये घातक व दुःखद हो सकती है? यदि ऐसा है तो रस ही स्वयं आत्मघात कर लेगा। (छ) हम व्यक्तित्व को रसिक से अलग ही क्यों करें? यदि करते हैं तो यह 'रसिक' अध्यात्म-लोक का प्राणी होगा जिसका यथार्थ से सम्बन्ध नहीं, जो काल, स्थान, और वास्तविक परिस्थिति, मान-मूल्यों से नियमित संसार में नहीं रहता।

(७) प्रस्तुत दृष्टिकोण को मान लेने से कला का केवल आध्यात्मिक उद्देश्य तो समझ में आ जाता है। परन्तु इतिहास साक्षी है कि कला का उपयोग न केवल धर्म और दर्शन के प्रयोजनों को लेकर हुआ, बल्कि जीवन मे क्रीडा-विलास व विनोद के लिये प्रायः हुआ है। केवल आध्यात्मिक शान्ति और दार्शनिक के अन्तःप्रसाद के लिये ही नहीं, बल्कि प्रागैतिहासिक काल से लेकर अचिन्त्य भविष्य तक कला का प्रयोजन जन-मन-रंजन रहा है और रहेगा। (८) रसास्वादन को व्यक्तित्व से अलग करके केवल आत्मानुभूति मान लेने से व्यक्ति को उसके सामाजिक, नैतिक व व्यावहारिक परिमण्डल से दूर कर देना ठीक नहीं जँचता।

वस्तुतः व्यक्ति की कला-रुचि और उसकी सौन्दर्यास्वादन की क्षमता में संस्कृति, शिक्षा, समाज द्वारा स्वीकृत सभ्यता, नैतिकता, धर्म आदि के मानदण्ड व स्तर, आदि का पूरा प्रभाव रहता है। सच तो यह है कि शुद्ध सौन्दर्य की अनुभूति बिरले ही होती है; उसमें व्यक्ति के जीवन के अन्य तत्त्व मिले होते हैं। (९) रसानुभूति को केवल आत्मानुभूति मान लेने से कला का केवल एकाङ्गी, व्यस्त और व्यक्तिगत उद्देश्य ही स्पष्ट होता है। परन्तु कलाकार द्वारा सृजित सौन्दर्य का प्रयोजन लोक-मंगल भी है। रसास्वादन का एक पार्श्व सामूहिक भी होता है। (१०) अन्त में, कलाकार अपनी सम्पूर्ण सामग्री, उसके चयन व निर्माण के लिये विधान व उपकरण, सभी समाज से पाता है। रसिक उस तक पहुँचने के लिये अपने 'व्यक्तित्व' को उतार कर नहीं रख सकता।

उपर्युक्त आपत्तियों के निवारण के लिये हमें व्यक्तित्व के स्वरूप, रसास्वादन में उसके योग का निरूपण करना चाहिए। वस्तुतः हम रसिक का रस में 'मग्न' होना या 'डूबना' केवल भाषा का अलंकार ही मानते हैं, और वह भी अयथार्थ। 'मग्न' होने की अपेक्षा हम (यदि अलंकार ही स्वीकार करें) रस में रसिक का 'तैरना' अधिक उपयुक्त समझते हैं, क्योंकि 'तैरने' में रसिक अपनी क्रियाओं का आनन्द लेता है, और अपने व्यक्तित्व से अलग न होकर उसी के माध्यम से रसास्वादन करता है।

(२)

व्यक्तित्व क्या है? आधुनिक मनोविज्ञान ने इस विषय में बहुत खोज की है; इसमें से हम केवल वह अंश लेंगे जो हमारे विषय के लिये अपेक्षित है। इसके अनुसार मनुष्य का व्यक्तित्व कई घटकों का एकसूत्रित विन्यास है। शरीर स्वयं एक घटक है, क्योंकि हमें यदि अपने व्यक्तित्व के किसी अंश की स्पष्टतम संज्ञा होती है तो वह अपने शरीर की होती है। सामान्यतया तो हम 'शरीर' को ही 'स्व' मानते हैं। दर्शन और धर्म जो कहें,

हमारी प्रथम और प्रत्यक्ष अनुभूति तो इसी बात का साक्ष्य देती है कि शरीर ही आत्म-सत्ता का, चाहे उसे चेतन या अचेतन माना जाये, आधार है। और क्यों न हो, शरीर में स्थित इन्द्रियों के द्वार से शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध गुणों से आपूरित जगत् की स्थिति का पता हमें लगता है। गति, काल, स्थान, दिशा, वस्तुओं का रूप, विस्तार और वैभव, संक्षेप में, हम जिसे भी वस्तु-सत्ता कहते हैं, उसका आधार और अधिष्ठान शरीर की अन्तःस्थित और बाह्य कुछ क्रियाएँ हैं। हम नहीं कह सकते कि 'अ-शरीरी' के लिये सत्ता का क्या स्वरूप होता होगा।

रसास्वादन में 'शरीर' का कार्य स्पष्ट है। वह है सुन्दर वस्तु की संवेदनाओं को इन्द्रिय-प्रणालिकाओं तथा मांस-पेशी, नाड़ी और स्नायु-मंडल की विविध चेष्टाओं द्वारा ग्रहण करना। परन्तु इतना कहना अत्यन्त अपर्याप्त है, क्योंकि व्यक्तित्व के घटक के नाते 'शरीर की संज्ञा' (Somatic consciousness) रस-चेतना और रसास्वादन में अन्तः-निविष्ट रहती है। न केवल शरीर का स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य, उसमें 'धातुओं' की समता या विषमता, उसकी सहज प्रवृत्तियाँ और क्षमता, उसकी रक्त, वात, पित्त आदि की क्रियाएँ, हृदय, यकृत, प्लीहा, पाचन, मेहन, श्वासोच्छ्वास आदि के यंत्रों की गति, नवीन चिकित्सा-विज्ञान द्वारा आविष्कृत अनेक ग्रन्थियों (Glands) और कोशों की दशा,—न केवल इनकी दशा और गति का प्रभाव 'रस' में सम्मिलित रहता है, अपितु शरीर-संज्ञा स्वयं आत्म-सत्ता की अनुभूति में एक तरङ्ग के रूप में लहराती है। हमने रसानुभूति को आत्मानुभूति से भिन्न नहीं माना। प्रश्न यह है : यदि शरीर-संज्ञा आत्म-सत्ता की अनुभूति का प्रथम सोपान है तो रस की अनुभूति में शरीर-संज्ञा का जो आत्म-संज्ञा (Self-conciousness) का अङ्ग है, क्या स्थान और कार्य है?

यह प्रश्न और भी उग्र रूप में उपस्थित होता है जब हम यह देखते हैं कि आत्म-संज्ञा रसानुभूति में साधक नहीं, बाधक होती है। 'अपने' को न भूलने वाला व्यक्ति, व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर घटने वाली रसास्वादन

की घटना को हृदयंगम नहीं कर पाता। इसीलिये कला में सौंदर्य-गुण का प्रथम स्फुरण शरीर और जीवन के सभी प्रदेशों और स्तरों में लय आदि के द्वारा अन्तःस्थित 'उत्तेजनाओं' को शान्त कर देता है। ये उत्तेजनाएँ और तनाव व्यवहार और क्रिया के लिये आवश्यक हैं। रस-प्रवण मन की प्रथम स्फूर्ति उत्तेजनाओं से जन्य शरीर-संज्ञा को 'लय' के द्वारा शमन करके, दूसरे क्षण में, एक नूतन शरीर-संज्ञा का संचार करती है जो रसिक के शरीर को उसके शिशु, स्वस्थ और जन्मजात स्थिति में फिर से ले जाती है। इसीलिये तो संगीत, नृत्य या अभिनय आदि का 'आस्वादन' करते समय रसिक के शरीर की स्थिति साधारण से कितनी भिन्न हो जाती है। यह कहना उचित न होगा कि रसास्वादन में शरीर-संज्ञा का अत्यन्त या आंशिक विलोप हो जाता है। अधिक उचित यह होगा कि नवीन गति व स्फूर्ति के जागरण से शरीर की परम आह्लादजनक दशा उत्पन्न होती है। स्नायविक उत्तेजनाओं के शमन से शरीर 'हल्का' हो जाता है और मानो 'भार' उतर जाने से उसमें नवीन 'बल' का संचार होता है। यह व्यापक स्फूर्ति वस्तुतः रसास्वादन की एक ओर अंशतः जननी, दूसरी ओर उसको धारण या वहन करने वाली तथा अन्त में, एक दृष्टि से, उसका फल भी कही जा सकती है। मानना होगा कि शरीर-संज्ञा अपने परिवर्तित रूप में ही नहीं, परिवर्द्धित रूप में भी, रसानुभूति में प्रविष्ट रहती है।

व्यक्तित्व के दूसरे घटक हैं: बुद्धि और उसकी समझने की शक्ति (Intelligence), प्रभाव-शक्ति (Forcefulness), संकल्प की दृढ़ता, कार्य-प्रारम्भ की क्षमता (Initiative), आत्म-गौरव की भावना, नैतिक दृष्टि से उचित-अनुचित का विवेक, जीवन और जगत् के प्रति दृष्टिकोण की विशिष्टता, भाव-प्रवणता (Emotionality), अन्तर्मुखी (Introvert) या बहिर्मुखी (Extravert) प्रवृत्तियों का संचार, धार्मिकता व सामाजिकता (Sociability), इत्यादि वे सभी गुण, शक्ति व प्रवृत्तियाँ मानव व्यक्तित्व के घटक या अंग हैं जो 'सम्पूर्ण' अस्तित्व का पता देते हैं। इस 'अस्तित्व' में व्यक्ति जो 'है', केवल वही सम्मिलित नहीं है; जो वह 'होगा' और जो

वह 'हो सकता है'—यह भी सम्मिलित है। अतएव मनुष्य की आशा, आकांक्षा और सम्भावनाएँ, उसके द्वारा स्वीकृत जीवन के 'आदर्श' और उनको पाने के मार्ग, उनको पाने के लिये अन्तर्वेदना और साहस की शक्ति, ये भी मानव-व्यक्तित्व के उसी प्रकार घटक हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व गतिशील, जीवन्त वस्तु है। वह अपनी स्वस्थ अवस्था में 'अग्रगामी' होता है, और अपने विकास के लिये नूतन दिशाओं का विस्तार करता है। वह अपने लिये नूतन मूल्यों का, मूल्याङ्कन की विधाओं का तथा उनके लाभ के लिये उपयुक्त मार्गों का शोध करता रहता है। संक्षेप में, मनुष्य का व्यक्तित्व उसका सम्पूर्ण 'अस्तित्व' है।

अनेक घटकों से बने होने के कारण, मानव-व्यक्तित्व के स्रोत भी बहुविध होते हैं। पहला स्रोत मनुष्य 'स्वयं' है—अर्थात् उसका शरीर, मन, बुद्धि, अहंभाव आदि। दूसरा स्रोत है उसका भौतिक और सामाजिक परिवेश। 'भौतिक' से हमारा तात्पर्य उसके देश की भौगोलिक परिस्थितियों से है—अर्थात् भूमि-तल की दशा, पर्वत, नदी, मैदान, पृथ्वी की ऊर्वरा या वन्ध्या दशा, वायु-वेग, जल-वृष्टि, यातायात के साधन, तापमान, ऋतु-क्रम, वनों, धातुओं, वन्य-जीवों आदि का विस्तार इत्यादि। ये भौगोलिक परिस्थितियाँ न केवल कला के कलेवर में और उसके द्वारा अभिव्यक्त सौन्दर्य में प्रतिबिम्बित रहती हैं, अपितु रसिक की रुचियों में भी उनका स्पष्ट प्रभाव रहता है। यह एक गवेषणा का विषय है कि भूगोल की परिस्थितियों ने किस प्रकार कला की अभिव्यक्ति और रस-रुचि को युग-युग में प्रभावित किया है। रसिक के व्यक्तित्व में उसके देश के भूगोल की 'छाप' रहती है, इसमें सन्देह नहीं है।

परन्तु भूगोल 'भौतिक' है। इससे भी अधिक मानव-समाज की वे 'चेतन' शक्तियाँ हैं जो स्यात् जन्म से भी पूर्व शिशु के प्रभाव-प्रवण शरीर और मन को आत्मसात् करना प्रारम्भ कर देती हैं। पिता अपने 'शुक्र-कण' के साथ सन्तति को न केवल अपने जीवन का संचित प्रसाद ही दे डालता है, साथ ही उस 'सन्तान-बीज' में अपने अनन्त पूर्वजों का संग्रहीत परन्तु

संक्षिप्त स्मृति-कोश भी थाती के रूप में सौंप देता है। माता उस 'सन्तान-बीज' को न केवल अपने रुधिर से सींचती है, वह अपने अस्तित्व का सम्पूर्ण बल, जीवन का अखिल रस, मानस का अनन्त विलास उसमें भर देती है। इस प्रकार शिशु जन्म से पूर्व ही उस 'जीवन' का उत्तराधिकार पा लेता है जिसकी अनन्त और अक्षय धारा का उद्गम पृथ्वी के ऊपर अभी अज्ञात है। जन्म के साथ ही माता-पिता व कुटुम्ब का सौहार्द उसे प्राप्त होता है, और परिस्थितिवश नहीं भी प्राप्त होता है। कुटुम्ब की आर्थिक, सामाजिक स्थिति, शिक्षा, संस्कृति, सम्पर्क आदि के लिये अवसर, सभ्यता का स्तर, राजनीतिक गति-विधियाँ, आदि ऐसे 'प्रभाव' हैं जो व्यक्ति में उसकी रुचि, अभिलाषा, आशा और आदर्श का निर्माण करने लगते है, और उसके जानने से पूर्व ही उसके अस्तित्व में ताने-बाने की भाँति पुर जाते है। न केवल उसके व्यक्तिगत जीवन के अनुभव, अपितु उसके समष्टि-जीवन के अनुभव भी स्मृति-कोश में संचित होने लगते हैं। यह कोश बढ़ता ही रहता है, और इसके ऊपरी भाग पर व्यक्ति अपने 'अहं' का अधिकार जमा कर कहता है : मैं यह हूँ, वह नहीं हूँ।

अनेक घटकों के इस निर्माण में उनका व्यवस्थित विन्यास, एक सूत्र मे गठन (Integration) 'अहं' के स्पष्ट होने के साथ प्रारम्भ हो जाता है। जीवन और जगत् के प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट होते ही अहं-भावना या आत्म-भावना उसको अपना केन्द्र बना लेती है। यह केन्द्र सक्रिय होता है, व्यक्तित्व के इस केन्द्र में 'अहं' रहता है, और वह अपनी परिधि बना लेता है, मर्यादाएँ स्थापित कर लेता है। अमुक वस्तु या कार्य मेरे लिये उपयुक्त है, अमुक अनुपयुक्त इत्यादि उसके व्यक्तित्व की सीमा का पता देती हैं। केन्द्र और परिधि के बीच का अवकाश अनेक विचार, रुचि या प्रवृत्ति अथवा स्वयं-स्वीकृत मान्यताओं से भरा होता है। संक्षेप में, व्यक्तित्व असख्य घटकों से निर्मित, स्वयं-संचालित तथा आत्म-भावना में केन्द्रित विन्यास है।

अपनी स्वस्थ दशा मे यह विन्यास अग्रगामी होता है:—इसमें अधिक

उदारता, विस्तार व दृढ़ता आती है। इसमें 'लोच' रहती है; परिस्थितियों के अनुसार यह अपने को अनुरूप रूपों में ढाल सकता है। नये तत्त्वों को ग्रहण करके उन्हें आत्मसात् करने की शक्ति रहती है। यह उसके 'जीवन्त' होने का प्रमाण है कि बाह्य-प्रभावों को किस सीमा तक ग्रहण करता है, और उन्हें पचा कर 'अपना' बना लेता है। यह उसकी आन्तरिक सामर्थ्य की माप है कि वह कितना बाहरी कारणों और आन्तरिक उबालों को सहन करता हुआ 'अपने आप' को नहीं खो देता। वह समुद्र के तल पर तैरते हुए छोटे बेड़े की भाँति नहीं होता जो वायु के थोड़े झकोरे से विचलित हो जाय। वरन् वह उस बर्फ के पहाड़ की भाँति या विशाल-काय पोत की भाँति होता है जिसका थोड़ा भाग ऊपर होता है और इसका कई गुना समुद्र के गहरे तल में। तभी तो वह विपरीत पवन में भी अपनी निश्चित दिशा में ही चलता है। उसका आदर्श उस व्यक्तित्व के लिये जहाज की हैड लाइट का काम देता है; उसका जीवन-संकल्प 'स्टीम' का।

परन्तु व्यक्तित्व सदा स्वस्थ ही रहे—यह आशा करना विरले ही सफल देखा जाता है। व्यक्तित्व की अस्वस्थ दशाओं को जटिल ग्रन्थियाँ (Complexes) कहा जाता है। ग्रन्थियों से भी उग्र दशा मानसिक रोगों मे होती है। चिन्ता, भय, असमर्थता की भावना, स्व-संज्ञा (Self-consciousness) की अत्यधिकता, अवधान का एक स्थान में न टिकना, आतुरता, अत्यन्त उदासीन भाव, धर्म आदि के प्रति अत्यधिक रुचि या तटस्थता, एकान्त का या जन-समुदाय का व्यर्थ भय, किन्हीं वस्तुओं, नामों या स्थानों से निरर्थक घृणा या आत्यन्तिक लगाव, निराधार गर्व या आत्म-ग्लानि का भाव, 'अपने' में अत्यधिक प्रेम या एकदम विरक्ति, मृत्यु या नरक-स्वर्गादि के विषय में निष्प्रयोजन विचार, इत्यादि कुछ ही 'जटिलताएँ' जिनका नाम हम गिना सकते हैं। जब तक मन की सामान्य दशा में ये वेग विद्यमान रहते हैं तब तक तो कोई चिन्ता की बात नही परन्तु ज्यों ही ये मन की स्थायी प्रवृत्तियाँ बन कर दुःख का कारण बनते

है, त्यों ही ग्रन्थियों का रूप धारण करते हैं। कहना होगा कि मानसिक रोगों की अवस्था तो इनसे भी भयंकर होती है। कुछ रोगों में व्यक्तित्व का विकास रुक (Arrest) जाता है; दूसरों में विकास के स्तर से भी व्यक्ति गिर कर नीचे स्तरों पर (Regression) पहुँच जाता है। कुछ में मन में भयंकर भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, दूसरों में भयानक विकृतियाँ हो जाती हैं, जैसे परपीड़न में आनन्द का अनुभव (Sadism), या आत्म-पीड़न में तृप्ति (Masochism) इत्यादि। वस्तुतः मानसिक ग्रन्थियों और रोगों की कोई सीमा नहीं है और न इससे कोई मुक्त ही है।

स्पष्ट है कि व्यक्तित्व की अस्वस्थ दशा में रसास्वादन कठिन है। सम्भव है कि किसी विकृत दशा में मन की भाव-प्रवणता बढ़ जाती हो, परन्तु तब भी 'आस्वादन' स्वयं विकृत हो जायगा। उदाहरणार्थ : भ्रान्ति (Paranoia) की अवस्था में मन किसी भी वस्तु में प्रतीति करने लगता है। छलना (Hallucination) में किसी भी अवास्तविक या क्षुद्र उत्तेजना स उग्र अनुभूतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। दुःख, कातरता, भय या उत्तेजना (Phobia and mania) की विभिन्न अवस्थाओं में भी सुन्दर वस्तु के अपने अपने अनुकूल प्रभावों को मन शीघ्रता से ग्रहण कर लेता है। रसास्वादन में इनका अंश रहता है, और इसीलिये कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने सारी रसास्वादन की प्रक्रिया को ही 'विकृत' मान लिया है। हमें इस मत का प्रतिवाद यहाँ अभीष्ट नहीं। परन्तु हमें यह कहना होगा कि मन की विकृत और दूषित दशा में जो साधारण से अधिक भाव-प्रवणता हो जाती है उससे सौन्दर्य का सन्तुलित प्रभाव और लयात्मक गति ग्रहण नहीं की जा सकती। प्रश्न यह है कि रस और रसास्वादन मे स्वस्थ या अस्वस्थ व्यक्तित्व का कितना और क्या भाग रहता है।

(३)

मनोवेत्ताओं ने मानसिक विकृतियों के अनेक कारण और उनकी चिकित्सा के लिये अनेक उपाय बताये है। उनका सामान्य कारण व्यक्ति

में 'यथार्थ' का सामना करने की सामर्थ्य का अभाव है। चिकित्सा का सामान्य उपाय, एक ओर 'यथार्थ' को इस सन्तुलित रूप में प्रस्तुत करना है कि उसका एकाङ्गीपन, कठोरता और भय दूर हो जाये, और दूसरी ओर व्यक्ति में संकल्प तथा सामर्थ्य को जागृत करना। स्वस्थ कला जो स्वयं मानस-विकारों से ही उत्पन्न नहीं है जीवन और जगत् का सन्तुलित, विस्तृत और उदार, सर्वग्राह्य और सामञ्जस्यपूर्ण रूप उपस्थित करती है। साथ ही, कुछ काल के लिये सौन्दर्य का आस्वादन व्यक्तित्व के क्रिया व व्यवहार को अपनी ओर मोड़ देता है, जिससे व्यक्ति का 'यथार्थ' के प्रति दृष्टिक्रम ही बदल जाता है। आप नहीं गिन सकते कि कितने चिन्ता, भय, निराशा आदि मानसिक व्याधियों से ग्रस्त मनुष्य रामायण आदि के पाठ और श्रवण से, मन्दिर व मूर्त्तियों के दर्शन से, भावपूर्ण पदों के संगीत, नृत्य और कीर्तन से, शान्ति-लाभ कर चुके हैं। माना कि इन अनुभूतियों में धर्म की भावना रहती है, परन्तु धर्म में प्राण फूंकने वाला कला के सौन्दर्य का आस्वादन मन को विकारों से मुक्त करने के लिये एक अचूक साधन है।

परन्तु हमारा प्रश्न भिन्न है। हमें यही नहीं कहना कि रसास्वादन स्वास्थ्यप्रद अनुभूति है। हमें बताना यह है कि सौन्दर्य के द्वारा व्यक्तित्व को स्वस्थ बनाने की प्रक्रिया स्वयं रस की अनुभूति के पोषण व विकास में बहुत योगदान करती है। पहले हम इस योगदान के निषेधात्मक रूप को लेंगे—अर्थात् जिस प्रकार व्यक्तित्व का 'विलय', भंग अथवा निर्गलन रस को जन्म देता है। 'मरतिहुँ बार कटक संहारा'। यह व्यक्तित्व विलय होता हुआ भी रस के अनेक स्रोत खोल देता है। कैसे ?

व्यक्तित्व जिन सामग्रियों से और जिन नियामक शक्तियों से स्वरूप ग्रहण करता है, उनसे स्पष्ट है कि उसकी दिशा, मोड़ और आकर्षण का केन्द्र 'यथार्थ' की सीमाओं के भीतर व्यवहार की सफलता प्राप्त करना है। स्वभावतः उसमें उत्तेजना और तनाव रहते हैं और उनके द्वारा जनित उत्ताप भी। इस उत्ताप को दूर करने के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति, कुछ

काल के लिये ही सही, अपने सीमित उद्देश्य, संकुचित दिशा और वास्तविकता से जकड़ देने वाली परिस्थितियों से मुक्त हो जाये। और इतना ही नहीं, वह अपनी असीम, अनन्त, स्वच्छन्द तथा निर्विकार सत्ता का अनुभव कर सके। व्यक्तित्व व्यक्ति की इस उन्मुक्त, विशाल आत्म-सत्ता पर संकुचित उद्देश्य की सिद्धि के लिये बनाया हुआ उपकरण है। वह व्यक्ति की आकस्मिक परिस्थितियों से उत्पन्न होता है, और उसके सनातन चिन्मय अस्तित्व पर आवरण डाले रखता है। हमें कभी-कभी तो स्वयं इच्छा होती है कि इस 'जाल' के पीछे तरङ्गायमान अपनी ही सत्ता का अनुभव करें। कला में सौन्दर्य का आस्वादन इस इच्छा की पूर्ति करता है। धर्म और दर्शन भी कला के साधन द्वारा तथा योग, ध्यान आदि के द्वारा मन की इसी स्थिति को स्थायी बनाने का प्रयत्न करते हैं; इसी का नाम आत्म-लय, ब्रह्मानुभूति, समाधि या 'भूमा' का अनुभव है। सौन्दर्य की अनुभूति में व्यक्तित्व के बन्धनों से यह मुक्ति, अचिर ही सही, परम आह्लाद का मूल है।

रस के आस्वादन में जीवन से पूर्ण आत्म-सत्ता के तरङ्गायमान सिन्धु मे हमारा लघु व्यक्तित्व तैराता है। 'लाघव' या हल्केपन की अनुभूति रस का एक स्रोत है। संकुचित उद्देश्य से छुटकारा पाकर व्यक्तित्व अपने में नवीन उद्देश्य के उदय से अद्भुत आलोक की छटा का अनुभव करता है। जीवन के असीम रूप में मिलकर उसमें नूतन शक्ति और स्फूर्ति का सचार होता है। व्यवहार के कारण जीवन मे जो गतिरोध और स्तब्धता आ जाती है, वह दूर हो जाती है, और उसके स्थान पर मार्दव और माधुर्य का लाभ होता है। जीवन और गति की नूतन धाराएँ फूट निकलती हैं। व्यक्तित्व के कई अँधेरे कोने प्रकाशित हो जाते हैं; बुद्धि को नई सूझ मिलती हैं जिनके लिये कठिन विचार-क्रिया की आवश्यकता नहीं होती। जीवन के लिये साहस और उत्साह प्राप्त होता है। बहुत सी मानसिक व्याधियाँ और जटिलताएँ जो संकुचित उद्देश्य से उत्पन्न होती हैं स्वयं शान्त हो जाती हैं। संक्षेप में, रसास्वादन में व्यक्तित्व का जो 'विलय'

होता है (जो वस्तुतः विलय नहीं, वरन् असीम आत्म-सत्ता का उदय होना है) उससे अनेक स्रोत निकलते हैं जो 'रस' को स्पष्ट, स्फीत और चमत्कारपूर्ण बनाते हैं।

(४)

हमें अपनी सत्ता के दो स्वरूप स्वीकार करने चाहिएँ : एक इसका सहज रूप जो साक्षात् उपनिषदों का आत्मा या ब्रह्म-तत्त्व, मनोवेत्ताओं का असीम 'अचेतन', बुद्ध का 'शून्य', बर्गसाँ का 'जीवन-धारा' (Elan Vital) विलियम जेम्स का 'चेतना-प्रवाह' (Stream of Consciousness), कुछ अन्तर के साथ है। दूसरा रूप व्यक्तित्व है जो सहज आत्म-सत्ता का आकस्मिक, व्यावहारिक, संकुचित व्यक्त यंत्र है, जिसके द्वारा अव्यक्त और आभ्यन्तरिक सत्ता 'यथार्थ' का स्पर्श पाती है। 'व्यवहार' अव्यक्त की व्यक्त की ओर प्रवृत्ति से उत्पन्न होता है, अर्थात् जब 'असीम' काल, स्थान और परिस्थितियों की सीमाओं को स्वीकार करता है। 'रस' इसका विपरीत है। यह व्यक्त और प्रस्तुत के अव्यक्त और अप्रस्तुत की ओर बहाव से उत्पन्न होता है, अर्थात् जब आत्म-सत्ता अपने स्वरूप को पाने के लिये सीमाओं का निराकरण करती है। व्यक्तित्व रस और व्यवहार के उत्पादन में उभयतोवाही यंत्र का काम करता है। वह असीम, आभ्यन्तरिक सत्ता की ओर भी मुड़ सकता है, तब उसे 'रस' का लाभ होता है; वह बाह्य की ओर भी स्वभावतः चलता है जब कि 'व्यवहार' सिद्ध होता है। यहाँ हमें व्यक्तित्व के प्रथम रूप के विधानात्मक कार्य पर विचार करना है।

जीवन जिन क्रियाओं का नाम है उनका रहस्य यह है कि वे अनेक बाह्य तत्वों को ग्रहण कर आत्मसात् कर लेती हैं। फलतः वे तत्त्व भी 'जीवन' बन जाते हैं। हमारा व्यक्तित्व भी जिन क्रियाओं का जीवन्त विन्यास है वे प्रकाश, वायु, आदि की तरङ्गों और नाना पदार्थों से निकलने वाली संवेदना की धाराओं को ग्रहण करके उन्हें 'चेतन' प्रत्यय और अनुभूतियों के रूप में बदल देती हैं। सौन्दर्य के अनुभव में ये क्रियाएँ और

भी प्रखर, व्यापक और विविध हो जाती हैं। व्यक्तित्व सौन्दर्य के प्रभाव से अनेक क्रियाओं का स्वयं केन्द्र बन जाता है। वह एक ओर प्रभाव और संवेदनाओं को ग्रहण करने के लिये 'वस्तु' की ओर चलता है, और, पुन उनको आत्मसात्, हृदयङ्गत करने के लिये मानो ध्यानस्थ हो जाता है, और वह अनायास और अज्ञात रीति से अपने को अपनी ही चिरन्तन सत्ता में लहराता हुआ पाता है। यह सौन्दर्य का सुख है जिसमें व्यक्तित्व क्षण-क्षण में बहिर्मुख होकर 'वस्तु' को आत्मसात् करता है और पुनः-पुनः उस आत्मसात् किये हुए 'सौन्दर्य' को लेकर अपने अन्तर के अन्तराल में जीवन की तरङ्गें, इसकी विशालता, स्वच्छन्द गति और अनन्त ओज का अनुभव करता है। व्यक्तित्व स्वयं इस प्रकार अनुभूति का माध्यम बन जाता है।

हमने रस और रसास्वादन के विषय में जो कुछ अब तक कहा है उसमे स्यात् यह विचार हो कि ये कोई 'सामान्य' तत्त्व हैं जिसका साधारणतया निर्वचन सम्भव है। सच बात यह है कि 'रस' के विषय में इससे बढ़कर शायद ही कोई और भ्रान्ति हो। वस्तुतः रसानुभूति की 'विशिष्टता' ही उसका सार है। प्रत्येक रस का अनुभव एक विशिष्ट घटना है। एक क्षण में नृत्य को देखने का 'आनन्द' दूसरे क्षण में सर्वथा भिन्न होगा। विभिन्न चित्रों के देखने से उत्पन्न अनुभूतियों में प्रखरता आदि समान होते हुए भी उनमे सामान्य तत्त्वों की खोज करना व्यर्थ है। यह विशिष्टता प्रत्येक कला को अपना अपना स्वरूप प्रदान करती है ; इसी से तो संगीत की अनुभूति को 'चित्र' के अनुभव से भिन्न किया जाता है। वास्तु, नृत्य, साहित्य, मूर्ति आदि कलाओं का अपना अपना 'स्वत्व' अनुभूतियों की विशिष्टता (Particularity) पर आश्रित है। और यह विशिष्टता स्वयं व्यक्तित्व पर आधारित है।

इसे यों समझिये कि रस का स्वरूप जो हमने व्यक्तित्व का विलय और आत्म-सत्ता का उद्घाटन माना है, इसके द्वारा इसका रहस्य नहीं मिलता। सुविधा के लिये इसे हम रस की 'सामान्य' परिभाषा स्वीकार

कार लें, परन्तु 'रस' जिसे हम ज्वलन्त, जीवन्त अनुभव के रूप में जानना चाहते हैं, वह तो किसी सुन्दर वस्तु का 'विशिष्ट' अनुभव ही हो सकता है। जैसा हमने प्रारम्भ में माना है कि हमें तर्कसंगत परिभाषा करना इष्ट नहीं, हम यहाँ यह भी कह सकते हैं कि 'विशिष्ट' की परिभाषा ही सम्भव नहीं। ताजमहल देखने से जिस 'रस' का अनुभव जगता है वह अनुभव जामामस्जिद देखने से भी जगे—यह सम्भव नहीं। यद्यपि दोनों ही वस्तु कला से उत्कृष्ट नमूने हैं, तथापि इनकी रसानुभूतियों में प्रत्येक की 'विशिष्टता' ही इनका प्राण है। प्रत्येक रसानुभूति की यह विशिष्टता माना कि कुछ सीमा तक सुन्दर वस्तु के माध्यम जैसे रंग, रेखा, स्वर, घन, आयतन, गति आदि से जनित होती है और कुछ अपने विन्यास तथा विस्तार की विचित्र विधा से, परन्तु इस वैचित्र्य और वैशिष्ट्य को अवगत करनेवाला तो व्यक्तित्व ही है। अतएव हमें स्वीकार करना होगा कि रस का सामान्य अर्थ केवल कल्पनाजन्य प्रत्यय हो सकता है, परन्तु उसका सत्तात्मक रूप व्यक्तित्व के द्वारा ही प्राप्त होता है। कलाओं का परस्पर भेद और प्रत्येक अनुभूति का अपना स्वरूप व्यक्ति ही अपनी विविध और विशिष्ट चेष्टाओं से निष्पन्न करता है।

और भी स्पष्ट करने के लिये हम कहेंगे कि किसी राग को सुनने में इन्द्रिय, शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, भावना, अहंभाव आदि व्यक्तित्व के अनेक स्तरों में जो क्रियाएँ जगती हैं, वे ही इसके आस्वादन का प्राण हैं। ये क्रियाएँ प्रत्येक राग में विशिष्ट होंगी। और राग का अनुभव करने में जो क्रियाएँ जगती हैं, वे किसी मन्दिर को देखने से प्रारम्भ होने वाली क्रियाओं से भिन्न होंगी। रस का प्रत्येक अनुभव विशिष्ट होता है, इसीलिये वह अ-परिभाषेय है। और इस वैशिष्ट्य का मूल कारण यह है कि व्यक्तित्व इसके उद्भव और विकास का माध्यम होता है।

(५)

व्यक्तित्व से रसानुभूति का विशिष्ट रूप प्राप्त होता है जो उसका स्वरूप है; क्योंकि वस्तुतः रसानुभूति रसास्वादन की क्रिया का नाम है जो

स्वयं अपने ही 'स्व' के विभिन्न प्रदेशों में मचनेवाली अनेक क्रियाओं का सुविधा के लिये दिया हुआ एक नाम है। इतना ही नहीं, आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रस-भेदों का कारण और आधार भी व्यक्तित्व ही है। रस का आस्वादन एक 'प्रिय' अनुभूति है। यदि इसमें हमारी चिन्ता, आशा व अभिलाषा, दुःख व दर्द, भय, प्रेम, संकल्प, संक्षेप में उन सब घटना और अनुभवों से सम्बन्ध नहीं है जो वास्तव में हमारे दैनिक जीवन में आते हैं, तो ऐसा 'रस' एकदम अ-वास्तविक होने से नीरस या निष्प्रभाव हो जायगा। कलाकार अपने कौशल से और रसिक अपनी रस-प्रवणता से जीवन के 'दैनिक' सत्य को न छोड़ कर उसी के माध्यम से 'रस' का सृजन और आस्वादन करते हैं। रस के जिस आध्यात्मिक रूप का हम प्रतिपादन करते आये हैं, यदि इसमें एक ओर से बाह्य संवेदनाएँ न मिलें, दूसरी ओर से जीवन के साधारण किन्तु जीवित अनुभव उसमें न व्याप्त हो, तो वह रस समाधि के अनुभव की भाँति चेतना का प्रवाह हो सकता है, परन्तु वह सौन्दर्य का अनुभव नहीं होगा। अतएव यह स्मरण रखना आवश्यक है कि रस का कोई भी केवल आध्यात्मिक आधार नहीं हो सकता, और, यह कि व्यक्तित्व के माध्यम से ही 'रस' को रूप, रस-गन्ध-स्पर्श, गति, ओज, आदि की सम्पदा प्राप्त होती है जिसके बिना वह शून्य-प्राय: ही रहेगा।

रस-चेतना में सम्भवत: भेद नहीं है। परन्तु व्यक्ति में स्थायी भाव, जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियाँ, अनेक भावों को विभावित करने की शक्ति तथा घटना और विभावों के प्रति प्रतिक्रिया (Reaction) करने के सामर्थ्य रहते हैं। जीवन में सुख-दुःख, उल्लास-पीड़ा, आशा-निराशा, भय या अभय जो कुछ भी रागात्मक व भावात्मक सत्ताएँ हैं उनका आधार ये स्थायी भाव ही हैं। यह माना जा सकता है कि जीवन के ही एकमात्र उद्देश्य को सफल करने के लिये एक अन्तर्हित, आधारभूत चेतना, प्रेम, भय, वीरता आदि भावों में विभक्त हो गई हो। जो भी माना जाय या कुछ न माना जाय, इतना सत्य है कि रस के जीवन्त रूप में जीवन

के सभी आवेग व उद्वेग, उसके स्थायी और क्षणस्थायी भाव, उसके सामाजिक सम्बन्ध और विभिन्न रुचियाँ, सभी रहते हैं। इनका किसी रासायनिक विधि से रूपान्तरण हो जाता है जिसकी हम चर्चा आगे करेंगे। परन्तु व्यक्तित्व के माध्यम में ये 'रस' में प्रविष्ट होते हैं इसमें सन्देह नहीं।

मनुष्य जीवन के 'यथार्थ' को केवल विक्षिप्त दशा में ही छोड़ सकता है और कुछ मतों के अनुसार तो तब भी नहीं। रस के आस्वादन में 'यथार्थ' को छोड़ा नहीं जाता, परन्तु उसे रूपान्तरित करके 'चर्वणा' के योग्य बनाया जाता है, उसे रसोद्दीपन का माध्यम और साधन बनाया जाता है। 'यथार्थ' से कितनी दूर हटा जाये—यह ज्ञातव्य विषय है। केवल इसी को 'रस' का प्राण मानने वाले भी प्रस्तावना (Presentation) की सुविधा के लिये अथवा दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये, इसमें अंशत परिवर्तन स्वीकार करते हैं। 'यथार्थ' की अपनी सीमाएँ है। इसलिये रस की स्वच्छन्द गति का अनुभव करने के लिये हम स्वेच्छा से इससे ऊपर उठते हैं। हम इतना ऊपर भी उठ सकते है कि हमे पृथ्वी पर अपना स्थान ही न दीख पड़े। परन्तु कितना ही ऊपर जायें, आँखें पृथ्वी की ओर लगी रहेंगी। 'यथार्थ' भी इसी प्रकार रस का वह गुरुत्वाकर्षण बिन्दु है जहाँ हिर-फिर कर रसिक लौट पड़ता है। यह 'यथार्थ' जो 'रस' के अनुभव को चुम्बक की भाँति 'अ-यथार्थ' होने से रोकने के लिये बाँधे रखता है, रसिक को अपने व्यक्तित्व ही से प्राप्त होता है।

संक्षेप में, रसिक अपनी रसानुभूति के लिये निम्नलिखित तत्व व्यक्तित्व से ग्रहण करता है: (क) रसानुभूति की विशिष्टता, (ख) रसो में भेद, उनकी विविधता और विचित्रता, (ग) प्रत्येक रस के अनुभव मे वस्तु की सौन्दर्य-सम्पदा (Concrete richness), (घ) रस की उपादान-सामग्री जिसमे उसका कलेवर सम्पन्न होता है, और जिसके बिना वह केवल शून्य (Abstract) हो रहेगा, (ङ) बुद्धि और मन की वे क्रियाएँ जिनके द्वारा सुन्दर वस्तु के विन्यास आदि गुणों को ग्रहण किया जात' है, (च) अन्त में 'यथार्थ' व्यक्तित्व के माध्यम से रस का अङ्ग बनता है

(६)

व्यक्तित्व को हमने उभयतोवाही विन्यास माना है : यह अपनी सत्ता के आभ्यन्तरिक आधार की ओर भी मुड़ सकता है, और 'यथार्थ' कहलाने वाले बाह्य की ओर भी। रस के आस्वादन में यह केन्द्रोन्मुखी और केन्द्रापसारी क्रिया पुनः-पुनः होती है: रसिक सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य-प्रभाव को ग्रहण करने के लिये आँखें खोलता है, कान लगाता है, शरीर के कुछ अङ्गों से स्पष्ट या अस्पष्ट गति करता है। परन्तु शीघ्र ही उसे आँखें या कान बन्द करके और गति को संयमित बनाकर ध्यानस्थ होना पड़ता है, क्योंकि वे प्रभाव रसिक को उसके जीवन व अस्तित्व के बिल्कुल मूल तक ले जाते हैं, उसके निर्विकार स्वरूप का उद्घाटन करते हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया में व्यक्तित्व उभयतोवाहिनी गति करता है, और रस के उस स्वरूप का निर्माण करता है जिसमें वह जितना आभ्यन्तरिक व गम्भीर होता है उतना ही बाह्य और विस्तृत।

यदि हम उपर्युक्त विवेचन स्वीकार कर लें तो सौंदर्य के विषय मे विषयगत (objective) और विषयीगत (Subjective) का प्रश्न हल हो जाय। प्रश्न इस प्रकार है : गुड़ का मिठास गुड़ मे है या उसको चखने वाले की चेतना में जो उसे ग्रहण करती है ? एक उत्तर विचारणीय है। गुड के परमाणु अवश्य ही इस प्रकार बने हैं कि उनमें 'मिठास' रहता है, सिकता में वे परमाणु नहीं है। अतः सत्ता की दृष्टि से (Ratio-Essendi) मिठास गुड़ मे है। परन्तु इस सत्ता का बोध (Ratio Cognos-cendi) चेतन व्यक्ति की चर्वणा आदि क्रियाओं से ही हो सकता है। इस न्याय के अनुसार सौन्दर्य वस्तु में रहता है और उसका अनुभव प्रेक्षक में। विषय और विषयी दोनों के सम्मिलन से ही सौन्दर्य आत्मलाभ करता है, जैसे मिठास गुड़ और आस्वादक के मिलने से। इस न्याय मे यदि कोई त्रुटि है तो यह कि इससे सौन्दर्य को केवल विषयगत या केवल विषयीगत मानने वाले सन्तुष्ट नही होते। यदि हम अपने दृष्टिकोण से इस प्रश्न का समाधान करें तो कह सकते है कि सौन्दर्य सुन्दर वस्तु

का गुण होने के नाते वस्तु या विषयगत पदार्थ है। वस्तुगत सौन्दर्य का रसिक को ध्यान न रखकर भी विवेचन किया जा सकता है। परन्तु सौन्दर्य की अनुभूति के क्षण में रसिक ज्यों ही इसे ग्रहण करने लगता है, वह रसिक के व्यक्तित्व मे अनेक क्रियाओं का स्फुरण कर देता है जिनको हम 'रस' या 'रसास्वादन' की संज्ञा देते हैं। उस क्षण में वस्तुगत सौन्दर्य का प्रभाव रसिक में रसास्वादन का रूप धारण करता है जो एकदम विषयीगत पदार्थ है। अतएव हम मानेंगे कि ज्यों ही प्रेक्षक वस्तु की ओर सौन्दर्य-प्रभाव को ग्रहण करने के लिये केन्द्र से अपसरण करता है, वह वस्तुगत (objective) पदार्थ को ही ग्रहण करता है; किन्तु वह वहाँ क्षण से अधिक न टिकेगा, और, अपनी ओर उस प्रभाव को मानो लेकर लौटेगा ही; उस क्षण में वह सौन्दर्य केवल विषयीगत ही हो जायगा। इस प्रकार सौन्दर्य व्यक्तित्व के अन्तःसरण और बहिःसरण की क्रियाओं द्वारा विषयगत और विषयीगत होता रहता है। सत्ता की दृष्टि से सौन्दर्य का अधिष्ठान केवल सुन्दर वस्तु है, और रस का अधिष्ठान केवल रसिक। परन्तु अनुभूति के लिये दोनों का समानाधिष्ठान होना आवश्यक है : विषय और विषयी मिलकर ही रस का सृजन करते हैं। फिर भी यह मानना होगा कि सौंदर्य की सत्ता विषयगत ही है, क्योंकि कलाकार वस्तु में ही सौन्दर्य का सृजन करता है, न कि रस का। और रसिक अपनी आस्वादन की क्रियाओं से उसे 'रस' में परिणत करके विषयीगत बना देता है। अन्ततोगत्वा, 'मिठास' न गुड़ में है न भोक्ता में, वह 'चखने' की क्रिया में है। इसी प्रकार 'सौन्दर्य' न विषय में है न रसिक में, वह रसास्वादन में है।

(७)

एक भ्रान्त मत प्रचलित है कि कोई वस्तु कभी सुन्दर तो कभी असुन्दर लगती है, इसलिये सौन्दर्य केवल विषयीगत पदार्थ है। इस मत में तीन बड़ी भूलें हैं :—

१. अनुभव की सापेक्षता से यह 'वस्तु' को ही विषयीगत (Subjective) मान बैठा है। अनुभव सभी सापेक्ष (Relative) होते हैं; प्रत्येक

अनुभव अन्य अनुभवों से स्पष्ट या अस्पष्ट सम्बन्ध रखकर ही आत्मलाभ करता है। मीठा खाने के बाद 'चाय' में कम मीठे की शिकायत होती है। तेज धूप में चलकर आने के बाद टीन के तपे हुए साये में भी आराम मालूम होता है जो खस की टट्टी से निकल कर असह्य मालूम पड़ेगा। जब कोई वस्तु एक समय सुन्दर और दूसरे समय असुन्दर प्रतीत होती है तो अन्य अनुभवों से इसका सापेक्ष लगाव देखना चाहिए। किसी प्रियजन की मृत्यु के विषाद से मग्न मनुष्य को वसन्त राग का शृंगारी आलाप या धर्म-भावना से आप्लावित मनुष्य को विदूषक का अट्टहास सरस नहीं बना सकता। अनुभवों की सापेक्षता विरोधी या उपकारी-उपकार्य भाव में हो सकती है। इसीलिये तो कलाकार सुन्दर वस्तु के लिये अपनी सौन्दर्य-चेतना के बल से उपयुक्त परिवेश या सैटिंग (Setting) का भी निर्माण करता है। पृष्ठभूमि का प्रभाव (Background effect) अनुभूतियों की परस्पर सापेक्षता पर आधारित है। नेपथ्य, रंगमंच, प्रकाश, छाया आदि अनेक तत्त्व हैं जो सौन्दर्य के प्रभाव की समृद्धि करने के लिये, परस्पर अनुकूल होने के कारण, अपनाये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि सापेक्षता सौन्दर्य का एक नियामक विधान है। इससे सौन्दर्य का विषयीगत रूप प्रमाणित नहीं होता।

२. दूसरी भूल यह है कि अभी तक हम सौन्दर्य के ऊपर विचार को दार्शनिक मतवाद से मुक्त नहीं कर पाये। यूरोप में लॉक, बर्कले, ह्यूम से लेकर जर्मन दार्शनिकों तक और हमारे यहाँ बौद्ध और वेदान्त ऐसे प्रबल सिद्धान्त हैं कि इनका संस्कार हमारे चिन्तन में गम्भीर होकर पैठा हुआ है। इनके अनुसार सत्ता केवल प्रतीति मात्र है। हम यहाँ इन मतवादों में नहीं जा सकते। कला की दृष्टि को ही सामने रखकर हम कहेंगे कि यदि सौन्दर्य केवल रसिक की 'प्रतीति' मात्र ही है तो वह 'यथोर्णनाभो सृजते गृह्णते च' के न्यायानुसार वस्तु की अपेक्षा न करके स्वतन्त्र रूप से उस प्रतीति का 'सर्ग' और 'विसर्ग' क्यों नहीं कर लेता। सामान्यतया सुन्दर वस्तु से ही सौन्दर्य की प्रतीति होती है; अनुभवों की सापेक्षता के कारण कभी

अन्तर हो सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि सौन्दर्य केवल प्रतीति है तो कला में 'सृजन' निरर्थक है और 'कौशल' व्यर्थ का ढकोसला।

३. तीसरी भूल जो सबसे बड़ी भूल है वह यह कि हमने रस और सौन्दर्य के विवेचन में व्यक्तित्व के द्वारा स्थापित सीमाओं का विचार नहीं किया है। या तो हमने रसास्वादन मे व्यक्तित्व का एकान्त विलय, तिरोभाव या निरास मान लिया जिससे हमें रस का शुद्ध, अविभक्त आध्यात्मिक रूप प्राप्त हुआ और या हमने व्यक्तित्व को ही रस का ग्राहक, भोक्ता स्वीकार किया जिससे हमें नाट्य के आठ या नौ रस मिल गये। वस्तुतः रस की निष्पत्ति में व्यक्तित्व का क्या निश्चित रूप और कार्य रहता है, अपने विधान और निषेध से हमें कौन कौन से तत्त्व इससे प्राप्त होते हैं जो रस के अङ्ग हैं, और अन्त में, यह व्यक्तित्व रस, सौन्दर्य, रसास्वादन की क्रियाओं का निरोध करता हुआ किस प्रकार उनका मापक होता है, उनमें तारतम्य, न्यूनाधिकता और अंशों (Degrees) का निर्माण करता है—इन प्रश्नों पर हमने विचार नहीं किया। यह अनुभव द्वारा प्रमाणित सत्य है कि रस और सौन्दर्य की अनुभूति एक ही व्यक्ति में सदैव या अनेक व्यक्तियों में एक साथ, समान नहीं होती। वह कभी कम, कभी अधिक, कभी बिल्कुल नहीं। एक व्यक्ति मूर्त्ति के देखते ही घृणा से भर जाता है, दूसरा उसे देखकर शान्ति और सुख का अनुभव करता है। हमें पश्चिमी संगीत में रस का अनुभव नहीं होता, और किसी पश्चिमी को हमारी आठ भुजा वाली या विभिन्न पशु-अवतारों की मूर्त्तियाँ देखकर हँसी आती है। पुरान-पन्थियों को आधुनिक कविता का स्वच्छन्द छन्द 'रबर छन्द' प्रतीत होता है तो आधुनिकवादियों को सूर के पद व्यर्थ क्रन्दन प्रतीत होते हैं। किसी को उपन्यास और उपन्यासों में भी जासूसी अच्छे लगते हैं तो कोई केवल शेक्सपीयर, कालिदास या पन्त को ही सराह सकता है। इसका कोई अन्त नहीं क्योंकि 'भिन्नरुचि र्हि लोकः'। किन्तु रसास्वादन में रुचि-वैचित्र्य का कारण और तारतम्य का आधार रसिक का व्यक्तित्व ही होता है। कैसे ?

रुचि की विचित्रता तो स्पष्ट ही व्यक्ति की शिक्षा, संस्कार, वातावरण आदि पर आश्रित है। यदि किसी को मूर्ति में 'कुफ्र' दीख पड़ता है तो इसका कारण उसका धार्मिक पूर्वग्रह है। हमें यदि पश्चिमी संगीत अच्छा नहीं लगता तो इसलिये कि प्रारम्भ से उसके संस्कार हमारे मस्तिष्क पर नहीं पड़े। यदि पश्चिमी को हमारी बहुभुजी या बहुमुखी मूर्तियाँ उपहासास्पद मालूम होती हैं तो यों कि वह हिन्दू धर्म के 'प्रतीकों' का जानकार नहीं है। इसी प्रकार कला में व्याप्त रूप, कौशल, अभिव्यक्त भाव आदि को समझने की क्षमता व बुद्धि का पर्याप्त परिपाक भी 'रुचि' में भेद उत्पन्न कर सकता है। संस्कृति और सभ्यता स्वयं जिस 'स्तर' पर आनन्द ग्रहण किया जा सकता है उसको निर्धारित करती हैं। हमारे स्थायी आग्रह, नैतिक, सामाजिक या व्यक्तिगत मान्यताएँ, यहाँ तक कि पूर्वग्रह, पक्षपात एक ओर, और दूसरी ओर क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील मन की अवस्थाएँ, ये सभी रस के प्रति अभिरुचि का स्वरूप निश्चय करते हैं। और इनका एकमात्र स्रोत रसिक का व्यक्तित्व ही है।

परन्तु व्यक्तित्व रसास्वादन की सीमाएँ ही केवल नहीं बनाता, वह रस और सौन्दर्य को नापने के लिये 'मीटर,' मापदण्ड का भी काम देता है। यह इसका अत्यन्त उपयोगी काम है। हम कैसे कह सकते हैं कि कौन वस्तु सुन्दर है, कौन असुन्दर, और कौन वस्तु अपेक्षाकृत 'कितनी' सुन्दर है? माना कि अन्य प्रकार से भी हम इसका निर्णय कर सकते हैं, परन्तु रसिक की दृष्टि से सौन्दर्य की माप केवल अपने व्यक्तित्व के विभिन्न प्रदेशों व तलों पर पड़े हुए प्रभावों के द्वारा ही सम्भव है। जैसा कि हमने पहले माना है कि रसिक 'रस' में बिल्कुल 'डूब' नहीं जाता, क्योंकि वह चेतनाशून्य होकर रसावगाहन नहीं कर सकता। रसास्वादन के क्षण में चेतना और भी 'प्रज्वलित' होती है; मानस के अन्तराल में और भी क्रिया, गति व स्फूर्ति जगते हैं। व्यक्तित्व ही इनका अधिष्ठान होता है। अतएव यदि रसिक आग्रह और पक्षपातों से अपने को छुड़ाकर अपने अन्तर की इन क्रियाओं को नापने लगता है तो वह वस्तु के

सौन्दर्य का विनिश्चय कर सकता है। इस विनिश्चय के स्वरूप पर विचार आगे किया जायगा। परन्तु इतना नितान्त सत्य है कि व्यक्तित्व के द्वारा समीक्षा फलीभूत हो सकती है। 'सौन्दर्य' कितना गम्भीर है, इसका पता हमें चलता है जब हम इसके प्रभाव से प्रभावित होकर नापते हैं कि हमारा व्यक्तित्व मूल-चेतना की ओर कितना पैठ गया। सौन्दर्य का कितना विस्तार है, इसका पता हम अपने व्यक्तित्व के विभिन्न तलों पर व्याप्त प्रभाव के द्वारा नापते हैं। 'सौन्दर्य' में 'मानों' का मानना, और उनकी सहायता से सौन्दर्य के माप की सम्भावना को स्वीकार करना ही समीक्षा का आधार हो सकता है।

६

रसायन

सौन्दर्य के सन्दर्भ में 'रसायन' शब्द सुनकर पाठक स्यात् चौंकें! यह शब्द एक गढन्त है जिसके अन्तर्गत हम उन क्रियाओं का विवेचन करना चाहते हैं जिनके द्वारा अनेक अ-सुन्दर भाव व तत्व सौन्दर्य की प्रकृष्ट अनुभूति उत्पन्न करते हैं, सामान्यतया 'रसनीय' न होते हुए भी रस के अनेक और अद्भुत स्रोतों को जन्म देते हैं। ये भाव अनन्त हैं जो किन्हीं रासायनिक विधियों से वस्तु के सौन्दर्य में प्रविष्ट होकर स्वयं रस में परिणत हो जाते हैं। या यों कहिए कि कोई भाव ऐसा नहीं जो 'रस' के रूप में अनुभूत न किया जा सके, यदि उसे उचित रसायन का प्रयोग मिल जाय! 'काम' को ही लीजिये। यह शृङ्गार रस का सार है। 'क्रोध' की रस-परिणति 'रौद्र भावना' के रूप में होती है। इसी प्रकार विराग, विषाद, नैराश्य, भय, जुगुप्सा आदि विशेष परिस्थितियों में प्रकृष्ट रसानुभूति के जनक होते हैं। इतना ही नहीं, बहुधा माना जाता है कि 'रूप' ही 'रस' का उत्पादक है। परन्तु कला और जीवन में बहुत बड़ा अंश 'अरूप' या 'विरूप' का है। 'अ-साधारण' का तो स्थान और भी आदर का है। न केवल इतना; धर्म, मंगल, नीति, सत्य, समाज, इतिहास, विकास, विनाश, जीवन का प्रत्येक पार्श्व व व्यवहार, न जाने कितने तत्व हैं जो 'रस' के पारस का स्पर्श पाकर स्वयं तद्रूप हो जाते हैं। प्रस्तुत भाग में इन्हीं रासायनिक क्रियाओं का विशदीकरण किया जाना है।

माना कि कलाकार का सम्पूर्ण प्रयत्न और कौशल इन्हीं 'रसायन' विधियों के लिये होता है, परन्तु इस समय हम रसिक के ही उन आभ्य-

न्तरिक प्रक्रियाओं और प्रयत्नों की चर्चा करेंगे जिनके द्वारा स्वभावत: अ-सुन्दर तत्त्वों की रस-परिणति होती है, क्योंकि अन्ततोगत्वा रस रसिक के अन्तर में ही उद्भुत क्रियाओं का आस्वादन है। रसिक की 'स्वकीय' परिणति के बिना कोई भाव रस नहीं बन सकता। इसके अतिरिक्त हमें यह मानना होगा कि रसिक की चेतना-धारा में यद्यपि अनेक भाव व तत्त्व रहते हैं, तथापि वह अत्यन्त 'सरल' और पूर्णत: 'एक' रहती है। इस सरल और एक धारा में हम मानसिक विश्लेषण की विधि से 'अनेकों' का अनुशीलन कर सकते हैं, परन्तु इन्हें 'पृथक्' नहीं कर सकते। तब फिर 'रस' को अन्य भावों से विलग करना या अलग मानना सम्भव व उचित नहीं है। इस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि हम रस के साथ अन्य भावों व तत्त्वों के रासायनिक विमिश्रण के नियमों का अध्ययन करें। यदि किसी समय ये भाव रस के साथ मिश्रित होकर 'एक' नहीं होते तो रस-परिपाक में कमी आती है।

और भी, रस की 'शुद्ध' अनुभूति केवल अपने चित्स्वरूप की अनुभूति है। यह इसका सरलतम रूप है। परन्तु व्यक्तित्व के अन्य तत्वों और पार्श्वों में भी रसास्वादन में 'क्रिया' जगती है। यह 'क्रिया' केवल 'क्रिया' नहीं रह सकती। उदाहरणार्थ बुद्धि या चित्त में जो बौद्धिक या चैत्तिक क्रियाएँ सजग होती हैं, वे किसी न किसी 'भाव' को लेकर ही अग्रसर हो सकती हैं, शून्य में नहीं, ठीक जैसे आटा पीसने की चक्की बिना उसमें कुछ डाले क्या चलेगी? क्रिया 'विषयगत' ही हो सकती है। अतएव 'रस' की धारा में व्यक्ति के जीवन में मचने वाली अनेक गति और स्फूर्तियाँ अनेक विषय और भावों को साथ लिये बिना नहीं होती। वस्तुत: जिस क्रिया को हमने रसास्वादन की क्रिया माना है, उसमें अनेक तत्त्व विमिश्रित रहते हैं, जिनके बिना वह केवल 'भावात्मक' (Abstract) ही रह सकती है। उसमें 'विशिष्टता' का अभाव होगा तथा उस अनुभूति का सारा वैभव व प्रभाव हल्का हो जायगा। रसास्वादन के 'क्रियात्मक' स्वरूप का विवेचन किया जा चुका है, परन्तु उस 'क्रिया' के आधारभूत तथा उसको 'सम्पन्न'

(Concrete) बनाने वाले तत्वों और उनकी विमिश्रण विधियों पर विचार यहाँ करना है।

(२)

पहले हम सौन्दर्य-रसायन के सामान्य नियमों का (Laws of Aesthetic Chemistry) विचार करेंगे। ये नियम चार हैं: १. आत्म-लब्धि, २. दूरतापादन, ३. शरीरीकरण, ४. विभाव्यता-सम्पादन। ये नाम कुछ अंश में स्वछन्द हैं, और कुछ में अन्य चिन्तकों के अनुग्रह।

आत्म-लब्धि—आत्म-लब्धि हम उस रासायनिक क्रिया को कहते हैं जिसके आश्रय से रसिक स्वभावत: अ—सुन्दर व अ—रस तत्वों को 'अपने' में आत्मानुभूति को जागृत करने वाले उनके प्रभावों के कारण 'रस' के रूप में ग्रहण कर लेता है। हमने माना है कि आत्म-सत्ता की अनुभूति या अपने ही 'अस्तित्व' के मूल में आन्दोलनों की जागृति रस-चेतना का बीज है। जिन भावों, तत्वों और क्रियाओं से यह आत्म-स्फूर्ति संचालित और सम्पुष्ट होती है, अथवा जिनके द्वारा रसिक अपने स्वरूप, शक्ति, विस्तार, वैभव तथा अपनी आन्तरिक गम्भीरता का अनुभव करता है, वे सब भाव आदि, चाहे उनका जो अपना स्वभाव हो, रसिक के लिये 'रसनीय' हो जाते हैं। इसके विपरीत जो कोई तत्व आत्म-लब्धि में बाधक होता है, वा सहायक न होकर तटस्थ रहता है या आत्मा का संकोच करता है, वह अ—सुन्दर और रस्यता से हीन हो जाता है।

यह आत्म-लब्धि का सामान्य कथन है। विभिन्न अवस्थाओं में, जैसा हम देखेंगे, इसके विशिष्ट रूप हो सकते हैं। आत्म-तृप्ति इसका आवश्यक अंश है। रसिक को रस मे 'तृप्ति' अवश्य मिलनी चाहिये। परन्तु तृप्ति किसकी हो? इच्छाओं की? हमने इच्छा और तज्जन्य उत्तेजनाओं को 'रस' से बाह्य माना है। और बिना 'तृप्ति' के सौन्दर्य में आकर्षण ही क्या हो सकता है? तब रसास्वादन में आत्म-तृप्ति का क्या स्वरूप होगा? जिस प्रकार स्रष्टा कवि और कलाकार अपने 'स्व' की अभिव्यञ्जना

करके कृतकृत्यता का सुख अनुभव करते हैं, या पिता 'अङ्गाद् अङ्गाद् निसृत,' शरीर और आत्मा की धातुओं से निर्मित औरस पुत्र को देखकर तृप्ति पाता है, उसी प्रकार की तृप्ति रसिक भी अनुभव करता है। कारण कि सौन्दर्य-सृजन का एक उद्देश्य आस्वादक को उसके आत्मा के विस्तार व निष्यन्द के लिये अवकाश प्रदान करना है। व्यक्ति के जीवन की यह मूल-प्रेरणा है कि वह यदाकदा अपने 'आकस्मिक' रूप—व्यक्तित्वरूपी नक़ाब—को उतार कर रख दे, उसकी सीमा व बन्धनों को तोड़ कर अपने 'सहज' रूप की झाँकी पाये। कला में सौन्दर्य और इससे भी बढ़ कर नैसर्गिक छटा, मन की इस प्रवृत्ति को फलीभूत होने का अवसर देते हैं। भोक्ता जल-प्रवाह को देखकर उसमें 'बह जाना' चाहता है; उस प्रवाह का सारा बल, तरङ्गों की सम्पूर्ण चंचलता, लहरों का उत्कट वीर्य, पानी का घोर पतन से उत्पन्न चीत्कार और उसका विकट उबाल, एक क्षण में सहस्रों बुदबुदों का सृजन और क्षण में संहार—दर्शक 'जल-प्रवाह' को अपने अङ्गों, प्राणों और स्नायुमण्डल मे भर लेता है। उसके आत्मा की यह तदाकारता रसानुभूति का प्राण है। इसी प्रकार श्रोता स्वयं स्वरों का दिव्य और वायव्य शरीर धारण करता है। चित्र में दिये गये जल-प्रवाह, समुद्र, पर्वत या कोई भव्य आकृति को देखने पर तो दर्शक में यह तन्मयता की अनुभूति और भी प्रखर होती है। किन्तु वास्तु, मूर्त्ति, चित्र आदि सभी कलाओं की अपेक्षा, नृत्य में यह प्रवृत्ति एकान्तेन उबल उठती है। एक ओर नर्तक या नर्तकी का सम्पूर्ण देह, उसके नेत्र, भ्रू-चाप, अधर-ओष्ठ, चिबुक, उँगली व हाथों की गति, अंग-प्रत्यंग और कलेवर, सभी, क्षण-क्षण में अद्भुत व नवीन व्यञ्जनाएँ, अज्ञात और अविज्ञेय की ओर प्रबल, अनगिन संकेत, लय के प्रभाव से सृजन करते हैं तो दूसरी ओर प्रेक्षक का आत्मा व शरीर उस सम्पूर्ण लय और गति को ग्रहण कर स्वयं तद्रूप हो जाता है। नर्तकी के 'लास्य' की सुकुमारता उस 'गति' में अनेक सुकुमार भावों की अभिव्यंजना करती है तथा ताण्डव में नर्तक का पदक्रम वीर और उदात्त भावों का संचार करता है। इस प्रकार नृत्य में शरीर के माध्यम

से अभिव्यक्त हुए स्वच्छन्द गति, उन्मुक्त लय-प्रवाह, बुद्बुदों के समान क्षण-क्षण में उत्थान-पतनशील भाव तथा चंचल उच्छ्वासों से उछलती हुई तरङ्गमयी व्यंजनाएं—ये सभी प्रेक्षक में 'जड़ता' का अपहार करके अपना सम्पूर्ण ओज और विलास भर देते हैं। क्या यह तृप्ति किसी भी साधारण इच्छा-तृप्ति से कम गौरव व प्रभाव रखती है?

कलाकार के लिये सफल आत्माभिव्यक्ति और रसिक के लिये पर्याप्त अवकाश—यह आत्म-लब्धि का स्वरूप है। यही रसास्वादन में 'तृप्ति' का रूप है। इसीलिये रसास्वादन में क्रीड़ा और विनोद का बड़ा अंश रहता है। कुछ चिन्तक तो क्रीड़ा को ही कला का उद्देश्य मानते हैं और मनोविनोद को इसकी कृतार्थता। ठीक भी है, क्योंकि क्रीड़ा (Play) और कार्य (Work) में जो अन्तर है वही 'रस' और व्यवहार' में भी है। क्रीड़ा में मन की उड़ान, काल्पनिक प्रतीति (Make-believe) के लिये स्थान है। सांसारिक कार्य-व्यवहारों से जनित जड़ता और जटिलताओं से मानो हम खेलने के लिये 'छुट्टी' लेते हैं। यह ऐसे ही जानिए जैसे कठोर अनुशासन रखने वाले अध्यापक का फुटबाल खेलने के लिये कुछ समय के लिये छात्रों को छुट्टी दे देना। यही कारण है कि 'अत्यन्त' गम्भीर प्रकृति वाले पुरुष रसास्वादन के लिये असमर्थ होते हैं, या वे सज्जन भी जो सदैव स्वसंज्ञा (Self-consciousness) की कर्दम में उलझे रहते हैं। यदि ऐसे व्यक्ति अपने 'गाम्भीर्य' और 'अपने में ही मगन' भावों को नहीं छोड़ते तो इन्हें कोई भी आनन्द प्राप्त नहीं होता, 'रस' का आनन्द तो दूर रहा। वस्तुतः रसास्वादन के लिये शिशु का सरल, निष्पाप और निरीह भाव आवश्यक है। सौन्दर्यानुभूति के लिये तो प्रत्येक जन को मानो अपने में 'शिशुता' का आरोप करना पड़ता है। इस सबका तात्पर्य यह है कि रसास्वादन के क्षण में अपने आग्रह, पूर्वग्रह आदि आत्मा को संकुचित बनाने वाली प्रवृत्तियों से छुटकारा पाकर अपने असीम, सहज रूप का लाभ मिलना चाहिये। यह आत्म-लब्धि धर्म और योग के साधनों और विचारों के प्रकाश से भी प्राप्त की जा सकती है, परन्तु सौंदर्य आत्म-लब्धि का परम प्रिय साधन

है। और जिन भावों से, चाहे वे स्वयं सुन्दर हो या असुन्दर, यह प्रिय आत्म-लब्धि होती है, वे इस रसायन-विधि से प्रिय हो जाते हैं।

(३)

दूरतापादन—आत्म-लब्धि का अर्थ है कि प्रेक्षक नृत्य, जल-प्रपात, चित्रित गिरि-शृङ्ग, सङ्गीत आदि में उनके गुणों को 'अपने' में ग्रहण कर तदाकार होता है तथा 'अपने' सहज रूप का साक्षात्कार करता है। परन्तु इस तन्मयता व तदाकारता प्रवृत्ति की सीमा होनी चाहिए, नहीं तो "मैं ही नृत्य हूँ या गिरि-शृङ्ग, प्रपात, सङ्गीत या नाट्य में, मैं ही दुष्यन्त हूँ" इस प्रकार की भावना के उत्थान से रस में विरसता उत्पन्न हो सकती है। रसिक केवल सौंदर्य के वस्तुगत गुणों का 'अपने' में आरोप करके आत्म-लब्धि ही नहीं प्राप्त करता, साथ ही और आवश्यकतया, वह 'अपने' भावों, गुणो व अनुभूतियों का 'वस्तु' में भी आरोप करता है। इसी का नाम हमने 'दूरतापादन' (distancing) रखा है। इसके द्वारा न केवल 'वस्तु' आत्मा के गुणों से आलोकित होती है, वह 'आत्मीय' बनकर प्रिय व सुन्दर हो उठती है। रसिक 'अपने' में ही 'अपने' भावों का अनुभव करके सुखी नहीं हो सकता। वह अन्य वस्तु में उन भावों का प्रक्षेप करके उसे 'आत्मीय' बनाकर रस-लाभ करता है। इसीलिये उसके द्वारा अनुभूत विषाद, भय, निर्वेद आदि के उत्ताप-जनक भाव भी कला-वस्तुओं में अभिव्यक्त होकर परम रस के स्रोत बन जाते हैं। जो वस्तु रसिक को उसके अनुभवों, गम्भीर वेदनाओं तथा भावों को जितना अवकाश व अवसर उनके ग्रहण करने के लिये देती है, वह उतनी ही 'सुन्दर' हो उठती है। यही कारण है कि साधारण कुम्हार के बने हुए खिलौने उतने सुन्दर नहीं जितनी बुद्ध की वे मुद्राएँ जिनमें रसिक अपने जीवन की प्रकृष्ट और गम्भीर अनुभूतियों का साक्षात्कार करता है। वस्तुतः रसिक 'अपने' मे ही 'अपनी' अनुभूतियो को देखकर आनन्दित नहीं होता; इसके विपरीत वह उन 'स्वकीय' अनु-भूतियों को 'वस्तु' के विस्तार में, उसके विलास और वैभव में, उनकी गति

व स्फूर्ति में, उसके अलंकृत कलेवर में ही साकार और साक्षात् देखकर रस का अनुभव करता है। दूरतापादन की यह रासायनिक विधि ही अनेक रसहीन वस्तु और भावों को रस को अक्षय निधि बना देती है।

कलाकार का सम्पूर्ण कौशल 'वस्तु' के माध्यम और सौंदर्य के प्रभाव मे रसिक को आत्म-लब्धि व दूरतापादन के लिये उचित अवसर प्रदान करने के हेतु होता है। उस कौशल की यहाँ चर्चा नहीं करेंगे। इतना पर्याप्त होगा कि कलाकार अपने कौशल से रसिक के गम्भीर विषाद आदि को स्वस्थान से हटाकर 'इतिहास' में स्थापित कर देता है, और इतिहास उसके मनोभावों को ग्रहण कर उनकी गोचर अभिव्यक्ति के लिये प्रचुर सामग्री प्रदान करता है। यह इतिहास विज्ञानवेत्ताओं का इतिहास नहीं होता, क्योंकि उसमे 'तथ्यात्मकता' के बजाय भावों का ही प्राधान्य रहता है। 'इतिहास' का यहाँ अर्थ रसिक के 'अहं' को छोड़कर उसका सम्पूर्ण जीवित और अचर परिवेश है, जो 'अहं' को साकार होने के लिये अवसर व सामग्री प्रदान करता है। इसमें समाज, संसार और अब तो संसार से दूर नक्षत्र-मण्डल भी सम्मिलित हैं। 'इतिहास' कला के कौशल का वह अंग है जिसके द्वारा रसिक अपने 'भावों' को 'दूसरों' मे देखता है।

आत्मीय वेदनाओं को 'दूर' करके साक्षात् देखने का एक और भी प्रकार है। वह है दार्शनिकता की प्रवृत्ति (To philosophize)। सुन्दर वस्तु में स्वयं दार्शनिक विचारों को उठाने के लिये संकेत होते हैं जिनके बल से रसिक अपने अस्तित्व के विषय में जानने के लिये उत्सुक हो उठता है और अपने सीमित व्यक्तित्व के ओर-छोर की ओर देखने लगता है। इसी से मिलती-जुलती एक दूसरी प्रवृत्ति भी है जिसे भावनाओं का सामान्यीकरण (Universalization of feeling) कह सकते हैं। इसमें हम रसिक के नाते सोचते हैं कि कला में अभिव्यक्त विषाद या दुःख 'मेरा' ही नहीं है, वह सब का 'सामान्य' विषाद है। स्यात्, दूरीकरण की प्रक्रिया में विषाद या और कोई भाव पहले चेतना के केन्द्र अर्थात् रसिक के आत्मा में उगता और समृद्ध होता है, क्योंकि इस भाव मे सर्वप्रथम 'आत्मीयता' का अनुभव

होना चाहिये। इस प्रथम क्रम को हम भावों का 'आत्मीयकरण' कह सकते हैं। किन्तु इसको और प्रबल और स्फीत होने के लिये 'इतिहास' के लोक में निकलना चाहिये, अर्थात् विषाद केवल 'आत्मीय' न रह कर ऐतिहासिक' हो जाये। दूसरे शब्दों में, वह 'सामान्य' विषाद हो जाय। इस क्रम को हम भावों का 'सामान्यीकरण' कहेंगे। किन्तु 'सामान्य' होने से सम्भव है वह भाव उथला व निर्बल हो जाय। इसी लिये उसको गम्भीर व 'आवश्यक' बनाने के लिये 'दर्शन' आता है। किसी काव्य, जैसे सीता-राम का विरह-काव्य, को पढ़ कर रसिक कहता है यह तो 'मेरी' ही आत्मा-वेदना है। परन्तु दूसरे ही क्षण उसे भान होता है कि यह तो नियति के विधानों में बँधी हुई जगती की 'सामान्य' वेदना है। तीसरे क्षण में, दार्शनिकता के उदय से, रसिक गम्भीर होकर कहता है कि यह वेदना तो जीवन का आधार-तल है; जगत् का परम सत्य है; हमारे अस्तित्व का आवश्यक सिद्धान्त है, इत्यादि। इतिहास व दर्शन का कला में जो स्थान कला-मीमांसक निश्चित करें, परन्तु रसिक के दृष्टिकोण से 'दूरता-पादन' की रासायनिक प्रक्रिया के ये अमोल साधन हैं।

(४)

शरीरीकरण—सौन्दर्य के क्षेत्र में, यह उस रासायनिक विधि का नाम है जिसके द्वारा कोई भाव या वस्तु 'शरीर' गोचर रूप या प्रत्यक्ष देह धारण करने में सफल होता है। भाव या वस्तु का 'गोचर' होना या शरीर धारण करना स्वयं एक आह्लादजनक अनुभव है। सम्भव है आदिम मनुष्य ने पूर्व इसके कि अपने भोंडे औजारों और रंगों से मूर्ति या चित्र बनाये, उसने गुहा की दीवारों पर बनी हुई नैसर्गिक रेखा व रंग में और पत्थर के किसी अनगढ़ खण्ड में, अपनी सहज कल्पना के बल से अपने किसी अनुभव को गोचर देखा हो, और इसके अनन्तर उसने उन रेखाओं को सँवारा हो तथा उस शिला-खण्ड में कुछ और परिवर्तन करके 'मूर्ति' का निर्माण किया हो। यह प्रश्न तो कला के 'मूल' से सम्बन्ध रखता है। हमारा प्रयोजन तो

यहाँ इतना ही है कि हम यह जानें कि कला-सृजन से सम्भवतः पूर्व ही रसास्वादन का प्रारम्भ हुआ; स्यात्, रसास्वादन ने ही सृजन को भी प्रेरणा दी हो। यदि हम इसे स्वीकार करें तो हम निर्णय कर सकेंगे कि जो भी भाव या वस्तु 'मूर्त्तता' या 'शरीरता, (Embodiment) के योग्य होते हैं वे सब आस्वादन के भी योग्य हो जाते हैं।

'मूर्त्तता' इस विकास में प्रथम सोपान है। इसमें 'रूप' का आविर्भाव दूसरा सोपान है। जो भाव केवल 'मूर्तित' ही नहीं होते, वरन् 'रूपित भी हो जाते हैं, वे सरस या रसनीय हो जाते हैं। 'रूपता' मूर्ति के विकास में दूसरा क्रम है। एक भद्दे शिला-खण्ड में या रेखाओं के टेढ़े-मेढ़े विन्यास में भी 'मूर्ति' का अनुभव हो सकता है, परन्तु जब अवयवों के विन्यास में व्यवस्था, सापेक्षता, सन्तुलन, लयात्मक आरोह-अवरोह, आदि गुणों का आविर्भाव होता है, तब वहाँ 'रूप' प्रकट होता है। 'रूप' का विशेष विवेचन यहाँ सम्भव नहीं। इतना पर्याप्त होगा कि किसी 'वस्तु' में जब एक ओर स्वच्छन्द 'गति' का प्रखर आविर्भाव और दूसरी ओर 'नियमों' का गोचर बल हमारे सम्मुख विलास करते दीखते हैं तो वहाँ 'रूप' का अनुभव होता है।

मूलतः भावनाओं को 'रूप' प्रदान करना कलाकार का काम है। रसिक की दृष्टि से तो प्रश्न यह है कि 'रूप' का 'रस' में परिवर्त्तन कैसे होता है? इसके कई उत्तर हो सकते हैं: क. 'रूप' रसिक को अपने मनोभाव मूर्त्त करने का अवसर देता है। मूर्त्त होना स्वभावतः आनन्ददायक क्रिया है। ख. जिस प्रकार इन्द्रियों का अपने अपने विषयों के प्रति राग व द्वेष व्यवस्थित है, उसी प्रकार रूप और विरूप के प्रति भी मन की रागात्मक या इसके विपरीत प्रतिक्रिया व्यवस्थित अथवा स्वभावसिद्ध है। इसी से तो विचार-क्रिया के स्फुरण से पूर्व ही रूप का प्रत्यक्ष राग को जगा देता है। ग. रूप ग्रहण करके रसिक के मनोभाव 'दूर' हो जाते हैं, और जैसा हमने देखा है, भावों का दूरतापादन उनके रसीकरण की एक विधा है। घ साधारणतया हमारे मनोभाव उद्वेग और उत्तेजना के रूप में रहते हैं।

उन्हें मन के तूफान कहा गया है। 'रूप' इन तूफानों को वश में करके अभिव्यक्ति का अवकाश देता है। इसीसे तो आदिकवि का 'शोक' जब 'श्लोक' में निबद्ध हो गया तो दूर हो गया; इतना ही नहीं, उन्हें शान्ति भी मिली। रसिक का 'शोक' भी कविता या मूर्त्ति में निबद्ध और निरूपित हो कर शान्ति का संचार करता है और शान्ति रस का मूल-तत्त्व है।

शरीरीकरण की प्रक्रिया में मूर्त्ति और रूप पहला और दूसरा पदक्रम है। परन्तु रूप बहुत काल तक रूप मात्र ही नहीं रह पाता—-अर्थात् अङ्गों का अङ्गी में विन्यास। वह शीघ्र ही अभिव्यक्ति (*Expression*) का द्वार बन जाता है। तब तो विकास-क्रम में अभिव्यक्ति तीसरा सोपान है। किसी ने तो केवल अभिव्यक्ति को कला का सर्वस्व माना है। जो कोई भाव सफलतापूर्वक 'अभिव्यक्त' किया जा सकता है या रसिक के लिये अभिव्यक्त होने का अवकाश प्रदान करता है, वह रसनीय हो जाता है। किन्तु कलात्मक विकास में शरीरीकरण 'अभिव्यक्ति' पर ही नहीं रुक जाता। यहाँ तक तो विज्ञान भी जा सकता है। 'रसन' की क्रिया को और भी 'विकट' बनाने के लिये अभिव्यक्त रूप 'अनभिव्यक्त' और इससे भी बढ़ कर 'अनभिव्यंग्य' भावों की ओर इंगित करने लगता है। इन्हीं दो तत्त्वों के कारण अभिव्यक्त रूप के माप द्वारा उसके सौन्दर्य का माप नहीं हो सकता। इन्हीं के कारण 'रस' स्वयं अमेय, अगाध, अप्रमेय और अक्षय हो उठता है। यह शरीरीकरण की क्रिया में चौथा और अन्तिम विकास का क्रम है। इसे हम अभिव्यक्ति के अनन्तर होने वाली 'व्यञ्जना' या 'ध्वनि' कह सकते हैं। ध्वनि रूप के विकास में उस अन्तिम चरण का नाम है जब रूप 'अरूप' को, मित 'अमित' को, श्रुत अश्रुत और दृश्य अदृश्य भावों की ओर संकेत करने लगता है।

(५)

विभाव्यता-सम्पादन—-रसोन्मेष को उत्पन्न करने वाले कारण को 'विभाव' (Aesthetic cause) कहते हैं। साधारण कारण और विभाव

में क्या अन्तर है ? यह अन्तर वही है जो साधारण तुरंग और चित्रित, मूर्तित या वर्णित 'तुरंग' में है, जो मामूली रुदन-क्रन्दन में और कालिदास के 'अज-विलाप', रति-विलाप' या यक्ष के करुण उद्गारों में, या अन्य किसी करुण मूर्ति अथवा चित्र में होता है, जो अन्तर किसी महान् जन-क्षय करने वाले महायुद्ध को प्रत्यक्ष देखने में और महाभारत में व्यास द्वारा वर्णित भयकर जन-कदत्त के काव्य में होता है। संक्षेप में, कारण और विभाव में अन्तर असुन्दर और सुन्दर, साधारण और असाधारण, अरस और सरस, कला के अभाव और कलात्मकता का अन्तर है। कला-की दृष्टि में 'कारण' को विभाव' में रूपान्तरित करना ही 'सृजन' है। चित्रित तुरंग और प्रत्यक्ष तुरग के अन्तर को समझना कला का महत्त्वपूर्ण व्यवसाय है। परन्तु एक का दूसरे में 'रूपान्तरण' कैसे होता है—यह प्रस्तुत समस्या से सम्बद्ध नहीं है। हमारी प्रस्तुत समस्या है कि रसिक जब तक किसी भाव और वस्तु को विभाव के रूप में ग्रहण नहीं करता तब तक वे उसके लिये रसोत्पादक या रसनीय नहीं हो सकते। रसिक भावों को 'विभाव्य' बनाकर उनका आस्वादन कर सकता है। अतएव विभाव्यता-सम्पादन उन रासायनिक विधियों में से एक है जिनके द्वारा असुन्दर, अरूप आदि भी रसनीय हो जाते हैं।

सच पूछा जाय तो विभाव्यता का प्रश्न कलाकार के लिये है, क्योंकि वह अपने कौशल से 'विभावों' की ही सृष्टि करता है। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो 'सृजन' और 'आस्वादन' में घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। कलाकार 'वस्तु' को सृजन द्वारा जो प्रदान करता है (अर्थात् रूपता आदि गुण), रसिक आस्वादन द्वारा उसे वस्तु' से 'आदान' करता है। प्रदान और आदान की क्रियाओं में स्थान-भेद के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं है। हम सृजन और आस्वादन को या प्रदान व आदान को एक ही उभयतो वाहिनी 'चित्त-नदी' में अनुलोम-विलोम धाराएँ मान सकते हैं, जैसे 'आना' और 'जाना' क्रियाएँ एक ही पदार्थ के नाम होते हुए भी स्थान-भेद के कारण या 'अनु' व 'प्रति' कूल गति के कारण पृथक समझे जाते हैं। तब तो रसिक उसी प्रक्रिया की 'विलोम' गति से वस्तु की विभाव्यता

को ग्रहण करता है जिसकी अनुलोम गति से कलाकार उसका सृजन करता है।

रसिक किस प्रकार 'कारण' में 'विभाव्यता' को ग्रहण करता है? विष्णु की एक शेषशायी मूर्त्ति का अवलोकन कीजिये। यदि प्रेक्षक यहाँ कई फनों वाले साँप के ऊपर सुलाये गये पत्थर में गठित एक अजीब व्यक्ति को देखता है तो उसमें रस का उदय न होगा। वह मूर्त्ति केवल इन्द्रियों का उत्तेजक कारण (Stimulus) होगी, स्यात् उस पत्थर से कुछ ही भिन्न जिससे वह मूर्त्ति गढी गई है। परन्तु मूर्त्तिकार का प्रयोजन इतना नहीं है; वह तो इसके माध्यम से विष्णु की उस विराट् व्यापकता का गोचर संकेत बनाना चाहता है जिसके केवल एक ही भाग में सारी सत्ता समा गई है, जिसके तीन भाग अभी शेष हैं, जो सब जगह व्याप्त होकर भी, सारी भूमि को चारों ओर से घेर कर भी 'दस अंगुल' और शेष रह गया। वह विष्णु के उस प्रभाव को 'संकेतित' करना चाहता है जिसके वशीभूत होकर शेष की सहस्र-फणों में जगती हुई विष-ज्वाला शान्त हो गई, और उस वैभव की झाँकी उपस्थित करना चाहता है जिससे विश्व को दास बनाने वाली लक्ष्मी स्वयं दासी बन कर चरण चापती है। निश्चय है कि मूर्त्तिकार का प्रयोजन शेषशायी विष्णु की मूर्त्ति के गठन से इन अलौकिक व अमूर्त्त भावों का अनुभव प्रेक्षक में जगाने के लिये है। दूसरे शब्दों मे, साधारण 'कारण' को 'विभाव', कलात्मक कारण बनाना—कलाकार के कौशल का अन्तिम ध्येय है।

इस ध्येय की सिद्धि में, रसिक की ओर से, पहला पद क्या होगा? वह यह कि रसिक रसेच्छा से प्रेरित होकर (और दूसरी ओर सौन्दर्य के प्रभाव से) अपना अवधान 'यथार्थ', 'प्रस्तुत', 'सीमित' से हटाये। यदि रसिक किसी कारण वश अपनी दृष्टि 'प्रत्यक्ष' से नहीं हटा सकता तो वह उसके विभाव्यता-सम्पादन में सफल न हो सकेगा, जो रसास्वादन के लिये पहला द्वार है। मूर्त्त 'यथार्थ' से हटने की इस क्रिया का नाम हम 'पूर्व का व्यपोह' देंगे।

यहाँ यह स्मरण रहे कि 'व्यपोह' की सीमाएँ हैं, यद्यपि ये सीमाएँ इतनी विस्तृत हैं जितना आत्म-सत्ता का विस्तार।

परन्तु 'पूर्व के व्यपोह' के अनन्तर मन के 'शून्य' अवकाश में 'अपूर्व' की ऊहा, अप्रस्तुत, असीम, अप्रत्यक्ष का आविर्भाव आवश्यक है। 'यथार्थ' से सम्बन्ध-विच्छेद करके मन 'प्रतीति' के लोक में जाता है, जहाँ हमारी साधारण मर्यादा, मान्यता और मूल्याङ्कन की विधाएँ, देशकालपरिस्थिति के विधान नहीं रहते। वहाँ काल, स्थान और कारण-कार्य सम्बन्धों का अपूर्व रूप प्रगट होता है जिनका वर्णन पहले किया जा चुका है। पूर्व से अपूर्व की ओर मन की गति (Transport) स्वयं आह्लाद को उत्पन्न करती है। संज्ञा करने के अभिप्राय से हम इस गति को मन का 'ऊर्ध्वयान' कह सकते हैं।

अपूर्व की ऊहा में मन उर्ध्वयान करके कहीं अचल नहीं हो जाता। उसमें अनेक व्यापार प्रारम्भ होते हैं, और चिति का चंचल आलोक 'प्रिय' को पाकर और भी चमचम करने लगता है। रसिक में चेतनालोक के इस प्रस्फुरण, विस्तार और प्रिय वस्तु पाकर शान्ति के अनुभव से स्थैर्य के उदय को हम अनुध्यान (Contemplation) कहेंगे, और मन के सभी तलों में अद्भुत व्यापार की जाग्रति को 'चर्वणा'।

विभाव्यता के क्रम-विकास में चर्वणा और अनुध्यान अन्तिम भूमि है। परन्तु इनमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है: मनोव्यापार का नाम चर्वणा, और मनः-स्थैर्य का नाम अनुध्यान। 'व्यापार' और "स्थैर्य" कैसे एक साथ हो सकते हैं? वस्तुतः जब मन 'पूर्व' को छोड़कर 'अपूर्व' की ओर चला तो तीन बातें पैदा हुई। १. पूर्व से अपूर्व की ओर मन छलांग नहीं भरता, न जादू के रस्ने पर ही आकाश में चढ़ता है। प्रेक्षक मूर्ति को, नृत्य या अभिनय को देखता अवश्य है। परन्तु उसमें ऐसी व्यञ्जनाएँ निहित हैं कि रसिक अपनी प्रतीति, रस-प्रवणता आदि के बल से वह 'अपूर्व', अप्रस्तुत की ओर, मानो अवश, ऊर्ध्वयान करता है। अतः पूर्व और अपूर्व का सम्बन्ध नहीं टूटता; वरन् उनमें व्यञ्जनाओं का सेतु बन जाता

है। यह सौन्दर्य में निहित 'आकर्षण' का रहस्य है। २. मन अपूर्व या शून्य में स्तब्ध नहीं रह सकता। उसमें 'व्यापार' अवश्य होता है। उसमें भावोन्मेष, विमर्श, विचार, कल्पना आदि सभी सक्रिय होते हैं, यद्यपि यह क्रिया विभावों के अलौकिक लोक में होती है। इसीलिये यद्यपि वहाँ जड़ता नहीं, क्रिया और मनोव्यापार रहते हैं, तथापि उसमें उत्ताप, उत्तेजना, अभिनिवेश नहीं है। 'यह मैंने आज पाया, कल उसे भी जीत लूँगा' इस प्रकार की रजोगुण और अहंकार से जनित क्रिया वहाँ नहीं होती। अतएव रसास्वादन में चर्वणा रूप मनोव्यापार और अनुध्यान के शान्ति व स्थैर्य दोनों एक साथ रह सकते हैं। ३. रस की शान्ति योगी के चित्त-वृत्ति-निरोध से जन्य शान्ति नहीं है; वरन् ज्ञान व व्यवहार के शमन से शुद्ध सत्त्व-भाव के प्रकाश में, सौन्दर्य के उन्मेष से प्रिय-प्राप्ति की शान्ति है। इस प्रकार, 'पूर्व के व्यपोह' से लेकर चर्वणा व अनुध्यान तक, अपनी सहज क्रियाओं के द्वारा रसिक रूप, अरूप आदि सभी को 'रस' के माधुर्य में परिणत कर देता है।

(६)

उपर्युक्त रसायन-विधियों को स्मरण रखते हुए अब हम उन भावों का विचार करें जिनका इन विधियों के आधार पर रसिक रस के रूप में भोग करता आया है। पहले हम भरत द्वारा प्रतिपादित स्थायी भावों को लें जिन पर उसने रस-मीमांसा का ऊँचा प्रासाद खड़ा किया है। ये स्थायी भाव काम, क्रोध, जुगुप्सा, क्रूरता आदि हैं। इनके सम्बन्ध में अन्य अनेक तथ्य हैं; परन्तु हमें यहाँ इतना पूछना है कि किस प्रकार 'रसायन' से ये स्थायी भाव शृङ्गार, वीर, भयानक, बीभत्स, करुण आदि 'रसों' में परिवर्तित हो जाते हैं? इस प्रश्न के साथ ही भरत की रस-मीमांसा की सीमाएँ दीखने लगती हैं। क्या कामवासना शृङ्गार-रस में केवल कारणों से विभाव्यता उत्पन्न करने से ही बदल जाती है? भरत ने स्वयं न 'विभाव' की व्याख्या या उसका विश्लेषण किया, और, न उसने इसके

अतिरिक्त कोई और रस-निष्पत्ति की क्रिया का ही विवेचन किया। वस्तुतः भरत के तथाकथित स्थायी भाव उसी अवस्था में रसनीय होते हैं जब आत्म-लब्धि, दूरत्तापादन, शरीरीकरण तथा विभाव्यता-सम्पादन की इन क्रियाओं में से सब या कोई एक, दो मिलकर उन्हें रसता प्रदान करते हैं। केवल काम-चेष्टाओं, काम-क्रीडाओं या नायिका के अंग-भंगिमाओं के वर्णन से काम-वासना को शृङ्गार का रूप प्राप्त नहीं होता। शब्द-छल, रचना-कौशल या वाग्-वैदग्ध्य का झीना आवरण रीति-कालीन काव्य में काम को शृङ्गार की वह शालीनता, उदारता व माधुर्य नहीं दे सका जो वैदिक व संस्कृत साहित्य में दीख पड़ते हैं। देखना हमें यह है कि किस प्रकार रसिक इन रसायन-विधियों द्वारा 'काम' को शृंगार के शालीन अनुभव में बदल कर रस-भोग करता है ?

हम 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' को शृङ्गार की सर्वोत्तम कृति मान कर चलें। इसमें आत्म-लब्धि का क्या स्वरूप है ? काम जीवन की मूल-प्रेरणा है उतनी ही गम्भीर और प्रबल जितना स्वयं जीवन है। शकुन्तला के नारीत्व में रूप का उदार उन्मेष और दुष्यन्त के नरत्व में पौरुष का प्राकट्य, हमें जीवन की उसी गम्भीर प्रेरणा की उपलब्धि कराते हैं। कवि ने अनेक संकेतों द्वारा इस प्रेरणा के गम्भीर और वेदना से पूर्ण मूल तक ले जाने की चेष्टा की है। दुष्यन्त कहता है—'अरे, यह तो वल्कल पहने हुए भी अधिक मनोज्ञ लग रही है; मधुर आकृति के लिये मण्डनों की व्यर्थता आज सिद्ध हुई। आज उद्यानों में सींची गईं एला-लताएँ वन की इन जंगली बेलों से पराजित हुईं। परन्तु चन्द्रवंशी क्षत्रिय का संयत मन आज डिगा तो क्यों ? हाय रे, हम से तो यह भ्रमर ही धन्य है जो इसके कानों के पास जाकर गुनगुनाता है। परन्तु क्या करे, समुद्र अपनी वेलाओं को लाँघ नहीं सकता।' आप पहले अङ्क में देखेंगे कि कवि ने काम का उद्दीपन किया, परन्तु वह उसे पाशवी वासना के स्तर से ऊँचा उठा कर मानवता के धरातल पर ले आया, और उस धरातल पर भी काम के उस प्रबल, विराट् रूप का उद्घाटन किया जो मानव-जीवन के मूल में वेलाओं से

त्ररुद्ध समुद्र की भाँति लहरें भर रहा है। उसने 'काम' के उद्गार को और भी विकट बनाया, जैसे एक बड़े रबर के थैले में पानी या गैस भर कर एक छोटे द्वार से उसे निकालते है। "मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं, प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम्। मुखमंस विवर्त्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमित न चुम्बितं तु।" जीवन की उत्कट अभिलाषा का हृदय-विदारक अन्त! पाठक देखेंगे कि कवि ने नाटक में उत्तरोत्तर काम को अपने मौलिक, मानव और उदार रूप मे ही प्रस्तुत किया है और उसमें 'वासना' का स्पर्श तक नहीं होने दिया। दुष्यन्त में मानवोचित काम है, परन्तु वह कामी नहीं है। शकुन्तला विरह के ताप से परिचित है, रूप का आकर्षण जानती है, और चतुर किन्तु स्वाभाविक रीति से पैर से कांटा निकालने के व्याज से एक बार मुड़ कर विरह की कातर व मुग्ध दृष्टि दुष्यन्त पर डालती है। परन्तु मजाल कि शालीनता तिल भर डिग जाये। सारे नाटक मे आदि से इति तक, कवि ने काम के उस रूप को आविष्कृत किया है जो हमारी मूल-मानवता के निकटतम है। यही आत्म-लब्धि का शृङ्गार मे रूप होता है।

कवि का कौशल 'दूरतापादन' में सफल हुआ है, क्योंकि एक ओर काम का आलम्बन विभाव चन्द्रवंश का धुरंधर, धीर राजा दुष्यन्त है जिसकी धर्मनिष्ठा की अग्नि-परीक्षा होती है, जो प्रजा-पालन में रत होकर घोषणा करता है—'येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना। तत्तत् पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्। दूसरी ओर, शकुन्तला धैर्य और शालीनता की मूर्ति, साक्षात् दिव्य कन्या है। कालिदास ने इतिहास में और समाज के उदात्त धरातल पर दुष्यन्त व शकुन्तला की सृष्टि की है तथा उनकी समस्या को जीवन व जगत् की सामान्य और आवश्यक समस्या बना दिया है। कहना होगा कि इस नाटक में काम की वेदना जितनी गम्भीर और मौलिक हो गई है उतनी ही उदार और अनुकरणीय। आत्म-लब्धि और दूरतापादन का इसमें अपूर्व सामञ्जस्य हुआ है।

इसी प्रकार 'शरीरीकरण' है : सारा नाटक शब्द और अर्थ द्वारा गठित

छन्दोमयी किन्तु स्वच्छन्द मूर्त्तियों से पुलकित हो रहा है। क्षण-क्षण में नवीन और उदात्त भावों की तरंगें सरस्वती के सुधा-निष्यन्द में उठती-सी प्रतीत होती हैं। प्रेम की व्याकुलता, विरह की टीस, मिलन की उत्कण्ठा, विकट वैराग्य के साथ प्रजानुराग, पिता का वात्सल्य, सखियों का बिछोह, धर्म का अनुशासन, ये तो उस सरस्वती के विपुल, विमल प्रवाह की अनन्त लहरों में से कुछ हैं जिनको शब्दों में पकड़ा जा सका है। परन्तु इनके अतिरिक्त पद-पद में संगीत के स्निग्ध स्वरों के समान, नृत्य की लय-गति सी, सहस्रों चलचित्रों की भाँति अनुरंजित, असंख्य मूर्त्तियाँ, वनोपवन, भवन, तपोभूमियाँ इस नाटक में 'रूपित' हो रही हैं कि काम अपने ग्राम्य-धर्म या मैथुन के तल पर टिक ही नहीं सकता। इस सबके ऊपर आदर्शवाद और आत्म-संयम, प्रकृति-सामञ्जस्य और समाज-निष्ठा, मर्यादा और धर्म आदि की ओर प्रबल संकेत हैं जो काम को तिरोहित तो नहीं करते, किन्तु उसके रूप को विशद और प्रखर बनाने में सफल होते हैं। हम 'काम' को मर्यादाओं में बाँध देने के पक्ष में नहीं, परन्तु काम को और भी विकट बनाना चाहते हैं जैसा कालिदास ने किया है—शरीरीकरण और विभाव्यता की विधि से—काम में चर्वणा और व्यञ्जनाओं को जाग्रत करके।

निबन्ध की सीमाओं का विचार कर हम क्रोध से वीर रस, और इसी प्रकार अन्य स्थायी भावों से रसों की निष्पत्ति के रसायन की गवेषणा नहीं कर सकते। इसे हम पाठक के लिये विचारार्थ छोड़ते हैं।

(७)

विषाद और वैराग्य किस प्रकार रसनीय होते हैं? जब तक ये भाव मन में शून्यता, चित्त में खेद, शरीर और अहंकार में शिथिलता उत्पन्न करते हैं तब तक उनमें 'रसता' सम्भव नहीं। वे निर्बलता के चिह्न मात्र हैं। परन्तु गम्भीर विषाद और सच्चा निर्वेद 'निर्बल' में या विवशता के साथ समझौता करनेवाले जन में नहीं ठहर सकता। यदि ठहरे भी तो वह 'रस' नहीं हो सकता, उत्ताप ही रहेगा। इसीलिये कलाकारों ने

विषाद के लिये युधिष्ठिर, राम आदि को अपना चरित नायक बनाया जो धर्म और धैर्य की परीक्षाओं में सफल उतरे तथा वैराग्य के लिये सिद्धार्थ गौतम को अपनाया। जीवन में सभी को विषण्ण या प्रसन्न होने का अवसर मिलता है ; जीवन है ही ऐसा ! परन्तु यदि मनुष्य थोड़े भी धैर्य के साथ विचार करे तो उसकी प्रसन्नता और विषाद क्षणिक और उथले प्रतीत होंगे, और प्रतीत होंगे कि वे उसके व्यक्तिगत, सीमित व संकुचित अनुभव मात्र हैं। एक विषाद वह है जो जीवन व सत्ता के मूल में बिंधा हुआ है, जन्म के साथ जो पैदा होता है और मृत्यु जिसे दूर नहीं कर पाती। वह विषाद है जिसे त्रिलोकी का आधिपत्य, स्वर्ग का वैभव, देवों का अमरत्व, पृथ्वी के विलास अपनय नहीं कर सकते। ऐसा ही विषाद राम, अर्जुन, युधिष्ठिर आदि नायकों में कवियों ने प्रस्तुत किया है। वह इतना गम्भीर है जितना जीवन। उसके उद्‌घाटन से जीवन के ओर-छोर, उसकी मूल वेदनाएँ जाग्रत हो जाती हैं। सोचिए राम के 'पुटपाक प्रतीकाश' हृदय को जो सीता के अनुराग से लबालब भरा है, परन्तु मर्यादा और धर्म के दो कठोर 'पुटों' के बीच में जकड़ा है, और इस पर विरह की कभी न मिटनेवाली ज्वाला से जल रहा है। यह विषाद इतना गहरा है कि हमारे अस्तित्व की जड़ों तक हमें पहुँचाता है, और यह इसीलिये रसनीय हो जाता है कि इनके माध्यम से हमारी सत्ता की मूल-वेदनाएँ मूर्त्त, रूपित व अभिव्यक्त हो जाती हैं।

सुख में यह नहीं होता। अतः सुख से रसायन द्वारा जो 'रस' तैयार होता है वह गम्भीर नहीं होता। अतएव कलाकारों ने अनादि काल से काव्यों और कलाकृतियों में दुःख को अधिक स्थान दिया है। परन्तु स्मरण रहे, यह कलात्मक दुःख ह्रास और शैथिल्य का जनक न हो और न निर्बलता का सूचक। इसका अर्थ है कि दुःख से अधिक बलोदय, ऊर्जस्विता का विकास, शक्ति का उन्नयन होता है। दुःख आत्म-लब्धि का द्वार है। कलाकार इसे जितना गम्भीर बनाता है, उतना ही वह व्यापक और विपुल होता है। यह इसके दूरतापादन की विधा है। दुःख को धर्म-भावना

दार्शनिक विचारों का प्रबल उत्थापक माना है। शरीरीकरण की चरम भूमि दुःख को प्राप्त होती है। चित्त की द्रवता, कल्पना की ऊर्वरता, जीवन का विस्तार आदि ऐसी क्रियाएँ है जो सुख की अपेक्षा दुःख में अधिक फलीभूत होती हैं।

वैराग्य सच्चा होना चाहिये, अर्थात् मानसिक दुर्बलता से जनित नहीं, वरन् किसी सत्यतम, गम्भीर व महत्वपूर्ण प्रयोजन को दृष्टि में रखकर त्याग की लगन से उत्पन्न। सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के दृश्य को अजन्ता के चित्रों में देखिये या सौन्दरानन्द काव्य में। एक ओर जीवन में बुद्धत्व का गौरव पदों को वन की ओर खींच रहा है, और दूसरी ओर भार्या का अनुराग जो जीवन में पैठा हुआ है, पद-गति में अर्गला लगाये हुए है। निश्चय नहीं हो रहा है कि क्या करे—और निश्चय भी साधारण नहीं; दोनों ओर लहरों के थपेड़े! जैसे तरङ्गों में तैरता हुआ राजहंस! "तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष, भार्यानुरागः पुनराचकर्ष। सोऽनिश्चयात् तत्र ययौ न तस्थौ-तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः॥"

यह इतिहास का तथ्य है कि जब तक बुद्ध धर्म में निर्वेद का रूप शून्यात्मक रहा, वैराग्य का अर्थ केवल जीवन से पलायन समझा गया तब तक न इसका अधिक विस्तार हुआ और न कला में इसका निरूपण। अशोक ने इस निर्वेद को 'सच्चा' बनाया, क्योंकि अशोक का निर्वेद सम्राट् की विजय से उत्पन्न हुआ था न कि किसी हीन की पराजय से। अशोक के धर्म-परिवर्त्तन और प्रचार का इतिहास जो भी मूल्य समझे, कला की दृष्टि से यह घटना वैराग्य को मूर्त्तिमान् होने के लिये, जलौघ के लिये अनन्त द्वार खुलते के समान है। इसी प्रकार के वैराग्य को साकार बनाने के लिये एशिया के कोने-कोने में, तिब्बत की उपत्यका में भी, कई शताब्दियों तक चित्र, मूर्त्ति, भवन, काव्य आदि के निर्माणार्थ प्रयत्न चलते रहे। इन अनगिन कृतियों में वैराग्य का वैभव आज भी जगमगाता है, 'वैभव' इसलिये कि इसमें से अद्भुत शान्ति, आत्म-विजय, उल्लास आदि भावों के अनेक स्रोत भी फूट उठे।

(८)

रसास्वादन मे अरूप, असाधारण, अज्ञात और भयानक का क्या स्थान और स्वरूप रहता है ? ये किस विधा से रसनीय होते हैं ? इन सबको हमने एक साथ इसलिये लिया है कि इनमे रस में एक विचित्र, प्रबल और आश्चर्यजनक आकर्षण, आलोडन या तीव्रता उत्पन्न हो जाती है जो साधारणतः उसमें नहीं रहती। इस उदीर्ण उल्बणता को हम चटनी मे मिर्च का स्वाद कहें, या ईख के रस से बने आसव का तीखापन या किसी अवलेह का कसैलापन। परन्तु यह निश्चित है कि इनके रसायन से 'रस' मे अद्भुत स्वाद आ जाता है, और कलाकारों ने इनका उपयोग रसानुभूति को प्रखर बनाने के लिये खूब किया है। रस में इस स्वाद का नाम हम 'उदात्त' दे सकते हैं।

'अरूप' को लीजिये। 'रूप' विन्यास के नियमों से बँधा होता है; बुद्धि को उसे ग्रहण करने में सुविधा होती है। हम देख चुके हैं कि 'रूप' किस प्रकार 'रस' में बदल जाता है। संगीत का एक राग सुनिये। उसमें स्वर विन्यास 'रूप' में बँधा हुआ है, परन्तु किसी दुखिया का करुण क्रन्दन—इसमें स्वरों का विन्यास नही। क्यारियों में विभक्त पुष्प-वाटिका में भ्रमण कीजिये और वसन्त में बगराये हुए गहन कान्तार का घोर दर्शन भी। शुभ्र शिला की बेलाओं से सीमित सरोवर एक ओर, और दूसरी ओर अछोर, उन्मत्त तरङ्गों में लहराता विशाल जलाशय या समुद्र का विपुल विस्तार। हम देखेंगे कि जहाँ 'रूप' का अभाव है वहाँ स्वच्छन्दता साकार होती है, 'मस्ती' का भाव जगता है, व्यक्तित्व की सीमाएँ विलीन होती हैं। यही कारण है कि निसर्ग में समुद्र, वन, नद-नदी, गिरिशिखर आदि अरूप पदार्थ भी अपनी छटा मे रस का अनुभव जगाते हैं।

आकाश अरूप छटा का प्रतिनिधि है। अरूप छटा विशाल, यहाँ तक कि असीम होनी चाहिये। 'विशाल' और 'निस्सीम' का अपना रासायनिक प्रभाव होता है। इससे आत्म-सत्ता की तीव्र अनुभूति जगती है

इसके अतिरिक्त अरूप रसनीय होने के लिये अद्भुत रंगों, चंचल आकृतियों और गतियों से पूर्ण होता है। आकाश का नीला रंग, उसमें परिवर्तनशील नाना वर्णों से अनुरंजित बादलों की आकृतियाँ, तारिकाओं की जगमग ज्योति इत्यादि ऐसे रस के पोषक तत्त्व हैं जो इस 'अरूप' को भी आह्लाद का अनुपम स्रोत बना देते हैं।

अरूप का सबसे अधिक गम्भीर संस्कार बुद्धि पर पड़ता है। बुद्धि अरूप को निरूपित, आबद्ध व संकुचित नहीं कर पाती, तब अपना प्रयत्न स्वयं छोड़ देती है। उस समय रस में 'रहस्य' का उदय होता है। रहस्य के दो परिणाम होते है। एक तो रस को गम्भीर बनाना तथा आत्मानुभूति को समृद्ध करना; दूसरे 'जिज्ञासा' के प्रयत्नों को जगाना : रस की यह रहस्यात्मकता 'असाधारण' और 'अज्ञात' के अनुभव में और भी तीव्र होती है। इसके अतिरिक्त इनमें एक अन्य तत्त्व रस में आकर मिलता है जिसे हम उचित शब्द के अभाव में 'घोर' (awe) कह सकते हैं। यह घोर भावना (Feeling of awe) उदात्त अनुभूति का सार है।

'असाधारण' और 'अज्ञात' से भी बढ़कर यह भावना 'भयानक' (Terrible) के अनुभव मे विद्यमान रहती है। भय में क्या स्वाद हो सकता है? 'भय' जब तक त्रास या डर के तल पर होता है तब तक उसमें रसनीयता सम्भव नहीं, क्योंकि उस समय तो जीवन की सुरक्षा के लिये प्रयत्न करना ही उचित होगा। यह अद्भुत सत्य है कि मनुष्य निर्भय होकर भय का आस्वादन करना चाहता है। भय में स्वाभाविक आकर्षण है क्योंकि यह आत्मा में अनेक और प्रखर प्रयत्नों का संचार करता है। कला अपने कौशल से विभावों की सृष्टि में 'भय' को इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि इसका अनुभव निर्भय होकर किया जा सके, अर्थात् भय की भीषणता बनी रहे, परन्तु त्रास न रहे। तथाकथित दुःखान्त नाटकों में, प्रपात, उत्ताल तरङ्ग आदि के चित्रों में, सिंह, हाथी, वाराह आदि की मूर्त्तियों में, गगनचुम्बी मीनारों के निर्माण में, कलाकार का उद्देश्य 'भयानक' के माध्यम मे इसी घोर भावना को समृद्ध करना होता है।

भय का निर्भय आस्वादन कैसे सम्भव होता है ? हिमालय की गहरी घाटी में 'हर हर' करती हुई अलखनन्दा को रस्सियों के झूलते पुल से पार कीजिये। दो मामूली रस्सियों को हाथों से पकड़े हुए, बाँसों और डोरियों के बने झीने, सँकरे जाल पर धीरे धीरे पैर बढ़ाते हुए, आप अलखनन्दा के प्रखर प्रवाह के ऊपर मध्य में पहुँच गये। आँखें नीचे लगी हैं, कहीं पैर न फ़िसल जाये; जाल थोड़ा हिल रहा है और रस्सियाँ बोझ से चरमर करती हैं। नीचे अतल जलधारा की अविराम दौड़, लहरों का अट्टहास, तरङ्गों की मस्ती, गिरती हुई जल-राशि का निरन्तर, निनादमय उच्छ्वास, देखते ही मानों आँखों के द्वार से यह सारी गति और स्फूर्ति प्रेक्षक के शरीर में भर जाती है। वह त्रास से कम्पन करता है। उस समय उसे रस की अनुभूति कहाँ ? परन्तु क्षण में वह देखता है कि वह पुल पर सुरक्षित खड़ा है और सुरक्षित ही रहेगा। उसी क्षण वह 'भय' का आस्वादन करने लगता है। 'भयानक' का अनुभव रस में परिणत हो जाता है।

एक महाकाय प्रस्तर खंड को देखिये जो अपने एक किनारे से पृथ्वी पर टँगा खड़ा है, और वह किसी ही क्षण गिर सकता है। देखते ही प्रेक्षक में उस खंड का तनाव, महावीर्य, मानों उसने अपने बलोद्गार से अपनी गति को अवरुद्ध कर लिया है, ये सब प्रभाव उसके मन और शरीर में व्याप्त हो जायँगे। इसी प्रकार की 'भय' की अनुभूति उच्छ्राय आदि के माध्यम से, शृङ्ग, मीनार, हिमानी, उत्ताल तरंग, वृक्ष आदि के चित्रण में उत्पन्न की जाती हैं। मानना होगा कि रस की अनुभूति में 'भयानक' का प्रबल प्रभाव उसकी तीक्ष्णता को बढ़ा देता है। कलाकार अपने कलात्मक उपायों से और रसिक अपनी रासायनिक क्रियाओं से 'भय' को स्वाद्य योग्य बनाते हैं।

(९)

'विरूप' का अनुभव हास्य का आधार है। हास्य सुख है या दुःख—विज्ञान इसका निर्णय नहीं कर पाया। कई प्रचलित मतवाद हैं। हम

इसके विषय में निम्न को सर्व-सम्मत स्वीकार करते हैं। क. हास्य में 'विरूप' का अनुभव रहता है। ख. इस विरूपता का कोई न कोई 'विषय' होता है, कोई मनुष्य, वस्तु, या परिस्थिति; यह परिस्थिति मन, शरीर, समाज, विचार आदि कहीं भी हो सकती है। ग. 'विरूप' को पहचानने के लिये सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है। घ. विरूप को पहचानने से कई प्रकार की भावनाएँ उठती हैं : जैसे, हम 'विरूप' नहीं हैं, या हम जैसे और भी विरूप हैं—इसमें आत्म-सन्तोष। विरूप के साथ समवेदना का भाव। विरूप के पहचानने से बुद्धि को अपनी शक्ति पर गर्वोन्मेष। विरूप के ऊपर हँस कर मानो निर्बल पर प्रहार करने का आनन्द। 'रूप' के अनुभव में नियत (Norm) मान का बन्धन प्रतीत होता है। विरूप मानो उस 'नियत' से छूटकर (Departure) मुक्ति का आनन्द देता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हास्य एक व्यापक, गम्भीर, अनेक भावों का मिश्रित व्यापार, व बुद्धि का उत्तम कार्य है। प्रश्न यह है कि हास्य रस-नीय कब होता है? साधारण व्यवहार में हास्य उपरिलिखित कारणों से बहुधा आस्वादन के योग्य होता है। यदि हास्य का 'शिकार' कोई गम्भीर व्यक्ति हो, या कोई आपन्न या व्यर्थ सम्मान की भावना से दूषित पुरुष, अथवा हास्य का लक्ष्य कोई सिद्धान्त, धार्मिक या नैतिक भावना, राष्ट्रीय या सामाजिक सम्मान आदि हो जाये तो हँसी से बढ कर शत्रुता का कोई अन्य कारण नहीं हो सकता। हास्य के विषय मे अद्भुत बात यह है कि कुछ सीमा के अनन्तर वह एकदम क्रोध में बदल जाता है। क्रोध व हास्य में सम्बन्ध अवश्य है क्योंकि कभी-कभी क्रोध-शान्ति के लिये हास्य का प्रयोग सफल हो जाता है। हास्य में चोट, चुटकी अवश्य रहती है। हास्य को कला के धरातल पर उठने के लिये निम्नलिखित रसायन का उपयोग किया जा सकता है : क. हास्य का आघात व्यक्तिगत जीवन पर न हो। ख. हास्य की चोट व चुटकी जीवन के गम्भीर और मूल स्तरों पर लागू हो। जितना गम्भीर हास्य होगा उसका प्रभाव उतना ही रसनीय होगा। ग. हास्य के प्रयोग में कलाकार को सर्वाधिक कौशल की आवश्य-

कता होती है, क्योंकि एक ओर हास्य इतना स्पष्ट भी न होना चाहिये कि वह फूहड़ हो जाये, और दूसरी ओर इतना पिहित भी न हो कि बुद्धि हास्य में रस को टटोलती ही रहे। कौशल हास्य का प्राण है। घ हास्य परिस्थिति में अन्तर्हित विरूपता व विजातीयता का अकस्मात् उद्‌घाटन करे, इतना अकस्मात् कि बुद्धि भी चकमका जाये। ङ. विरूप के उद्‌घाटन द्वारा हास्य सरूप को प्रस्तुत भी करता है। "क्या चाहिये, क्या न चाहिये", ये दोनों ही पार्श्व हास्य के होते हैं। च. हास्य अपनी पुट में किसी कटु तथ्य को आस्वाद योग्य बना देता है। यही उसका एक प्रयोजन होता है। हास्य में अपनी कटुता व चोट रहती है। परन्तु वह जिस कटु सत्य का उद्‌घाटन करता है उसमें परिवर्तन अवश्य कर देता है। छ. हास्य का विस्तार बहुत है : वह 'गंगा के विवाह में हाँसी के दंगे' से लेकर दार्शनिक के ईषत् स्मित तक व्याप्त है। ज. इसी व्यापकता के कारण हास्य न केवल रसों में एक रस है जिसका महत्व बहुत है, अपितु वह सत्य को प्रस्तुत करने की अनोखी विधा भी है।

मानना होगा कि कला की रसायन से और रसिक की सहज हास्य-प्रवृत्ति से 'विरूप' भी रस का परम स्रोत हो जाता है।

(१०)

अब हम उन तत्वों पर विचार करेंगे जो अपना स्वतंत्र स्वरूप रखते हैं किन्तु जो कला के रसायन में पक कर स्वयं 'रस' बन जाते हैं। ऐसे तत्त्व हैं : धर्म-भावना, मंगल-भावना, नैतिकता, सत्य, ज्ञान और व्यवहार। हमें यहाँ धर्म आदि के स्थूल व सूक्ष्म रूप पर विचार नहीं करना है और न कला के साथ इनके सम्बन्ध की विवेचना। हमें देखना यह है कि इनमें एक ऐसा पार्श्व रहता है जो 'सुन्दर' होता है, इनमें एक तत्त्व रहता है जो 'रस' ही नहीं होता, वरन् जो 'रस' को पुष्ट और समृद्ध करता है, और अन्त में, यह देखना है कि इनका स्वरूप-विधान रस के सिद्धान्तों पर आश्रित है।

धर्म को लीजिये। इसमें अवश्य ही कोई तत्व निहित है जो संसार भर में मन्दिर, मस्जिद, गिर्जे, स्तूप तथा इनमें प्रतिष्ठित मूर्तियाँ, चित्र व चित्रकारी आदि के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। साहित्य का बड़ा अंश इससे ओत-प्रोत है। हम मानते हैं कि ऐसा होने के कई ऐतिहासिक कारण हैं। धर्म का वैभव और आकर्षण बढ़ाने के लिये कला से इसका संयोग हुआ। हम कहना यह चाहते हैं कि यह संयोग आकस्मिक नहीं, स्वाभाविक था। यदि हम माने कि धर्म का आविर्भाव 'भय' से हुआ, जैसा कुछ चिन्तक मानते हैं, तो भय और इससे उत्पन्न प्रीति रस के अक्षय स्रोत होते हैं। मन्दिरों के ऊँचे शिखर, स्तूपों की महाकायता, गिर्जे और मस्जिदों की गगनचुम्बी मीनारें, पुण्य स्थानों का भयावह प्रदेशों में निर्माण, आदि ऐसे संकेत हैं जिनमें धर्म में निहित भय' से 'भयानक' रस उत्पन्न किया जाता है। यदि धर्म को अपने स्वरूप व सत्ता की खोज में उत्पन्न माना जाय तो इसमें दर्शन की गम्भीरता आ जाती है। फलतः उपासना की विधि और रसास्वादन एक हो जाते हैं। उपासना में उपासक ध्यान के द्वारा अपने उपास्य में स्वात्मा का दर्शन करता है। आत्म-ज्योति व अन्तः प्रसाद से अपने 'स्व' को आप्लावित कर कहता है: आनन्दोऽहम्। सौन्दर्य के गम्भीर अनुभव में भी आत्मा का उन्मिलन रसिक को होता है और उसकी सत्ता के मूल से ही रस के सहस्र स्रोत फूट उठते हैं। तब वह कहता है रसोऽहम्। जिन ऋषियों ने कहा था कि यह आकाश का विशाल चषक आनन्द से छलक रहा है; यदि यह प्याला आनन्द से भरा न होता तो यहाँ कौन जीवित रहता! यह ब्रह्म आनन्द है; इसीसे जीवन और प्राणन होता है। इत्यादि। पाठक देखें कि इस उद्गार में धर्म है या दर्शन या रस की विकट अनुभूति! भाषा एकदम कलात्मक है।

धर्म और कला एक ही मूल से उदय होते हैं। उस मूल तक पहुँचना आत्म-लब्धि है। उपासना और रसास्वादन इसके दो समानान्तर मार्ग हैं। धर्म-भावना 'रस' में आत्म-लब्धि की ओर मुड़ने के कारण भिन्न नहीं है। संक्षेप में, धर्म का बाह्य व आभ्यन्तर रस के विधानों व रसास्वादन

के प्रयोजन से अत्यन्त निकट है, इतना कि ये एक ही धारा के दो स्रोत प्रतीत होते हैं जो कभी मिलकर और कभी अलग होकर बहते हैं।

धर्म-भावना की निकटवर्ती मंगल-भावना है। कला और साहित्य मे यह व्याप्त है। हिन्दू-साहित्य मे तो इतनी व्याप्त है कि प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ मे मंगलाचरण और अन्त में मंगलात्मक आशीर्वचन एक जड़ता लाने वाला नियम बन गया है। मंगल, कल्याण व शिव हैं क्या वस्तु ? इनके ऐतिहासिक रूप पर विचार न करके हम कहेंगे कि मंगल जीवन की एक मूल, दृढ़ और अमर भावना है, जो साधारणतया आत्म-रक्षा के प्रयत्नों मे और प्रार्थनाओं में प्रकट होती है। प्रार्थना, स्तवन, आशीर्वचन आदि इसी मंगल-कामना के व्यक्त रूप हैं। ऋग्वेद और यजुर्वेद का सम्पूर्ण काव्यानन्द मंगल-भावना पर टिका हुआ है। ऋषियों के छन्दामय वेदोद्गार प्रकृति के दिव्य प्रतिनिधियों से 'मधु' और 'मंगल' की कामना करते हैं। यह कामना आत्मा का सच्चा व गम्भीर उद्गार होने के कारण रसनीय हो जाती है।

नैतिकता में दो अंश रहते है : एक, कर्मफलों में उचित और अनुचित का विवेक उत्पन्न करने के कारण मंगल की भावना। कर्म के औचित्य का अर्थ, परिणाम की दृष्टि से आत्म-कल्याण या जन-कल्याण अथवा विश्व-मंगल ही होता है। मंगल को बढ़ाने वाले कर्म को ही शुभ या उचित कहा जाता है। नैतिकता का दूसरा अंश कर्त्तव्य-भावना है जिसमें परिणाम की चिन्ता न करके किसी सनातन व सार्वभौम सिद्धान्त की रक्षा की जाती है। मंगल-भावना की रसनीयता का विचार ऊपर किया जा चुका है। भारतीय साहित्य में, विशेषत: रामायण और महाभारत मे, और विश्व के साहित्य और कला में, 'रस' का मूलाधार कर्त्तव्य-निष्ठ महामानवों की दृढ़ता ही है। रामायण में क्या 'रस' रह जाता यदि राम, एक नही अनेक अवसरों पर, अपने चरित्र की दृढ़ता का परिचय न देते ? कवि को क्या कहने के लिये मिलता ? "प्रसन्नतां या न गताऽभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवास दु:खत:" इत्यादि। संक्षेप में, कर्त्तव्य-भावना आत्माभिव्यक्ति का

उत्कृष्ट साधन, आत्म-शक्ति का संकेत और आत्मोद्गार का उदात्त मार्ग होने के कारण, रस का परम स्रोत हो जाता है।

सत्य में क्या 'रस' है? 'सत्य' आत्मा का स्वरूप है, सत्ता का लक्षण है। वह स्वयं ज्योति है। इसके ऊपर व्यवहार व ज्ञान का आकस्मिक आवरण पड़ने पर 'असत्य' का आविर्भाव होता है। अनृत व असत्य से सत्य के सुवर्ण कलश का मुख ढका है। असत्य आकस्मिक, क्षणिक, व्यवहार के धरातल पर टिका हुआ आवरण है। जब रसिक इसे छोड़कर आवश्यक, चिरन्तन, स्वयं-ज्योति की ओर जाता है तो उसे रस का आस्वादन होता है। किसी भी कला में जब तक 'चिरन्तन' का उन्मीलन नहीं होता, और वह क्षणस्थायी व्यवहार, लेन देन मे उलझी होती है, तब तक रस के प्रवाह को टिकने के लिये 'तल' ही नहीं मिलता। अत यह चिरन्तन सत्य रसनीय ही नहीं, स्वयं रस है; इसका कलात्मक उद्घाटन रसास्वादन का आधार है।

परन्तु सत्य अनिमिष, निष्पन्द ज्योति है। इसे कौन देख सकता है? अतएव हमारा दैनिक ज्ञान व व्यवहार इसमें निमेषोन्मेष उत्पन्न करता है। सत्य अगाध और शान्त समुद्र है; हमारा दैनिक आदान-प्रदान, बोल-चाल, आहार-व्यवहार इस समुद्र में लघु लहरों का उल्लास पैदा करता है। सत्य गम्भीर जीवन है; व्यवहार इसमें श्वासोच्छ्वास का संचार करता है; हमारी साधारण आशा, उत्कण्ठा, ईहा, क्षण-क्षण बदलते हुए क्रोध, प्रेम, ईर्ष्या आदि के अनन्त भाव—संक्षेपतः हमारा सारा ज्ञानात्मक व क्रियात्मक व्यवहार किसी अन्तर्निहित चिरन्तन सत्ता के ऊपर उठती हुई तरङ्गों की भाँति हैं। जब हम इन्हें रस-वासना से वासित होकर या कला के प्रभाव से सत्ता और सत्य की उठती हुई लोल लहरों के रूप में, या चिरन्तन ज्योति से निसृत किरणों के रूप मे, ग्रहण करते हैं तो ये साधारण पदार्थ भी असाधारण व रसनीय हो जाते हैं। यही यहाँ रसायन का तात्पर्य है। आनन्दवर्द्धन के शब्दों में—सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा। वसन्तागमन में द्रुमों की भाँति सब कुछ नवीन प्रतीत होने लगते हैं।

७

रस-चेतना

"प्राणी की चेतन अवस्था का नाम 'चेतना' है। चेतना की अभि-व्यक्ति मन, बुद्धि, अहं, वाणी और इन्द्रियों की चेष्टाओं में होती है।"

हमारी प्रस्तावना के लिये ऊपर का कथन (तर्क की दृष्टि से सदोष होते हुए भी) पर्याप्त है। चेतना के सम्बन्ध में और भी विविध और विरोधी मान्यताएँ हैं, जैसे चेतना स्वोद्‌भुत (Sui generis) वस्तु है; वह 'जड' से अत्यन्त भिन्न पदार्थ है। जड और चेतन का मिलन सृष्टि का रहस्य है जिसके उद्‌घाटन के लिये दर्शन और धर्म का प्रयत्न आज भी चल रहा है। सुलझ सकेगा? इसकी कौन आशा करे? इसका एक यह समाधान सम्भव है कि हम 'चेतना' को परमाणुओं की आन्तरिक क्रियाओं से उत्पन्न 'प्रकाश' (Light) मानें। इसका 'उदय' परमाणुओं से निस्तृत विद्युत्-कणों से होता है और वहीं इसका विलय भी। दूसरा समाधान यह हो सकता है कि हम चेतना को 'सत्ता' का ही रूप मानें। जो कुछ 'है' वह चेतना 'चित्' ही है: सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। विभिन्न पदार्थ उसी चेतन में उठती हुई लहरें हैं जो वहीं विलीन हो जाती हैं। इस प्रकार जड़-चेतन का द्वैत, जडाद्वैत और चेतनाद्वैत तीन दार्शनिक सिद्धान्त चेतना के सम्बन्ध में प्रच-लित हैं। चौथा मत शून्यवादियों का सम्भव है: कुछ है ही नहीं, न जड, न चेतन। 'होने' की प्रतीति ही भ्रम है जिसके दूर करने से परम लाभ सम्भव है।

एक मत 'चेतना' में 'गहराई' मानता है: इसमें अनेक 'तल' है। सबसे ऊपर के 'तल' का सम्बन्ध बाह्य जगत् से है। यह प्रकाशवान् और

सचेष्ट है। वाणी और क्रिया के ऊपर इसका अधिकार है। चेतना के इस ऊपरी 'तल' पर प्रकाश का एक केन्द्रीय बिन्दु (Focus) है जिसके चारों ओर धुधले प्रकाश का एक चंचल 'तट' (Margin) है। चेतना का केन्द्रीय बिन्दु प्रकाश से दीप्त 'वर्तमान' है जिसे 'अतीत' और 'अनागत' की तटान्त चेतना घेरे रहती है। ऊपरी तल के नीचे हमारे चेतन व्यक्तित्व का अर्द्ध-चेतन और निश्चेतन आधार है जहाँ भूख की नाई एक अतृप्त काम या वासना रहती है। यह आधार हमारी सम्पूर्ण क्रियाओं का स्रोत है, कामनाओं का उत्तेजक और विचारों का उद्‌बोधक है। यह 'भूख' अनन्त और अमिट है; मनुष्य का साधारण व्यक्तित्व इसी की तृप्ति का निर्बल और सीमित साधन है। वेदना और जीवन इसी से उत्पन्न होते हैं।

दूसरा मत ऊपर के मत को कुछ घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या करने के लिये एक—केवल एक—संकल्पना मानता है। इसके अनुसार चेतना एक धारा (stream) या जीवन-प्रवाह (Elan Vital) है। इसी प्रवाह में प्रयत्न, इच्छा और विचारों का जन्म होता है। वस्तुतः हमारे ज्ञान, भावना, संकल्प-विकल्प, भाव, उद्वेग, आशा-निराशा, स्मृति, कल्पना आदि अनेक अनुभव ही इस चेतना के स्वरूप का निर्माण करते हैं। अनुभूतियों के धारावाही प्रवाह का नाम ही चेतना है। वेदान्त यह नहीं मानता। इसके अनुसार चेतना का एक शुद्ध स्वरूप भी है। शुद्ध स्वरूप वह है जिसमें पृथक् पृथक् वस्तुओं की विभिन्न अनुभूति नहीं होती। 'यह पुष्प है', 'वह वृक्ष है' 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार की खण्डशः अनुभूति शुद्ध चेतना में नहीं होती। यह चेतना की विकृति है। अपने स्वरूप में चेतना में हलचल नहीं, खण्ड नहीं, अतएव वह एक त्रिगुणातीत, कालातीत और वर्णनातीत स्थिति है। न जाने किस माया से उस अखण्ड चेतना में तरङ्गें उठती हैं, और वह अनन्त, प्रवहणशील अनुभूतियों में बट-कट जाती है। चेतना को निस्तरङ्ग बनाना अनन्त आनन्द का मार्ग है।

चेतना के उपर्युक्त परिशीलन से हम निम्नलिखित तथ्य ग्रहण करते हैं जिनके द्वारा हम रस-चेतना के स्वरूप को विशद कर सकेंगे :—

(१) चेतना है : यह असन्दिग्ध सत्य है। हमें इसके उदय और अस्त की विवेचना आवश्यक नहीं। स्यात्, अपने अस्तित्व की अनुभूति (अहमस्मि) ही इसके होने का पुष्ट प्रमाण है।

(२) इसमें गति और परिवर्त्तन होता है। यह गति तीव्र या मन्द हो सकती है। इसमें गति है और वेग भी।

(३) चेतना में गाम्भीर्य है, अर्थात् इसमें अनेक 'तल' हैं। हमारे परिचित और सीमित व्यक्तित्व के नीचे अनेक अपरिचित तल और पार्श्व भी हैं जहाँ से हमें अद्भुत संकेत और प्रेरणाएँ मिलते हैं।

(४) चेतना में विस्तार भी है। हम इसमें स्फूर्त्ति या नूतन क्षितिजों के उन्मीलन का अनुभव करते हैं।

(५) चेतना का निकटतम पार्थिव रूप 'आलोक' या 'प्रकाश' से मिलता है। यह प्रकाश दीप्त (Intense) या मन्द हो सकता है क्षीण चेतनालोक में 'वस्तु' का स्वरूप स्पष्ट नहीं चमकता।

(६) चेतना में एक चेतन केन्द्र-बिन्दु रहता है जो ज्ञान, इच्छा संकल्प, काम तथा समस्त प्रवृत्ति और चेष्टाओं को आत्मसात करता और व्यवस्था देता है। यह बिन्दु 'अहं' है। यह चेतना की तरल तरंगों को स्थिर आधार भी प्रदान करता है। व्यक्तित्व की सीमाएँ यही बनाता है; इसी के चारों ओर व्यक्तित्व की व्यवस्था होती है।

(७) 'अहं' के विघटन से मानसिक अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है जिसे पागलपन कहते हैं। इसके क्षणिक विगलन या निर्गलन से जीवन की सीमाओं का विस्तार होता है जो आनन्द का स्रोत है। स्यात्, समाधि या मुक्तावस्था में यह 'निर्गलन' स्थायी हो जाता है।

(८) काम, इच्छा, ज्ञानात्मक क्रियाएँ—आदि चेतना के ही खंडित रूप हैं। चेतना इनमें अनुस्यूत और ओत-प्रोत है। अखंड चेतना की कल्पना सम्भव है, यद्यपि विज्ञान के लिये इसकी सत्ता स्वीकार करना

कठिन है। अखंड चेतना की अनुभूति अवश्य ही आनन्दमय होती होगी।

(९) क्या चेतना के प्रवाह की कोई निश्चित दिशा है? हम नहीं कह सकते। परन्तु यह मानना कठिन नहीं कि चेतना अपने स्वरूप को पुष्ट, पूर्ण, परिपक्व तथा समृद्ध बनाने के लिये अवश्य ही प्रवृत्त होगी। हम इसे ही चेतना की स्थायी प्रवृत्ति मान सकते हैं जिससे विशिष्ट इच्छा और प्रयत्नों का उदय होता है।

(१०) हम चेतना की गति को अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी मान सकते है। बाह्य जगत् में 'वस्तु' की ओर चलना तथा अपने ही 'स्वरूप' का अवगाहन करना।

ऊपर हमने चेतना के उन लक्षणों को ग्रहण किया है जिनके विषय में अधिक विवाद नहीं है, और जिनके द्वारा हम रस-चेतना का विशदीकरण कर सकते हैं। रस-चेतना (Aesthetic Consciousness) चेतना की ही परिणति या परिणाम है। चेतना के सभी लक्षण रस-चेतना में भी रहते हैं। पूँछना यहाँ यह है कि चेतना का यह परिणमन कैसे होता है और कौन नूतन लक्षण इसमें प्रकट हो जाते हैं?

(२)

स्यात्, इसमें मतभेद न हो कि आनन्द या रस जीवन की परम आवश्यकता है। आर्ष अनुभूति तो यह है कि आनन्द ही से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, आनन्द ही से वे जीवित रहते हैं तथा वहीं वे विलीन भी हो जाते हैं। जितनी इसकी आवश्यकता है उतने इसके लिये स्रोत भी हैं। हमारा मन काम-संकुल है, अनगिन कामनाएँ हैं जिनकी तृप्ति से सुख मिलता है। विरागियों का निर्वेदशास्त्र निवृत्ति के लिये चिरकाल से उपदेश देता आ रहा है। किन्तु काम-सुख नहीं है, क्षणिक ही सही, वह इसको सिद्ध नहीं कर सका और, निवृत्ति भी आनन्द का ही मार्ग तो है। हम तो मानते हैं कि निवृत्ति और प्रवृति दोनों ही अपने-अपने ढंग से आनन्द

की ओर ले जाते हैं। हम एक पद और आगे चलते हैं; प्रवृत्ति-निवृत्ति, विराग-तृप्ति, इन दोनों के अतिरिक्त भी आनन्द के साधन हैं। हमारी ज्ञानात्मक क्रियाएँ जैसे प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना, विचार, तर्क, ऊहापोह तथा अन्य शारीरिक चेष्टाएँ, जैसे वाणी का उपयोग आदि में भी आनन्द या सुख का पर्याप्त अंश रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान साक्षी है कि वह आनन्द को ही स्मृति, कल्पना, विचार, अवधान आदि बौद्धिक क्रियाओं का नियामक, प्रेरक, संचालक और चरम-गति मानता है। यहाँ यह अवश्य माना जा सकता है कि दु:ख भी है, किन्तु यह दु:ख केवल सुख की चेतना को जागृत और समृद्ध बनाने के लिये है। जैसे तम और तेज, गति और स्थिति का सम्बन्ध है वही सुख-दु:ख का सम्बन्ध है।

हमने यह सुख-दु:ख की मीमांसा केवल इसीलिये की है कि हम किसी साधारण अवस्था में उस शुद्ध 'चेतना' का अनुभव नहीं करते जो वस्तुत इन दोनों से अमिश्रित हो। हमारी चेतना का सहज स्वरूप ही 'सुख-दु:ख चेतना' है। एक के प्रबल होने पर इसे सुख-चेतना या दु:ख–चेतना कहा जाता है। सुख-दु:ख चेतना के स्वाभाविक और अस्थायी परिणाम हैं, काम की तृप्ति या अतृप्ति, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि इस 'परिणाम' के कारण हैं। यह हमारे जीवन की दैनिक स्थिति है।

अपने विवेचन में अब हम उस स्थल पर पहुँच गये हैं जहाँ हम कह सकते हैं कि रस या आनन्द का एक महान् स्रोत वह है जो कामों की तृप्ति और ज्ञानात्मक क्रियाओं की सफल प्रवृत्ति से भिन्न है, जिसमें निवृत्ति नही, किन्तु निवृत्ति का उन्मुक्त सुख रहता है, जिसमें आकर्षण रहता है, किन्तु आसक्ति नहीं, जिसमें अनुराग होता है, किन्तु राग का बन्धन नहीं। हम इसे ही वस्तुत: 'रस-चेतना' कहते हैं जो 'सुन्दर' के सम्पर्क से उत्पन्न होती है।

एक उदाहरण लीजिये। नदी-तट पर खड़े होकर देखिये। यदि आप व्यवसायी हैं तो आप नदी के उपयोग या उपभोग की बात सोचेंगे, कितना पानी इसमें है? यह सब समुद्र में व्यर्थ ही बह जाता है! क्यों न बाँध

द्वारा इसे रोककर विद्युत् बनाई जाये, सिंचाई के लिये नहरें बनाई जायँ ? बड़ा लाभ होगा ! इस प्रकार आप व्यवसायिक लेखे-जोखे में लग जाँयगे। यदि आप वैज्ञानिक है तो सोचेंगे कि इस नदी का जल काला क्यों दिखता है ? इसमें कौन-कौन से तत्त्व मिले हैं ? यह जल कहाँ से आता है ? इस प्रकार विचारों द्वारा आप इस विशिष्ट नदी को प्रकृति की सामान्य व्यवस्था का अंग बना देंगे जिसमें समुद्र, वायु, पर्वत, सूर्य और ताप-क्रम, और न जाने कितने और पदार्थ सन्निविष्ट हैं। हमारी व्यावहारिक और वैज्ञानिक चेतना में भी आनन्द की मात्रा रहती है। किन्तु इन दोनो अवस्थाओं में हमने 'नदी' की ओर ध्यान नहीं दिया; उसके सम्बन्धो मे हम उलझ गये, उसके चंचल वेग और तरल तरंगो ने, जल के प्रबल उच्छ्वास और फेनिल प्रवाह ने, जो इन्द्रिय-प्रणालिकाओं द्वारा प्रविष्ट होकर, मन में प्रभाव उत्पन्न किया, उस पर हमारा विशेष ध्यान नही गया। संक्षेप में हमने सौन्दर्य का अनुभव नहीं किया।

'सौन्दर्य की अनुभूति' का नाम ही 'रस-चेतना है। सौन्दर्य सुन्दर वस्तु का 'समवायी' गुण है। सुन्दर वस्तु की वास्तविक या काल्पनिक सत्ता होती है। उसके पार्थिव गुणों को हम रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, नाद, गति, विस्तार आदि के रूप में इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं। उसमें निष्ठित अवयवो के परस्पर संयोजन और संस्थान, अंगों का सन्तुलन और समविभाग, गुणों का सामञ्जस्य, आदि तत्त्वों को मन-बुद्धि के द्वारा ग्रहण करते हैं। अपने आध्यात्मिक स्वभाव के कारण, हम कभी-कभी तो 'सुन्दर' वस्तु में भी आध्यात्मिक गुणों का आरोप करने लगते हैं, जैसे, नदी को 'सुरापगा' या ब्रह्म-द्रव के रूप में देखना। उस वस्तु के गुण कभी तो अनेक कल्पनाओ का उत्थान करते हैं जिससे मानस-प्रदेश में नूतन अन्तरालों का उन्मीलन होता है। जैसे, जीवन और नदी में साम्य देखना; नदी की गति की अधीरता मे अभिसारिका की अधीरता को देखना इत्यादि। इस प्रकार 'सुन्दर' वस्तु का साक्षात्कार स्वयं एक ऐसी अनुभूति उत्पन्न करता है जिसमें काम की तृप्ति के बिना भी—आगे चलकर हम कहेंगे काम की तृप्ति के बिना

ही—आनन्द का अतिरेक रहता है, जिसमें 'उपयोग' के बिना भी परम लाभ की प्रतीति होती है, और विचार की क्रियाओं के स्थगित होने पर भी ज्ञान की दीप्ति जगती है, बिना योग-साधन के भी चित्त एकाग्र और एक तान हो जाता है। सुन्दर वस्तु—ऊपर के उदाहरण में, नदी का रूप मन में प्रविष्ट होता है, और, क्षणिक ही सही, इसे आक्रान्त करके अपना सम्पूर्ण वैभव इसमें उड़ेल देता है। तब तो मन में नदी का वेग और तरलता, उसका सम्पूर्ण प्रभाव उतर आता है। यह 'तन्मयता' की दशा है जिसमे हमारा 'अहंभाव' सब कुछ खोकर भी—या, 'ही'—सब कुछ पाता है। यही हमारी चेतना की रस-चेतना में परिणति है।

रस-चेतना में 'तृप्ति' का क्या स्थान है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है इस लिये कि इसके उत्तर पर अन्य कई प्रश्नों का उत्तर आश्रित है। हम काम या इच्छा की पूर्त्ति को 'तृप्ति' मानते हैं। यह काम-पूर्त्ति रसानुभूति में नहीं होती, और यदि अंशतः होती है तो केवल गौण रूप में, साधन बनकर, साध्य बनकर नहीं। इस कथन के कई आधार है : **क.** काम-पूर्त्ति काम-चेष्टा को उत्पन्न करती है। काम-चेष्टा से शरीर और मन में जो प्रयत्न प्रारम्भ होते हैं उनसे तनाव, उत्तेजना, उत्पीड़न आदि उत्पन्न होते हैं जो रसानुभूति में विकार लाते हैं। **ख.** रस-चेतना काम-पूर्त्ति से नहीं, प्रत्युत काम-चेष्टाओं को रोकने और उन पर अधिकार करके दूसरी दिशाओं में ले जाने से 'प्रदीप्त' और प्रखर होती है। लावण्य-तरंगिनी किसी तरुणी को या मूर्त्ति, चित्र आदि को देखिये। यदि देखने से मन कामाक्रान्त हो गया तो गीता के मनोविज्ञान के अनुसार तरुणी के ध्यान से 'संग' उत्पन्न होगा, संग से कामासक्ति, काम से क्रोध, क्रोध से मन-बुद्धि का संमोह, फिर स्मृति-विभ्रम और अन्त में विनाश! मन की सौन्दर्यावगाहिनी शक्ति तृप्ति के प्रयास में क्षीण हो जायगी। हम उस तारुण्य-तरंगिनी के रूप को आँखों में न भर सकेंगे; उसका तप्त-कांचन वर्ण, मुख, नेत्र, नासिका का समविभक्त आकार, उसके अंगों का सौकुमार्य, उनकी सन्तुलित गुरुता और लाघव, उसका भ्रू-विलास और नयनों से बाहर झाँकने वाला उसक

रमणी-रूप इत्यादि उसका सौन्दर्य हमारे अनुभव में न आ सकेगा। उसे देखकर कल्पनाएँ जगेंगी नहीं। केवल भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध प्रबल हो जाने से हम नारी के जीवित सौन्दर्य का अनुभव न कर सकेंगे। संक्षेप में काम का उद्रेक और इसकी पूर्त्ति की इच्छा सौन्दर्यानुभूति का विघात ही करती है। इसे काबू में करके (दमन करके विरागी की भाँति नहीं) मन का सम्पूर्ण प्रवाह उसके रूपावगाहन में केन्द्रित कर हम रसानुभूति को प्रखर बना सकते हैं। ग. इस दृष्टि से तरुणी के समान ही गौरवशालिनी, श्वेत केशा, गम्भीर-मुद्रा वाली वृद्धा के रूप का परिशीलन भी उसी प्रकार के अनुभव को उत्पन्न कर सकता है। मंच पर या चित्र आदि में भयंकर दृश्य को देखकर भयभीत हो जाने को 'रस' का अनुभव नहीं मानते। वस्तुत भय की भावना को रोककर हम जिस भावना का अनुभव करते हैं उसमे रसोद्रेक अवश्य रहता है। पूर्त्ति के वेग को रोकने, चेष्टाओं को स्थगित कर देने से सौन्दर्य की अनुभूति विशद और प्रखर होती है। घ. साधारण जीवन में सौन्दर्य के आस्वादन के साथ सम्भवत: तृप्ति हो भी सके, किन्तु कला के क्षेत्र में तो निश्चय ही तृप्ति की खोज आत्म-प्रवञ्चना होगी। कागज के टुकड़े पर बनी हुई या मूर्त्ति में गठित, काव्य मे वर्णित या चित्रित नारी का स्पर्श भी सम्भव नहीं, काम-पूर्त्ति तो दूर की बात रही। ङ. काम-पूर्त्ति बहुधा पार्थिव या शारीरिक स्तर पर ही होती है। उसमें उद्वेग, पशु-बल की प्रबलता, प्राकृतिक प्रवृत्तियों का जागरण रहता है। किन्तु हम सौन्दर्य का अवगाहन मन, बुद्धि और आत्मा के ऊँचे स्तरों पर करते हैं। इन्द्रिय-कुल्याओं द्वारा हम रूप-रस-गन्ध आदि को भरकर मन में उड़ेलते हैं, किन्तु साथ ही अंग-विन्यास, सन्तुलन आदि को ग्रहण करने के लिये आन्तरिक क्रियाओं का स्तर केवल शारीरिक नहीं रहता। च. स्मरण रहे हम कामों का दमन करनेवाले विरागियों की शून्य अनुभूति को रसानुभूति नही मानते। जब हम ज्ञान और व्यवहार की आवश्यकताओं से क्षणिक विरत होकर वस्तुओं के रूप का एकतान साक्षात्कार करते है तो हृदय उन वस्तुओं का सम्पूर्ण वैभव और प्रभाव ग्रहण करता है, तन्मय

होता है और अद्भुत सुख का लाभ करता है। काम, क्रोध आदि इस 'प्रभाव-ग्रहण' में सहायक हो सकते हैं, जैसे भयंकर प्रपातों, खोह, या कन्दरा आदि को देखने से जो अनुभूति उत्पन्न होती है, उसमें हमारी भय की भावना सहायक होती है। फूलों से लदी और झुकी लताओं में 'स्तवक-स्तना' की अनुभूति काम-वासना के आधार पर होती है! माधुर्य, सौकुमार्य, मृदुता आदि अनेक अनुभूतियों का आधार स्यात्, हमारी काम-वासना ही हो। तात्पर्य है कि जीवन की तथाकथित स्थायी प्रवृत्तियाँ रसोद्रेक और सौन्दर्यावगाहन में सहायक हो सकती हैं, कारण या आधार या विभाजन का आश्रयभूत सिद्धान्त नहीं।

हम तो एक सरल मान्यता प्रस्तुत करते हैं। सुन्दर वस्तु का साक्षात् सम्पर्क या मानस प्रत्यक्ष हमारी चेतना को रस-चेतना में परिणत कर देता है। इस परिणति के मूल में हमारी सहज सौन्दर्य-संवेदना रहती है।

(३)

इसे हम रस-चेतना का पहला ही लक्षण स्वीकार करें तो हानि नहीं कि रस-चेतना में तृप्ति की आकांक्षा और अतृप्ति की उत्तेजना नहीं होती।

यह स्वीकार कर लेने पर रस-चेतना के सम्बन्ध में अन्य कई लक्षण मिल जाते हैं। जैसे, रस-चेतना में सुख या आनन्द का एक स्रोत यह है कि इसमें हम इच्छाओं की हलचल और आवश्यकताओं के बन्धन से क्षणिक मुक्ति पा लेते हैं। जीवन आवश्यकताओं में बँधा है जिनसे इसका विकास होता है, किन्तु साथ ही इसका क्षय-व्यय भी। रस की आवश्यकता जीवन में आवश्यकताओं से मुक्त होने की आवश्यकता है जिससे जीवन की जड़ें पुष्ट होती हैं। सौन्दर्य का आस्वादन मन की इस उन्मुक्त, बन्धन रहित और उर्वर स्थिति को पुनः पुनः उज्जीवित करता है। इसीलिये रसास्वादन का सुख कुछ अद्भुत होता है। इसमें विराम और विश्रान्ति का अनुभव होता है।

सौन्दर्य के आस्वादन की आवश्यकता जीवन के लिये इसलिये है कि

जिन क्रियाओं से इसका क्षय-व्यय होता है वे यदि कुछ काल के लिये उपरान्त हो जाँय तो व्यक्तित्व के बन्धनों से उन्मुक्त हमारी चेतना अपने ही अन्तर से जीवनी शक्ति, प्राणों को सिक्त करने वाला 'रस', ज्योति और गति पा सके। आराधना, उपासना, ध्यान-समाधि द्वारा जो 'बल' प्राप्त होता है वही सौन्दर्य के अनुभव से भी प्राप्त होता है। अन्तर इतना है कि सौन्दर्याराधना के लिये यम-नियम की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ आराधक को केवल अपने 'अहम्मम' में जकड़े हुए जड़ व्यक्तित्व से छुटकारा पाने का थोड़ा अभ्यास चाहिए। सुन्दर वस्तु स्वयं अपने प्रभाव से हमारे 'अहं' पर अधिकार कर लेती है। यदि सौन्दर्य के उपासक को थोड़ा 'अभ्यास' हो गया है तो उसके लिये रस और आनन्द की कमी नहीं, क्योंकि सन्ध्या और प्रातः, शशि-सूर्य-नक्षत्र, पुष्प-वृक्ष-लता-वन-गुल्म, पर्वत-प्रपात-नद-नदी-जलाशय, आकाश-समुद्र, और सबसे अधिक सौन्दर्य की निधि नर और नारी, पशु-पक्षी इन सभी में उसे पर्याप्त सौन्दर्य मिलेगा। कला और साहित्य की अनन्त कृतियों की बात दूर रहो, प्रकृति ने, स्यात् जीवन के लिये आवश्यक और उपयोगी समझकर, असंख्य रंगों, रूपों और आकृतियों से हमारा परिवेश भर दिया है। केवल हमें इन्द्रियों के द्वार खोल देने की आवश्यकता है।

तो, इससे स्पष्ट हुआ कि रस-चेतना के उद्‌बोधन के लिये रसिक में रसिकता या रस-प्रवणता अपेक्षित है, यों सौन्दर्य स्वयं आक्रामक होता है। सौन्दर्य का प्रभाव और रसिकता दोनों ही रस-चेतना की सीमाएँ हैं, प्रतिबन्ध हैं। वह कितनी उद्‌बुद्ध और उद्दीप्त होगी, यह प्रतिबन्धों पर आश्रित है। रस-चेतना का प्रवाह इन्हीं दो ध्रुव-बिन्दुओं के बीच आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन करता है। जैसे, जलाशय का जलौघ आकाश से बादलों के चूने से, और, धरती से नूतन स्रोतों के फूटने से बढ़ता है, उसी प्रकार रस-चेतना रसिक के अन्तर से नूतन प्रवाहों के फूटने और सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य-प्रभाव से समृद्ध होती है। फलतः हमें मानना होगा कि 'रसास्वादन में रसिक एकदम निष्क्रिय नहीं होता। वह अपने अन्तर से आलोक और

आनन्द के स्रोत निकालता है जो रस-चेतना में सन्निविष्ट होते हैं। इन्द्रिय-कुल्याओं में रूप और रंगों को भरता है; अवधान, स्मृति, कल्पना, आशा, सम्भावना, विमर्श, ऊहापोह, प्रवृत्तियाँ इत्यादि मन, बुद्धि और चित्त की सारी क्रियाएँ जग जाती हैं, और, सुन्दर कृति के सौन्दर्यावगाहन में लग जाती हैं। सुन्दर कृति के अङ्ग-सौष्ठव, सौकुमार्य, माधुर्य, लय-गति, विन्यास, अङ्गाङ्गीभाव, उसकी आध्यात्मिक, नैतिक और मानवीय अभिव्यञ्जनाएँ, इत्यादि के ग्रहण करने के लिये रसिक में जिन प्रयत्नों का उत्थान होता है, 'संकेतों' और प्रतीकात्मक अर्थों को ग्रहण करने के लिये बुद्धि के जिन ऊँचे स्तरों का विस्तार होता है तथा कल्पना जिन नूतन अन्तरालों का सृजन सुन्दर वस्तु के सौन्दर्य को अवगम करने के लिये करती है, इन सबसे सिद्ध होता है कि रस-चेतना रसिक को निष्क्रिय, शून्य, केवल ग्राहक स्थिति नहीं है प्रत्युत सक्रिय और सचेत अवस्था है। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रस-चेतना की सक्रियता का उद्देश्य इस क्षण 'पूर्त्ति' या तृप्ति' या व्यवहार की सफलता नहीं होता, केवल रस-ग्रहण ही एकमात्र प्राप्तव्य लक्ष्य होता है।

सक्रियता और व्यावहारिक क्रियाओं का उपराम अथवा प्राकृतिक प्रवृत्तियों का क्षणिक रुक जाना—ये दोनों ही विरोधी तत्त्व रस-चेतना में रहते हैं। यह परिस्थिति एक साथ ही एक ओर आत्म-विस्मृति जैसी अवस्था उत्पन्न करती है तो दूसरी ओर आत्म-चेतना को प्रज्वलित करती है, मानो जलौघ क्षण के लिये अवरुद्ध हो कर और भी प्रचण्ड हो उठा है। किसी अच्छे नर्तक का 'ताण्डव' देखिये या सुकुमारियों का 'लास'; किसी राग की मूर्च्छना सुनिये, या, चित्र-मूर्ति आदि में किसी भाव-लोक का उन्मीलन। संक्षेप में, सुन्दर कृति के अनुभव में वेदना और भावों का ज्वार, ज्ञान की स्वतः संचरित रश्मियों का आलोक, फूट उठते हैं, किन्तु रसिक का साधारण 'अहम्मम' वहाँ नहीं है। आत्म-विस्मृति के साथ आत्म-चेतना का विकट उद्दीपन रस-चेतना का विलक्षण लक्षण है।

हमने चेतना में गति, विस्तार, गाम्भीर्य आदि 'मान' माने हैं। साधारण जीवन में चेतना में गति रहती है; यह गति लक्ष्य-सिद्धि के लिये 'संयत' भी होती है। किन्तु 'पूर्ति' और 'तृप्ति' की इच्छाओं के कारण, काम, 'संग', क्रोध, सम्मोह, स्मृति-विभ्रम आदि के कारण तथा वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष आदि के कारण, चेतना का वेग 'उद्वेग' में बदल जाता है; उद्वेग से आवेश, आवेश से अशान्ति, और अशान्ति से मन की चंचलता और जीवन की गति का विच्छेद होता है। उद्विग्न गति के कारण 'चेतना' वहीं की वहीं रहती है; उसमें 'प्रगति' नहीं होती। जीवन के विभिन्न और विरोधी अंगों में सामञ्जस्य और सन्तुलन नहीं रहता। अपने प्रति पक्षपात, स्वार्थ और लोलुपता के कारण जीवन में अनेक असंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। सुन्दर वस्तु जैसे, संगीत, उदात्त काव्य, भावमय नृत्य, भंगिमामय मूर्ति, अनेक शिखरों से मण्डित मन्दिर आदि के देखने से, जीवन की गति में उद्वेग-शून्य 'वेग', 'प्रगति' और 'संगति' का उदय होता है। उसमें चेतना का सहज 'लय' का उदय होता है। यह 'लय' (Rhythm) प्रगति, वेग (उद्वेग-शून्य) और संगति रस-चेतना को समृद्ध बनाते हैं।

चेतना के विस्तार और संकोच से क्या तात्पर्य है? हमारे स्वार्थ और रुचियाँ, पक्षपात और पूर्वग्रह, पिछले अनुभव और अनागत की प्रत्याशाएँ, सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक विश्वास, हमारी प्रस्तुत जीवन की अनेकविध परिस्थितियाँ आदि ऐसी सीमाएँ हैं जिनके अन्दर हमारी चेतना घूमती है। हम कितने ही उदाराशय हों, ये अदृश्य सीमाएँ हमारे व्यक्तित्व को घेरे रहती है, विचारों की दिशा निश्चित करती हैं, भावनाओं को बल देती हैं। परन्तु हैं ये सीमाएँ। उदार और अनुदार का अन्तर इन सीमाओं के विस्तार का अन्तर है। किन्तु 'सुन्दर' के अनुभव में ये सीमाएँ निर्बल या विलीन हो जाती हैं। एक पुष्पित पादप या तरंगायमान सरोवर के सौन्दर्य को हृदय में आने की 'इजाज़त' दीजिये। सभी रूढ़ियाँ, पक्षपात, विश्वास और धर्मनीति, राजनीति के बन्धन वहीं

विच्छिन्न है। आप केवल उसके 'रस' के ग्राहक हैं जिससे किसी का विरोध नहीं। आप सच्चे अर्थ में 'मानव' या अन्तर्राष्ट्रीय पुरुष हैं। शुद्ध 'मानवता' का यह उदय हमारी व्यक्तिगत चेतना का विस्तार करता है। रस-चेतना में चेतना का यह विस्तार होता है।

राष्ट्र, धर्म आदि से निरवच्छिन्न मानवता का ही केवल विस्तार रस-चेतना में नहीं होता, उसमें 'मूल' मानवता का भी उद्घाटन होता है। इससे रस-चेतना में 'गाम्भीर्य' आता है। यह 'मूल' मानव कौन है? इसका विशदीकरण तीन प्रकार से सम्भव है। (क) इतिहास की दृष्टि से, 'आज' का सभ्य और संस्कृत मनुष्य विज्ञान, विचार, रूढ़ि, मर्यादा, पक्षपात, राष्ट्र-धर्म-नीति आदि के अनुशासन से बँधा है। इतिहास के प्रारम्भ में और इससे भी पूर्व, मूल मानव प्रकृति का अंग और भावनाओं का चलता-फिरता पुतला था। अकुंठित शक्ति और अप्रतिहत गति के कारण, उसकी भावना में बल था। इतिहास की गति ने इसे शनैः शनैः संस्कृत बनाया, साथ ही कुंठित भी; इसका परिष्कार व विस्तार भी किया, साथ ही संकोच भी। 'आज' का मानव 'कुण्ठाओं' से मुक्त होने के लिये अपनी मूल-मानवता की ओर दौड़ता है जिसे इतिहास ने 'जकड़' दिया है। रस-चेतना के उदय के क्षण में, बहुधा हम इतिहास से अनवच्छिन्न चेतना का लाभ करते हैं। यह 'विद्यमान' से इतिहास के 'मूल' मे जाने की क्रिया कई प्रकार से रोचक होती है; कल्पना में प्राण संचार करती है। (ख) अध्यात्म की दृष्टि से, हमारी परिमित चेतना के मूल में अपरिमिति चेतना का सिन्धु है जिसमें सत्ता का आनन्दमय, निरुपाधिक अनुभव रहता है। यही 'ब्रह्म' है, 'बृहत्' है। रसानुभूति में व्यक्तित्व की सीमाओं के निर्गलन से हमें इसी आत्म या ब्रह्म-तत्त्व का अनुभव होता है। इसे हम अपनी मानवता की 'मूलानुभूति' कह सकते है। पाश्चात्य चिन्तक मानवता के मूल में निश्चेतन (The Unconscious) को मानते हैं। इसी से चेतना की चिनगारी, तम में तेज की भाँति निकलती है। रस-चेतना में केवल यह चिनगारी उद्दीप्त ही नहीं होती, वह हमें मूल तक

का भी उद्घाटन करा देती है। एक अन्य विचारधारा के अनुसार, हमारी चेतना का अचेतन आधार हमारी निजी और जातिगत सम्पूर्ण स्मृतियों का निधान है। रस-चेतना के अवसर पर इसी संचित स्मृति-निधि में 'हलचल' मचती है जिसमें हमें 'अपने' में ऐतिहासिक गम्भीरता का बोध होता है। (ग) मनोविज्ञान की दृष्टि से, हमारा 'जाग्रत' मन छोटा है। रस-चेतना के उदय-काल में 'स्वप्न' जगते हैं, (कल्पना के बल से), और, मन गम्भीर होता है। मन और भी अन्तर्मुखी होकर निस्तब्ध, निस्तरंग सत्ता के सिन्धु में प्रवेश करता है जो वस्तुतः सुषुप्ति की अवस्था है। इस स्थिति में, जैसा कि गम्भीर संगीत या मूर्ति आदि के समय होता है, कभी-कभी अनुपम चेतना के आलोक की बिजली छिटक जाती है जो साधारण जीवन में अलभ्य थी। यह 'तुरीय' का अनुभव है जो रसोद्रेक की अवस्था में होता है। इस प्रकार रस-चेतना में रसिक अपने अन्तर में अपने अस्तित्व की गम्भीरता का अनुभव करता है। इस अस्तित्व में देश-काल-कारण घनीभूत होकर सन्निविष्ट रहते हैं; इसीलिये रस-चेतना में इसके उन्मीलन से रसिक में एक अपूर्व व्यक्तित्व का उदय होता है।

रस-चेतना में चेतना विखंडित या विकेन्द्रित या विकीर्ण नहीं होती। ऐसा होने से रसास्वादन की क्रिया ही असम्भव हो जायगी। परन्तु साथ ही, 'अहं' जो आभ्यन्तर-व्यवस्था का केन्द्र होता है, स्वयं ही रसिक द्वारा स्वयं-स्वीकृत विधान से 'विलीन' अवश्य हो जाता है। तभी तो सुन्दर वस्तु अपना 'रूप' चेतना को समर्पित कर पाती है। रीता कलश ही तो भर सकता है, भरा हुआ क्या भरेगा? रसिक अपने 'अहं' को 'रिक्त' करके चेतना को सौन्दर्य से भरने देता है। ऐसा करने की असमर्थता के कारण यदा यदा हम सौन्दर्य का अनुभव भी नहीं कर पाते। कला की भाषा में इसे उन्मुक्तता (Abandon) कह सकते हैं। चेतना का 'अहं' केन्द्र विलीन होने से सुन्दर कृति ही रस-चेतना का केन्द्र बन जाती है।

काम और उद्वेगों के शान्त होने तथा चेतना के एकाग्र, एकतान और और विषयाकार होने से, रस-चेतना के उदय-काल में एक ओर सुन्दर वस्तु का अपूर्व रूप उद्भासित होता है: 'सर्वे नव इवाभान्ति मधु मास इव द्रुमाः', दूसरी ओर चेतना की लौ और लपटें नूतन अन्तरालों को अकस्मात् जगमगा देती हैं। मधुर राग या नृत्य, एक छोटी कविता या वनाली की एक प्रेरणा (*One impulse from vernal wood*) कभी-कभी ऐसे सत्यों का द्वार खोल देती हैं जो तर्क की माथापच्ची कभी न कर सकेगी। जीवन के अनेक रहस्य संगीत के क्षण में स्वतः खुल पड़ते हैं। इसका तात्पर्य है कि रस-चेतना में केवल भाव और भावनाओं की बाढ़ नहीं आती, केवल रागों का आवेश नहीं होता; उसमें ज्ञानालोक के सहज स्रोत फूटते है, और, बुद्धि अपनी मूल शक्तियों से समृद्ध हो उठती है। रस-चेतना आँधी, बवंडर या बाढ़ नहीं है; वह चेतना के प्रसाद से आलोकित और जीवन के रस से सिक्त होती है।

(४)

यदि हम कुछ लक्षणों द्वारा रस-चेतना के स्वरूप को विशद कर सकें तो रस सम्बन्धी अनेक 'वाद' निर्विवाद हो जाँय। भरत का रस-सिद्धान्त ऐतिहासिक महत्त्व रखता है, और आज भी इसकी मान्यता निराधार नहीं है। किन्तु रस-चेतना को केवल स्थायी भावों का विभावादि द्वारा उद्रेक मानना संकीर्णता होगी। भावोद्रेक के अतिरिक्त भी कई और महत्त्वपूर्ण तत्त्व रस-चेतना में रहते हैं। शरीर में रुधिर और हृदय की गति, प्राणों के स्पन्दन से लेकर विविध इन्द्रियों की क्रिया, इनके द्वारा रंग रूप आदि का मस्तिष्क के केन्द्रों तक बहाव, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार में नानाविध क्रियाओं का जागरण, भावों का उद्रेक, कल्पना की उड़ान, आशा और प्रत्याशाओं का समुत्थान तथा युग-युगों की संचित स्मृति-निधि में हलचल इत्यादि ऐसी अनेक घटनाएं हैं जो रस-चेतना को गति, विस्तार, गाम्भीर्य, शक्ति और स्वरूप प्रदान करती है।

सौन्दर्य के अवगाहन की सम्पूर्ण क्रिया रस-चेतना को पूर्ण और पुष्ट बनाती है। भरत और रस-वादियों का विवेचन रस-चेतना को पूर्ण रूपेण प्रस्तुत नहीं करता। हाँ, ध्वनिवादियों का यह सिद्धान्त कि रसास्वादन रसिक अपने "अखिल" व्यक्तित्व मे करता है [अखिल बुद्धि समास्वादूयं काव्यम्] एकाश से नहीं, यदि हमें मान्य है तो भी केवल भावोद्रेक को 'रस' नही स्वीकार किया जा सकता।

रस-चेतना में 'सुन्दर' वस्तु की नित्य नवीनता और 'क्षणे क्षणे नवता' का क्या आधार है? निश्चित है कि भावों का क्षण-क्षण में उद्रेक नवीन नही होगा, और, श्रम तथा शक्ति-क्षय उत्पन्न करेगा। किसी मूर्ति, मन्दिर, भवन (जैसे, ताजमहल) या लैण्डस्केप आदि के चित्र, एच० जी० वैल्स की कहायियाँ या कोई आधुनिक 'ट्यून', छोटी कविता आदि को देखिये, या पढ़िये। यह स्पष्ट नहीं होता कि ऐसा करने से किसी भी स्थायी भाव का उद्रेक होता है। हम नहीं समझते कि 'ताज' को देखकर किसी भी प्रेक्षक में कामोद्रेक होता होगा, यद्यपि वह अपने भव्य रूप में पति-पत्नी प्रेम का उज्वल-धवल प्रतीक है। वस्तुतः सौन्दर्य-ग्रहण की इन स्थितियों मे मन और बुद्धि सुन्दर वस्तु के आकार, रूप, अंग-विन्यास, अङ्गाङ्गी सम्बन्ध, उसके प्रतीकात्मक अर्थों (Symbolic meanings), उसमें सन्निहित रग-रेखाओं के वैभव, उतार-चढाव, कटाव की बारीकी, संयोजन की सुकुमारता, अंगों का परस्पर समविभक्त सन्तुलन आदि के ग्रहण में इतने हो जाते हैं कि बारम्बार अवधान उसी ओर दौड़ता है, नेत्रों को स्थल-स्थल पर नूतन सम्पदा का लाभ होता है। इस प्रकार न मन थकता है और न इन्द्रियाँ। यदि रस-चेतना में इतनी प्रचुर सामग्री न होती तो वह स्नेह-हीन छोटे दीप की तरह शीघ्र ही बुझ जाती। 'नवता' का आधार यही प्राचुर्य है।

'नवता' में आकर्षण रहता ही है। वह रसिक को अपने साधारण व्यक्तित्व की परिधि से खींच लेती है। विषयाकार वृत्ति हो जाने से रसिक श्रोता का मन 'संगीत' बन जाता है; वह अपने में संगीत की स्वर-लहरी

का अनुभव करता है; प्रत्येक स्वर और स्वरों से निर्मित सम्पूर्ण में माधुर्य, ओज, गति, संवाद और सामञ्जस्य, नियम और स्वच्छन्दता का ऐसा अद्भुत सम्मिलन प्रतीत होता है कि रसिक अपनी दैनिक दुःख, चिन्ताओं से आत्मा को 'रिक्त' कर उसमें संगीत और स्वरों को भरने देता है। यही रसास्वादन की आत्म-विस्मृति युक्त आत्मा-चेतना है। इसे हम रस-चेतना का 'चित्त-लय' और 'चिदावरण भंग' कह सकते हैं। क्या इस दशा मे हम कुछ और जानना चाहेंगे ? वस्तुतः सुन्दर वस्तु को छोड़कर इस दशा मे 'वेद्यान्तर का विगलन' हो ही जाता है। 'अवधान' के केन्द्रित होने से जो 'विषय' (सुन्दर-कृति) के अनुरूप 'वेद्य' नहीं है, वहाँ मन नहीं जाता। फलतः एक ओर आत्म-चेतना के आलोक में वेद्य-विषय अपने पूर्ण वैभव में जगमगाता है तो दूसरी ओर 'वेद्यान्तर' विस्मृत हो जाता है।

(५)

विचार की पश्चिमी शैली के अनुसार रस-चेतना (Aesthetic Consciousness) में दो विविक्त तत्त्व रहने चाहिए। क. आकार (Form) और ख. आकृति (Content) या (Intent) : इन्हें रूप और भोग समझिये। इसका एक उत्तर यह हो सकता है कि भाव, भावना (Feeling), अर्थ अथवा भावाक्त विचार आदि रस-चेतना की 'आकृति' हैं और इनकी कलात्मक अभिव्यक्ति इसका 'रूप' या 'आकार' हैं। इस योजना में भरत का रस-सूत्र 'फ़िट' बैठ जाता है। स्थायी भाव मानो रस-चेतना के Content हैं, और, विभाव आदि इसका 'आकार'। आकार और आकृति के इस द्वैत मत में रस-चेतना की 'आंगिक' (Organic) एकता नष्ट हो जाती है। हम इस 'एकता' का अनुभव प्रतिक्षण जीवन के प्रत्येक स्पन्दन में करते हैं। जीवन और चेतना में आकार और आकृति का भेद विश्लेषण-प्रधान विज्ञान के लिये तो उचित है। हम पुष्प की पंखुड़ियों को गिन सकते हैं, उसमें रंग, गंध आदि को अलग कर सकते हैं। परन्तु पंखड़ियों का गिनना और पुष्प के सौन्दर्य को हृदय से ग्रहण करना दूर की वस्तुएँ हैं। कुछ

चिन्तकों के अनुसार 'भावों की चाशनी' के बिना रस के स्वाद में 'मिठास' आ ही नहीं सकता। बात सच है कि 'रस' के आस्वादन में भावों का तिरोभाव नहीं होता : वस्तुतः जीवन के किसी भी गम्भीर और पूर्ण अनुभव में किसी तत्त्व का निराकरण नहीं होता। जीवन 'सब' स्वीकार करके उसे 'रूपान्तरित' कर देता है। सौन्दर्य-चेतना में भाव, विचार, कल्पना सभी कुछ पड़कर रूपान्तरित हो जाते हैं अर्थात् 'सुन्दर' हो जाते हैं, जैसे, नमक की खान में पड़कर सभी कुछ नमक हो जाता है। अतएव आकार और आकृति का 'द्वैत' रस-चेतना के स्वरूप-निरूपण के प्रसंग में असंगत होगा। सौन्दर्यास्वादन के क्षण में केवल 'रस' का ही 'अद्वैत' रहता है; यहाँ तक कि दुःख, नैराश्य, वेदना, विरह, परिताप आदि सभी 'रसनीय' हो जाते है। सौन्दर्य-रसायन (Aesthetic chemistry) की कुछ ऐसी 'करामात' होती है कि वह जीवन और चेतना की सभी वृत्ति और प्रवृत्तियों को रस के 'कीमिया' मे बदल देती है।

संक्षेप में, इस रासायनिक विधि को इस प्रकार समझा जा सकता है। स्थायी प्रवृत्तियों का सामान्य लक्ष्य व्यवहार की सफलता होता है। चेतना की अन्य वृत्तियाँ जैसे अवधान, विचार आदि उसीके अनुगामी होते हैं। विचार, तर्क, ऊहा आदि के द्वारा हम कभी केवल ज्ञान का सम्पादन भी करते है, क्योंकि व्यवहार की भाँति ज्ञान भी मनुष्य की सहज भूख है। किन्तु ज्ञान और व्यवहार की भाँति जीवन में 'रस' की भी आवश्यकता है, जैसा हम पहले देख चुके हैं। 'रस' का उन्मेष ज्ञान और व्यवहार की आवश्यकता और तज्जन्य उत्तेजना से ऊपर उठने से होता है। ऐसे 'ऊपर' उठने और अनेक सुन्दर 'वस्तुओं' और कृतियों में मग्न (महव) हो जाने की भी सहज प्रवृति मनुष्य में है जिससे जीवन के क्षीण और जीर्ण तन्तुओं का उद्धार होता है, चेतना को बल मिलता है। रसोन्मेष के क्षण में चेतना की रस-परिणति होती है और उस दशा में जीवन की सभी वृत्ति और प्रवृत्तियाँ, विचार, तर्क, कल्पना, अवधान अपने अपने उद्देश्यों को मानो स्थगित करके रस-चेतना की ही पुष्टि करते हैं। उस क्षण न केवल चेतना

का ही 'रूपान्तरण' होता है, अपितु विधाता और मनुष्य की अखिल सृष्टि भी रस में परिणमित हो जाती है। उस क्षण चन्द्रमा 'सुधाकर' हो जाता है; रमणी-मुख में कमलों का सौरभ और वर्ण चमकने लगते हैं; आकाश आनन्दासव का प्याला मालूम होता है, इत्यादि। ये सब ज्वर-ग्रस्त कल्पना के विकार नहीं हैं, प्रत्युत रस-चेतना में उद्बुद्ध सच्चे अनुभव मात्र हैं।

८

समीक्षा

यदि हम रस-विवेचना को 'साधना' मानें तो इसमें 'समीक्षा' को सिद्धि कह सकते हैं, क्योंकि रस-समीक्षा रसास्वादन प्रक्रिया की चरम-भूमि है। यदि हम किसी पूर्वग्रहीत मतवादों या स्वयंसिद्ध सिद्धान्तों (a priori) के अनुसार समीक्षा करना उचित नहीं समझते तो रसिक ही रस का आस्वादन करे और बतावे कि वह कैसा है। रसिक द्वारा अपने ही अन्तर्गत क्रियाओं का सम्यग् ईक्षण, आस्वादन का परीक्षण, स्व-अनुभूति का अवगाहन ही रस की सर्वोत्तम व विश्वसनीय समीक्षा हो सकती है। इतना ध्रुव सत्य है कि बड़ा से बड़ा सैद्धान्तिक भी यदि वह रसास्वादन के लिये किसी उपाधिवश अक्षम है तो रस के विषय में असन्दिग्ध मत नहीं उपस्थित कर सकता। फलतः हमें स्वीकार करना चाहिये कि समीक्षा का मूलाधार रसास्वादन की क्रिया है और रसिक के अतिरिक्त कोई समीक्षक नहीं हो सकता।

तो क्या रसिक पदेन समीक्षक होता है? क्या सभी रसिक स्वभावतः समीक्षा के लिये समर्थ हो सकते हैं? अंशतः उत्तर है : हाँ। कारण कि आस्वादन की क्रिया में रस का अवगाहन होता ही है। बिना इसके 'आस्वादन' का अर्थ ही क्या? अतः समीक्षा रसास्वादन में स्वभाव से ही अन्तः प्रविष्ट है, जो व्यक्ति जिस सीमा तक रसावगाहन कर सकता है उसी सीमा तक वह रस के विषय में अपना निर्णय भी दे सकता है। वस्तुतः यह 'निर्णय' अपने ही 'स्व' के विभिन्न स्तरों, पार्श्व व प्रदेशों में व्याप्त क्रिया के सम्बन्ध में होता है। जो रसास्वादन की बाधाएँ या सीमाएँ

है वही समीक्षा के लिये भी होंगी। यदि रसिक समीक्षा न करेगा तो करेगा भी कौन ?

हमने 'अंशतः' इसलिये माना है कि यह यदाकदा सम्भव हो सकता है कि रसिक में, कारणवश, रसास्वादन की क्रिया परिपाक की उस सीमा तक न पहुँच पावे जब उसमें उचित समीक्षात्मक प्रवृत्ति जगे। यों तो प्रत्येक रसास्वादन के लिये समर्थ व्यक्ति स्वभावतः समीक्षक है ही, किन्तु सम्मान्य व विश्वसनीय समीक्षा का उदय परिपक्व अवस्था में उत्पन्न होता है। रसास्वादन की क्रिया परिपक्व व चरम-भूमि में पहुँचकर स्वयमेव समीक्षात्मक होने लगती है। सम्भव है रस का प्रथम उन्मेष मुग्ध कर दे, किन्तु ज्यों-ज्यों रस-ग्रहण की क्रिया मन, हृदय, चित्त आदि में व्याप्त होती है, बुद्धि रस-ग्रहण के औचित्य या अनौचित्य, उसकी उपादेयता या हेयता का प्रश्न उपस्थित कर देती है। इस प्रकार आलोचनात्मक प्रवृत्ति का आविर्भाव होता है। माना कि 'तर्क' पर अवलम्बित बुद्धि समीक्षा के लिये असमर्थ होती है; किन्तु यह भी मानना होगा कि रसास्वादन में न केवल बौद्धिक शक्ति का ह्रास नहीं होता, वरन् बुद्धि रस-प्रवण होकर प्रेक्षक की 'ग्रहण-सामर्थ्य' को और भी चमका देती है। वस्तुतः रसास्वादन में बुद्धि की चमक पैदा हो जाने पर उसमें 'परिपाक' भी होता है, और तभी आलोचनात्मक क्रियाओं का रसिक में उदय। रसास्वादन की परिपक्व, पुष्ट व चरम-भूमि का नाम ही समीक्षा है।

समीक्षा रसास्वादन की स्वाभाविक सीमा भी है, क्योंकि समीक्षात्मक क्रिया के स्फुरण में रसिक को अपने विषय में 'सचेत' या 'स्वचेत' (Self-conscious) होना पड़ता है। आलोचना में आलोच्य विषय जब रसिक 'स्वयं' है तब 'स्वचेतता' स्वाभाविक ही होगी : किन्तु एक सीमान्त पर पहुँचकर यह 'रस' का अन्त भी कर देगी। अतः समीक्षात्मक प्रवृत्ति का अधिक प्रबल होना रस-ग्रहण के व्यापार को संकुचित करता है। इसको मानो रोकने के लिये अन्य एक क्षमता रसिक में होती है जिसे हम सहज संवेदन-शीलता (Sensitivity) कह सकते हैं। कुछ व्यक्ति

शब्द, रेखा, रूप, वर्ण, आकृति, घनत्व, विस्तार, गति आदि के ओज, मार्दव, माधुर्य, सौकुमार्य, व्यञ्जकता आदि गुणों को सरलता से ग्रहण कर लेते हैं और कुछ नहीं। यह सहज संवेदन-शीलता रसास्वादन के लिये जितनी आवश्यक है उतनी ही रस की आलोचना के लिये। परन्तु इससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि समीक्षा और रसास्वादन का एक ही सहज आधार है।

एक और विचारणीय बात है: हम 'समीक्षा' को वादों के विवाद से मुक्त रखना चाहेंगे और शास्त्रीय समालोचना की कृत्रिमता से। इसके लिये आवश्यक है कि हम रसिक को ही अपनी संवेदनशीलता से उत्पन्न रसास्वादन व रसालोचन क्रिया का साक्षी मानें, और उसे ही इस विषय में 'आप्त' प्रमाण होने का आदर दें।

अन्त में, जो दृष्टिकोण इस निबन्ध में अपनाया गया है, वह भी इसी दिशा में इंगित करता है। "यह सुन्दर है, और इसलिये" यह हमारी समीक्षा का रूप नहीं होगा, क्योंकि हम सुन्दर वस्तु अथवा वस्तुगत सौंदर्य की मीमांसा यहाँ नहीं कर रहे हैं। न हम कलाकार के दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर कहना चाहते हैं कि अमुक कृति किस सीमा तक कलाकार के व्यक्तित्व व स्वात्मा (Self) की सफल वा विफल अभिव्यक्ति है। और न हमारा मन्तव्य यहाँ रस व सौन्दर्य की ऐतिहासिक मीमांसा करना है। हमें यह बताना यहाँ अभिप्रेत नहीं कि इतिहास की कौन-कौन धाराएँ 'कृति' के कलेवर में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से गोचैर हो गई हैं। हमारी विवक्षा इतनी है कि हम रसास्वादन की क्रिया का निरूपण करें। सुन्दर वस्तु के विशिष्ट गुण का नाम 'सौन्दर्य' है। जब रसिक रसेच्छा से प्रेरित होकर 'सौंदर्य' को रस की अनुभूति में परिणत कर लेता है, इतना ही नहीं, वह स्वभाव से 'अ-रस' पदार्थों को भी कुछ रसायन-विधियों से 'रसनीय' बना लेता है, तब उसके अन्तर्जगत में एक 'घटना' घटती है। उस घटना का नाम 'रसास्वादन' है। इस घटना का मीमांसन, मूल्याङ्कन रसिक की दृष्टि से प्रस्तुत करना—यही यहाँ विवक्षित है।

(२)

रस-समीक्षा में, यदि हमें इसका उपर्युक्त निरूपण स्वीकार है, कई बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जैसे—आलोचना बुद्धि का काम है, और रसा-स्वादन मनुष्य की रागात्मक प्रवृत्तियों का फल। स्यात्, तेज व तम की भाँति दोनों मे विरोध है। अतएव दोनों एक साथ सम्भव नहीं। अतएव रसिक समीक्षा नहीं कर सकता।

वस्तुत: यह बाधा कल्पित है, कारण कि यह मतवाद एक भ्रान्ति पर टिका है। वह यह कि इसके लिये 'रस' का मूल गर्भ केवल 'राग' है, और, राग का उन्मेष केवल मन की तमोजन्य, बुद्धि का ह्रास करने वाली सम्मूढ दशा में ही होता है। माना कि प्रेम, क्रोध, भय आदि मन मे अन्धड़ की भाँति उठनेवाले उद्वेग हैं जब बुद्धि का टिमटिमाता दीपक बुझने को होता है। किन्तु इससे बढ कर भूल न होगी यदि हम इन्हें ही 'राग' मान लें और फिर 'रस' का मूल। सच तो यह है कि इन अन्धड़ रूपी उद्वेगों और इनसे जनित उत्तापों को दूर करने के लिये ही रसिक अनेक विधियों से इनमें रूप, व्यवस्था, दूरतापादन, अभिव्यक्ति आदि तत्त्वों का संचार करता है जिससे ये उद्वेग 'राग' में परिणत हो जाते हैं। ये तत्त्व बुद्धि और उसकी क्रियाओं से प्राप्त होते हैं। बुद्धि का सुकुमार प्रकाश ही उद्वेगों को ज्योतित करके आत्म-प्रसाद का कारण होता है, और फिर राग ही सम्पूर्ण रस नहीं है। यह सच है कि मिष्ठान्न में ईख का रस या गुड़ रहता है; परन्तु गुड़ का परिमार्जन, शोधन होता है, और, तब भी खोवा आदि न जाने क्या-क्या पदार्थ इसमें मिलाये जाते है। 'राग' को रसता का पद पाने के लिये कई रासायनिक क्रियाओं में से गुज़रना पड़ेगा। उस 'राग' में गम्भीरता, विभाव्यता, साकारता आदि का संचार होना आवश्यक है। उस राग में 'सत्य' का बड़ा अंश होना चाहिये और साथ ही माङ्गल्य का पुट। संक्षेप में, रस केवल राग नहीं होता और राग केवल सम्मोहक मनोवेग का नाम नहीं है। तब तो यह निष्कर्ष प्राप्त होता

है कि रसास्वादन में बुद्धि की क्रियाएँ बोधक तो हैं ही नहीं, इसके विपरीत वे इसकी अनिवार्य रूप से बाधक है। रस का आस्वादन सत्वगुण के ज्योतिर्मय उदय में होता है, न कि तमोगुण के गूढ़ान्धकार में। उस अवस्था में इच्छाओं के शान्त हो जाने से बुद्धि में स्वयं रस का संचार होता है। और रसवती बुद्धि रसालोचन के लिये समर्थ होती है।

दूसरी बाधा है कलाविद का आग्रह कि किसी कला के नियत शिल्प-विधानों (Technical rules) और कौशल की विधाओं (Techniques) को जाने बिना रसिक रस की समालोचना कर ही नहीं सकता। यह मतवाद पहले का विपरीत है। इसके अनुसार रसिक को कलाविद्, पण्डित तथा शास्त्रीय ज्ञान का पारगामी होना चाहिए। इस वाद में कई भ्रान्तियाँ हैं, जैसे—यह कौशल और शिल्प को रस का सर्वस्व मानता है। यह बुद्धि और शास्त्रीय दृष्टि को अत्यधिक महत्व देता है। रसिक की स्वाभाविक संवेदन-शीलता, रूप-ग्रहण करने की शक्ति, भाव-प्रवणता, रस और विरस में सहज विवेक की सामर्थ्य आदि का इस वाद में स्थान नहीं। संक्षेप में, यह रस-विवेचन के लिये प्रत्येक कला के 'व्याकरण'(Grammar) का ज्ञान अनिवार्य मानता है

प्रश्न यह है कि क्या रसिक 'गजल' या किसी 'राग' का शास्त्रीय स्वरूप बिना जाने उसका आनन्द नहीं ले सकता? नाटक, नृत्य, अभिनय के विविध रूपों को बिना समझे क्या इनमें प्रेक्षक को रसानुभूति नहीं होती? एकदम 'ना' उत्तर देना उचित नहीं प्रतीत होता। केवल शास्त्रीय ज्ञान या 'कौशल' से परिचय तो रसास्वादन के लिये पर्याप्त नहीं होगा और रसालोचन के लिये भी। शास्त्र का ज्ञान भी रसिक-चिन्तकों की रसानुभूति से ही मूलतः उत्पन्न होता है। उसी के विश्लेषण और व्यवस्था से 'कौशल' का पता लगाया जाता है। 'ज्ञान' का आधार भी रसानुभूति है, यदि नहीं तो ज्ञान निर्मूल होगा। शास्त्रकर्त्ता रसानुभूति का विवेचन करके विचार के मार्गों को प्रशस्त करता है, सरल सरणियों का निर्माण करता है और उन्हें बुद्धि के आलोक से आलोकित कर देता है। शास्त्रीय

ज्ञान का प्रयोजन उसके अध्येता को इन मार्गों और इस आलोक को प्रदान करना है जिसके साहाय्य से वह अपनी अनुभूतियों के प्रति और भी जागरूक हो जाये। वह ज्ञान स्वयं निष्प्रयोजन रहेगा यदि रसिक की स्वाभाविक रस-प्रवणता को वह नहीं चमकाता, उसकी रस-ग्रहण क्षमता को पुष्ट व स्पष्ट नहीं बनाता। अतएव हम कह सकते है कि शिल्प व कला का शास्त्रीय ज्ञान रसानुभूति मे उदय होने के कारण अपने मूल को विशद करेगा ही। फलतः वह ज्ञान रसिक और समालोचक दोनों को ही क्रमशः रसास्वादन और आलोचना के लिये उपादेय होना ही चाहिये। किन्तु अन्ततोगत्वा रस-ग्रहण की सहज क्षमता ही समीक्षा का दृढ आधार रहेगा।

हमारी तीसरी कठिनाई मौलिक है। क्या 'रस' नापा जा सकता है? रस और रसिक भिन्न नहीं। तब क्या रसिक का माप सम्भव है? रसास्वादन एक आत्म-लोक की घटना है। क्या हम इसको अन्य घटनाओं, प्रवृत्तियों और मनो-व्यापारों से 'पृथक' कर सकते हैं? यदि नहीं, तो माप भी सम्भव नहीं, और माप के बिना आलोचना बिल्कुल असम्भव! परन्तु माप के लिये आवश्यक है कि माप्य वस्तु में 'मान' (Dimensions) हों, और, उन मानों का मूल्याङ्कन करने के लिये मानदण्ड (standard) भी। क्या रस = रसिक = रसास्वादन में 'मान' हो सकते हैं? बिना मानों के माप किसकी, और बिना मान दण्डों के मानों का मोल कैसे आँका जाय? संक्षेप में, समीक्षा की सम्भावना तभी की जा सकती है जब रस में मान और मानदण्डों की प्रतिष्ठा हो सके।

हमने जिस दृष्टिकोण को यहाँ स्वीकार किया है उसके अनुसार रसिक की एक विशिष्ट परिणति का नाम 'रस' है, और, रस का अभिव्यक्त रूप रसास्वादन की घटना व क्रिया है। हम 'घटना' का निरूपण कुछ मानों द्वारा कर सकते हैं जो हम अभी करेंगे। किन्तु इस घटना का आधार जो चेतन 'रसो वै सः' आत्मा है, उसे 'मेय' नहीं बनाया जा सकता। वस्तुतः 'रस' में अवश्य ही कोई अमेय और अपरिभाषेय तत्त्व रहता

है, और वह तत्त्व रसिक की आत्म-सत्ता ही है। यह तत्त्व एक और अद्वितीय है अर्थात् सरल है जिसमें स्वगत, परगत आदि भेद नहीं हो सकते। जब यह अभिव्यक्त और अनुभूत होता है तब इसको रस-परिणति होती है। रस का अनभिव्यक्त आधार-तत्त्व मेय और ज्ञेय नहीं है, किन्तु इसका अभिव्यक्त, घटनात्मक रूप अवश्य ही 'मेय' होना चाहिए क्योंकि इसके बिना मीमांसा की ही सम्भावना नही हो सकती।

यहाँ एक और ज्ञातव्य बात है : रसानुभूति एक ओर सरल' होती है और दूसरी ओर 'विशिष्ट'। आप बुद्ध की एक मूर्ति में 'महाभिनिष्क्रमण, दूसरी मूर्ति में 'परिनिर्वाण' और तीसरी में 'अवलोकितेश्वर पद्मपाणि' की झाँकी लीजिये। तीनों परस्पर विशिष्ट अनुभूतियाँ हैं। एक में 'निर्वेद साकार हो उठा है तो दूसरी में 'शान्ति' की अभिव्यक्ति है, और तीसरी में साक्षात् 'करुणा' मूर्तिमती हो गई है। यदि हम इनके 'सामान्य' और 'व्यापक' तत्त्वों पर ही ध्यान दें, और देखें कि किस प्रकार शिला की कठोरता में कारुण्य की कोमलता का आविर्भाव हो गया है, 'रूप-हीन' मे सुरूप जग उठा है, इत्यादि, तो हम देखेंगे कि 'अनुभूति' के स्थान पर केवल 'विचारों' का जाल शेष रह गया है। यह प्रतीत होगा कि अनुभूति मे जो जीवन की ऊष्मा, गति व स्पन्दन रहते हैं, वे सामान्यीकरण के द्वारा विचारों की शीत जड़ता में ठिठुर गये। अनुभूति की विशिष्टता उसका जीवन-तत्त्व है। यह कला में और भी स्पष्ट होता है। यदि मूर्तिकला के अन्तर्गत ही तीन मूर्तियों के अनुभव इतने विशिष्ट हो सकते है तो कला की विभिन्न अभिव्यक्तियों मे अनुभूति की विशिष्टता और भी स्पष्ट होनी चाहिये। 'विशिष्ट' की माप सम्भव नहीं। तब प्रश्न यह है कि रसास्वादन को विशिष्ट अनुभूति मान कर इसकी मीमांसा कैसे हो ?

उत्तर स्पष्ट है, हम अनुभूति के सरल और विशिष्ट रूप की समीक्षा नहीं कर सकते। यह समीक्षा की सहज सीमा है। परन्तु यह सीमा रस-मीमांसा के क्षेत्र में अमेय व अज्ञेय रस-तत्त्व की ओर हमारे लिये स्वीकार्य संकेत है। फलतः हम रस के घटनात्मक रूप में 'सामान्य के

मानों की खोज करेंगे, और इस प्रकार सामान्य का निरूपण करके इसके गर्भ में स्थित 'अमेय व अज्ञेय', सरल व विशिष्ट, तत्त्व तक पहुँच कर रुक जायेंगे। हमारा यह मन्तव्य पुस्तक के प्रारम्भ मे प्रस्तुत किये गये दृष्टिकोण से संगति रखता है जहाँ हमने वर्णनात्मक रीति को स्वीकार किया है। हम सौन्दर्य का वर्णन करते करते 'अवर्णनीय' तक पहुँच जायँ; इसी प्रकार 'सामान्य' की मानों के द्वारा मीमांसा करते करते हम 'विशिष्ट' तक पहुँचना चाहते हैं जो मीमांसा का सीमान्त है।

(३)

रसास्वादन में दो प्रकार के मान हो सकते है एक, गुणात्मक (Qualitative), दूसरे, परिमाणात्मक (Quantitative)। 'गुण' और 'परिमाण' ये दो रूढ़िगत मान हैं। 'गुण' हम उस मान को कहेंगे जिसमें तारतम्य अथवा कम-अधिक का प्रश्न नहीं उठता। वह 'गुण' या तो है अथवा 'नहीं'। 'परिमाण' हम उसको मानेंगे जो कम या अधिक हो सकता है, जो कई तत्त्वों से मिलकर बना है अथवा जिसमें न्यूनाधिकता की सम्भावना की जा सकती है।

गुणात्मक मान दो हैं : अनुभूति की सत्यता और अपूर्वता।

'अनुभूति की सत्यता' से हमारा तात्पर्य उस गुण से है जो रसास्वादन में उस दशा में विद्यमान रहता है जब रसिक में वह घटना वस्तुतः घटित होती है। 'रसास्वादन' के घटित होने मे कई बाधाएँ हो सकती हैं, जैसे, रसिक में भाव-ग्रहण की अक्षमता, रुचि-विकास की कमी, विरोधी भावों की प्रबलता, पूर्वग्रह व पक्षग्रह के कारण मन में जड़ता का उदय, इत्यादि। ये सब 'अक्षमता' के ही विविध प्रकार हैं। स्मरण रहे कि इनके कारण हम रसास्वादन में असत्यता का आरोप नहीं कर सकते। हम इसे 'असत्य' तभी कहेंगे जब यह घटना भी न घटे और हम इसे मान लें कि घटित हुई, जैसे, बुद्ध की करुण मूर्ति को देखकर प्रेक्षक, कारणवश, बिना कारुण्य का अनुभव किये ही कहे कि उसे ऐसा अनुभव हुआ।

रस का यह आस्वादन अतथ्य होगा, और साथ ही 'वितथा' और 'व्यर्थ', क्योंकि वस्तुत: आस्वादन हुआ ही नहीं। रस की अव्यर्थ अनुभूति के लिये आवश्यक है कि वह 'सत्य' हो, और, अनुभूति तभी सत्य हो सकती है जब वह तथ्य के रूप में घटित हो। घटित होने के अतिरिक्त अनुभूति के लिये कोई अन्य प्रतिनिधापन सम्भव नहीं। वही स्वयं अपना 'प्रमाण' हो सकती है, और, न इसकी कोई 'छाया' या 'प्रतिरूप' ही इसके समान हो सकते हैं।

बहुधा 'शब्द' अनुभूति का प्रतिनिधापन करने लगते हैं: किसी संवेदनशील रसिक ने किसी काव्य, चित्र या मूर्ति में 'माधुर्य' का अनुभव किया। अनुभूति अपनी परिपक्व अवस्था में मुखर होती है और शब्दों को जन्म देती है। यह उचित मार्ग है, साधारण लोग शब्दों को ग्रहण कर उनके द्वारा उद्घाटित अर्थलोक में पहुँच जाते हैं। इस अवस्था में 'शब्द' प्रत्यक्ष होते हैं और अर्थ अप्रत्यक्ष छाया के रूप में। यह पहली परिस्थिति से निम्न स्थिति है, क्योंकि अनुभूति ही 'प्रत्यक्ष' हो सकती है, और, शब्द द्वारा वह 'परोक्ष' रहती है। इसी कारण वैदिक साहित्य के निरुक्तकारों ने माना है कि जब तक उपासक मंत्रों के उच्चार में प्रयुक्त शब्दों के माध्यम से अर्थों का साक्षात्कार नहीं करता, तब तक उपासना व्यर्थ होती है, केवल उच्चार मात्र! वैदिक निर्वचन की पद्धति के अनुसार शब्द ही देवता का कलेवर है। उपासक अपनी कल्पना की वर्चस्विता के बल से इसके द्वारा 'देवता' के आध्यात्मिक रूप का उन्मीलन करता है। यह 'देवता' वस्तुत: उपासक के आत्मालोक का साक्षात् 'अनुभव' है, मानो वह अपने ही अध्यात्म रूप की 'उपास्य' की संज्ञा में उपासना करता है। यही सच्ची उपासना है। ठीक, इसी प्रकार रसास्वादन की घटना तभी सत्य हो सकती है जब वह रसिक में 'साक्षात्' घटित हो, केवल शब्दों में उसका प्रतिरूपण न हो। अनुभूति से शब्द जगें तो कोई हानि नहीं; शब्दों के केवल संकेत से अर्थलोक का जहाँ उद्घाटन हो जैसा साहित्य में होता है, वहाँ भी उचित ही है। परन्तु वह जघन्य

स्थिति है और असत्य भी जहाँ अनुभूति ही घटित न हो, केवल शब्द ही रसिक में आत्म-प्रवंचना उत्पन्न करें।

यह कैसे सम्भव हो कि हम अनुभूति की सत्यता को जान सकें ? रसिक ही स्वयं अपनी अनुभूति के सत्यासत्य का साक्षी हो सकता है। इसके जानने के लिये रसिक स्वयं अन्तर्वीक्षण (Introspection) करे और देखे कि रसास्वादन के घटित होने में उसे किसी आधि-व्याधि या उपाधि का 'एहसास' तो नहीं हो रहा है। समाज व जीवन की परिवर्तनशील परिस्थितियों में व्यवहार की आवश्यकता के कारण मनुष्य अपने ही सहज, सरल रूप पर मानो व्यक्तित्व का 'नक़ाब' लगा लेता है, जाने या अनजाने मन में अनेक विकृतियाँ आ जाती हैं। इन्हीं को हमने सामूहिक रूप में आधि-व्याधि व उपाधि कहा है। इनके कारण अनुभूति भी जटिल व असत्य हो जाती है। मीमांसा के क्षेत्र में सरल, सत्य और सनातन एक ही तत्त्व के पर्यायवाची नाम हैं। सत्य अनुभूति सहज, निर्व्याज व आडम्बरहीन भी होती है।

'सत्य' की परख अन्विति या समन्वय भी है। अन्विति का अर्थ है 'अनेक' में 'ऐक्य' का अनुभव। रस का आस्वादन तभी सत्य होगा जब उसमें सन्निहित अनेक तत्त्व इस प्रकार विन्यस्त हों कि उनमें विमुखता प्रतीत न हो। विचार के क्षेत्र में भी 'सत्य' का अनुभव वहीं सम्भव होता है जहाँ हमारे निष्कर्ष प्रमाणित आधार की अपेक्षा रखते हों, अर्थात् विचार के विभिन्न अवयवों में अन्विति हो। रस के विषय में हमारा उद्देश्य किसी निर्णय पर पहुँचना नहीं होता, परन्तु रस की लब्धि ही हमारा मात्र मन्तव्य होता है। परन्तु परस्पर तत्त्वों का लगाव रस की लब्धि के लिये आवश्यक है। यही इसके सत्य होने का भी प्रमाण है।

रसानुभूति की 'अपूर्वता' दूसरा गुणात्मक मान है। 'सत्य' और 'अपूर्व' ये दोनों एक दूसरे से विपरीत प्रतीत हुए भी समान ही उद्गम से उदय होते हैं। 'अपूर्व' का आस्वादन भी हम अपने स्वार्थ से संकुचित, अपनी ही चिन्ता व व्यथा में उलझे हुए व्यक्तित्व द्वारा नहीं कर पाते।

इसके लिये आवश्यक है कि रसिक में सहज समवेदना जगे, और वह 'स्व' से भी अधिक 'पर' में रुचि ले। एक ओर उस आदमी को लीजिये जो 'अपनी' ही चिन्ता में घुल रहा है। उसमें समवेदना की कमी होगी, वह दूसरे के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी न हो सकेगा। जब तक वह स्वार्थ की घुटन में पड़ कर 'पर' में रुचि न लेगा, तब तक उसके अनुभव में नवता और अपूर्वता कहाँ? दूसरी ओर उस व्यक्ति को देखिये जो समवेदना से आप्लावित है। उसे 'दूसरे' के जीवन को समझने, उसके सुख-दुःख को अपनाने की अपार शक्ति होगी। पद-पद पर उसे आकर्षण मिलेगा, क्षण-क्षण में नवता का अनुभव होगा। ऐसा संवेदनशील पुरुष जीवन के संकोच से ऊँचा उठकर, इतिहास के निरवधिक काल में और विपुल पृथ्वी के विस्तार में विश्व की सम्पूर्ण विभूति को आत्मसात् कर सकेगा। वस्तुतः स्वार्थ का अंशतः त्याग 'आनन्द' की अनुभूति के लिये साधारणतः भी आवश्यक होता है और रसास्वादन के लिये तो यह सर्वतः और सर्वथा अनिवार्य है।

रसास्वादन के लिये स्वार्थ व संकोच के त्याग की अनिवार्य आवश्यकता इस क्रिया में मानसिक स्वास्थ्य व नैतिक उच्चता की ओर भी लक्ष्य करती है। परन्तु हमें यहाँ इनसे प्रयोजन नहीं। रसास्वादन में क्रिया 'स्व' केन्द्रित न होकर 'सौन्दर्य' केन्द्रित होती है। 'स्व' का लोप तो सम्भव नही, अतएव 'पर' को ग्रहण और आत्मसात् करने के लिये उसमें 'मग्न' होने के लिये तथा उसके गुण-वैभव का अवगाहन करने के लिये 'स्व' का सरल रूप उदय होना चाहिये। उसी रूप में से प्रेम, समवेदना, जगने से प्रत्येक पदार्थ, घटना, गुण आदि में रुचि व राग का प्रादुर्भाव होगा, और उसी दशा में "सर्वे नव इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः" का सफल अनुभव हो सकेगा जो अपने संकुचित 'स्व', दूसरे शब्दों में, अपने व्यवहारोन्मुखी व्यक्तित्व में उलझे हुए व्यक्ति के लिये कदापि सम्भव नहीं। फलतः आवश्यक है कि रसास्वादन के लिये प्रौढ़ प्रेक्षक में भी शैशव का उदय हो।

शिशु और शैशव क्या है? शिशु प्रौढ व्यक्तित्व का सरल ही नहीं

सनातन रूप भी है। हम यहाँ रवीन्द्र के शब्दों में (जो हमें एक उद्धरण मे प्राप्त हुआ है—छेले-भुलानो छडा) अपना मन्तव्य स्पष्ट कर सकते हैं। "भली-भाँति देखने पर लगता है कि शिशु के समान और कुछ भी पुरातन नहीं। देश, काल, शिक्षा, प्रथा के अनुसार वयस्क मानव में कितने नूतन परिवर्त्तन हुए हैं! किन्तु शिशु जैसा शत-सहस्र वर्ष पूर्व था वैसा ही वह आज है। वही अपरिवर्त्तनीय पुरातन बारम्बार मानव के घर में शिशु-मूर्त्ति का रूप धरकर जन्म लेता है। और सर्वप्रथम दिन शिशु जैसा नवीन, जैसा सुकुमार, जैसा भोला-भाला, जैसा मधुर था, वह आज भी ठीक वैसा ही है। इस नवीन चिरत्व का कारण यही है कि शिशु प्रकृति का सृजन है। पर वयस्क मानव बहुत कुछ अपनी ही रचना है।" मानना होगा कि रसास्वादन के लिये रसिक के व्यक्तित्व का आधारभूत, चिरन्तन, सत्य और सरल शैशव इसलिये आवश्यक है कि वह अपनी शिशु-दृष्टि से जगत् में 'नवीन' व 'अपूर्व' का अनुभव कर सके। फलतः रसिक-समीक्षक को जानना चाहिए कि वह अपनी सत्ता के किस 'तल' से अनुभव कर रहा है। यदि उसमें 'शैशव' के सरल, सत्य और सनातन रूप का प्रादुर्भाव नहीं हुआ तो निश्चय जानिये कि उसकी रसानुभूति में 'अपूर्वता' का अभाव होगा।

(४)

रस के 'परिमाण' को नापने के लिये कई मान हैं, जैसे, गाम्भीर्य (Depth), गति (Tempo), दीप्ति (Intensity), परिपाक (Maturity), विस्तार (Extent)। इनको हम मूल 'मान' मान सकते हैं, और, इनसे निसृत (derivative) कई अन्य 'मान' भी हैं जिनकी रस-मीमांसा में चर्चा होती है, जैसे माधुर्य (Sweetness), ओज (Energy) और प्रसाद (Felicity)। इन्हीं के समकक्ष या समानान्तर चित्त से सम्बन्ध रखने वाले तीन गुण माने जाते हैं, जैसे: द्रुति (Liquification), दीप्ति (Intensity) और विस्तार (Extension)। रस में वैविध्य या विचित्रता

(variety) भी उसका गुण है; किन्तु यदि हम इसे स्वतंत्र न मान कर 'विस्तार' से ही निसृत मानें तो कोई हानि नहीं। नीचे इन 'मानों' की संक्षेप मीमांसा है।

यहाँ विशेष रूप से यह स्मरण रखने योग्य है कि हम कई बार 'रस' की रस से अतिरिक्त व बाह्य मानों से भी माप करते हैं। सामाजिक, नैतिक, धार्मिक या उपयोगितात्मक आदि कई दृष्टिकोण हैं जिनका प्रयोग बहुधा किया जाता है। रसास्वादन के सामाजिक मूल्याङ्कन का अर्थ है कि यह क्रिया किस सीमा तक जन-जीवन से उदित होती है, किस सीमा तक उसे अभिव्यक्त और समृद्ध करती है, और कहाँ तक यह उसका 'यथार्थ' प्रतिबिम्बन है। हमें यहाँ यह मूल्याङ्कन स्वीकार नहीं, क्योंकि मुख्यतः यह कला-सृजन के प्रश्न से सम्बन्धित है। हमारा प्रश्न तो इतना ही है कि किस प्रकार और किस सीमा तक रसिक जन-जीवन पर आश्रित 'यथार्थ' को 'रसनीय' बना लेता है। 'रस' में जो तत्त्व मिश्रित होते हैं, उनमें सामाजिक जीवन, लोक-मंगल और 'यथार्थ' भी रहते हैं। किसी रसादन-विधि से ये रस में परिणत हो जाते हैं। किन्तु रस-विवेचना के लिये हम सामाजिक दृष्टिकोण को बाह्य ही मानते हैं। हमारे लिये सामाजिकता, इतिहास व इनकी समस्याएँ केवल रसीकरण के लिये सामग्री मात्र हैं।

इसी प्रकार नैतिक 'मान' भी रस को माप के लिये उपयुक्त नहीं। हम यह मानते हैं कि मनुष्य का नैतिक मङ्गल, कल्याण-भावना व आदर्श हमारे लिये आवश्यक है। सम्पूर्ण, विकसित व उदात्त 'मानवता' और कारुण्य, प्रेम, सहानुभूति, त्याग, अनुराग, मैत्री, सहयोग व साहचर्य आदि मानवता के उदार गुण भी हमें ग्राह्य हैं; किन्तु इसलिये नहीं कि वे हमारे 'आदर' के पात्र हैं, बल्कि इसलिये कि वे रसिक के आत्मा की सहज और भव्य अभिव्यक्तियाँ हैं, और, इसलिये इनके उन्मेष से रसिक की रसानुभूति और भी प्रखर, भोग-योग्य हो जाती है। मानवता, मानव-मंगल, कर्तव्य-निष्ठा, कल्याण-कामना, सौहार्द आदि ऐसे गुण हैं कि इनके प्रभाव

से रसिक को परम आत्म-लब्धि होती है। यही कारण है कि अभिनय, गीत या चित्र आदि में किसी वीर को उदात्त आदर्श के लिये जीवन-परित्याग करते देख कर रसिक 'द्रवित' हो उठता है। संक्षेप मे, नैतिकता व मानवता हमारे लिये रसनीय व रस-स्रोत होने के कारण सम्मान्य है, किन्तु नैतिक मापदण्डों से 'रस' की आलोचना बाह्य और अग्राह्य है।

इसी प्रकार धर्म भी रसता मे शून्य नहीं होता। कला के स्तर व प्रभाव की समृद्धि के लिये धर्म-भावना का हमारे लिये सम्मान है। किन्तु धार्मिक दृष्टिकोण से रस की आलोचना व्यर्थ है।

उपयोगिता (Utility) का दृष्टिकोण कला और शिल्प की विभाजक रेखा है। शिल्प में सौन्दर्य और उपयोगिता मिलते हैं। सौन्दर्य के साधारण विधान, जैसे अवयवों की सापेक्षता, उनका परस्पर सन्तुलन व समन्वय, उन पर रसमयी व्यञ्जनाओं को उत्पन्न करने वाले रंगों, रेखाओं, परि-कल्पनाओं का आलेखन इत्यादि ऐसे गुण है जो जीवन में समाविष्ट हो गये हैं। जिस प्रकार शिल्प में, जैसे लोहार, बढ़ई, रंगरेज़, छापे वाला, कुम्हार आदि के दैनिक निर्माणों में, कला व्याप्त हो गई है, उसी प्रकार कला में भी शिल्प का कौशल समाया हुआ है। कलाकार चाहे वह तूलिका, टाँकी, शब्द या अभिनय आदि का उपयोग करे बिना शिल्प-कौशल के रचना नहीं कर सकता। स्यात्, कलाकार और रसिक मे अन्तर ही शिल्प-कौशल का है, क्योंकि भावना के धरातल पर दोनों समान हैं। परन्तु प्रस्तुत निबन्ध में हम कौशल या उपयोगिता का विचार कलाकार के दृष्टिकोण से नहीं कर रहे है। शिल्प-कौशल व उपयोगिता भी स्वय कुछ सीमा तक रसिक की रसानुभूति में समाविष्ट रहते हैं। उपयोगिता के दृष्टिकोण से तो कला की उत्तम सृष्टियाँ भी व्यर्थ प्रतीत होंगी, जैसे रहने की दृष्टि से ताजमहल। और यह व्यर्थता की भावना रस को 'किरकिरा' किये बिना न रहेगी। अतएव रसिक के लिये उपयोगिता या शिल्प का दृष्टिकोण अपनाना घातक होगा।

निष्कर्ष यही है कि रसिक के रसास्वादन की मीमांसा के लिये 'रस' का ही अपना दृष्टिकोण, अपने ही बाट-तराजू, मान-नाल के दण्ड, होने चाहिये। निम्नांकित 'मानों' के निरूपण में कोई बाह्य दृष्टिकोण नहीं अपनाया गया है।

(५)

गाम्भीर्य—सुन्दर वस्तु का सौन्दर्य गुण जब संवेदनशील रसिक के समीप पहुँचता है तो 'प्रभाव' में परिणत हो जाता है। इस प्रभाव को ग्रहण करने की क्रिया का नाम 'रसास्वादन' है। "सतसैया के दोहरे घाव करे गम्भीर" की भाँति, यह 'प्रभाव' गम्भीर भी हो सकता है और इसका विपरीत भी, अर्थात् उथला व तल-स्पृक्। वैसे चित्त की भिन्न-भिन्न दशाओं में रसिक कभी 'गम्भीर घाव' को और कभी केवल तलस्पर्शी प्रभाव को पसन्द करता है; अतएव न सदैव गम्भीर और न सदैव उथलेपन को ही आनन्द का कारण माना जा सकता है। विविध कलाओं में भी गहराई के अलग अलग परिमाण हो सकते हैं। अपने उद्देश्य के अनुसार भी कलाओं में गाम्भीर्य विविध होता है। विशेषतः धार्मिक कला व साहित्य में, जैसे आदिम मनुष्य की नृत्य-उपासना में, पूजार्थ निर्मित मूर्त्ति व मन्दिरों में, या नासदीय सूक्त जैसे वैदिक सूक्तों में, रसिक को गम्भीरता का अनुभव होता है। विनोद के प्रयोजन को सिद्ध करनेवाली साधारण लोक-लीला, संगीत आदि में यह नहीं होता। इसका यह मतलब कदापि नहीं कि लोक-कला गम्भीर प्रभाव से शून्य होती है। कभी-कभी तो सरल शब्दों में मूर्त्तिव भाव, साधारण डंके की लय व सीधा-सादा संगीत गहरी 'चोट' करता है। मन्तव्य इतना ही है कि रस के आस्वादन में रसिक 'गाम्भीर्य' का अनुभव करता है जिससे 'सौन्दर्य' का प्रभाव और भी व्यापक व स्थायी हो जाता है।

रसास्वादन का गाम्भीर्य वस्तुतः रसिक की सत्ता का ही रूप है। प्रश्न यह है कि प्रभाव की गम्भीरता को रसिक के अस्तित्व के माध्यम से कैसे

जायें ? एक प्रकार तो यह हो सकता है कि हम रसास्वादन में वस्तु के इन्द्रिय-सम्पर्क को ऊपरी तल मानें, यद्यपि इन्द्रियों द्वारा संवेदनाओं (Sensations) का ग्रहण भी कुछ 'गम्भीर' अवश्य होगा। "इन्द्रियाणि पराण्याहुः।" परन्तु 'इन्द्रियों' के धरातल से भी गम्भीर मन का तल है। "इन्द्रियेभ्यः परं मनः"। इन्द्रियों की अपेक्षा 'मन' पर पड़नेवाला प्रभाव गहरा होगा। परन्तु मन के ऊपर पड़नेवाले प्रभाव में 'मोहकता' रहती है; बुद्धि इसको आलोकित कर देती है: "मनसस्तु परा बुद्धिः"। और बुद्धि से भी पर और गम्भीर प्रवाह वह है जो रसिक की सत्ता का मूल, जीवन व आशा का आलोकित केन्द्र है। "यो बुद्धेः परतस्तु सः"। बुद्धि से परे आत्म-सत्ता का साक्षात्कार रस में गम्भीरता का चरमान्त है।

उपनिषदों का इस सम्बन्ध में विश्लेषण और भी स्पष्ट है। उसके अनुसार हमारे अस्तित्व को पाँच 'कोशों' में बाँटा गया है, जिनमें सबसे ऊपरी कोश इन्द्रियों सहित शरीर है। यह 'अन्नमय' कोश है। प्राणों अथवा जीवन की क्रियाओं द्वारा 'प्राणमय' कोश बनता है। इससे गम्भीर अनेक प्रवृत्ति और संकल्पों से निर्मित 'मनोमय' कोश है। इसके नीचे 'विज्ञानमय' कोश है जहाँ बुद्धि की किरणें आलोक का प्रसार करती हैं। इन सबके तल में 'आनन्दमय' कोश है, जहाँ हमारी सत्ता का अनावृत रूप रहता है। सौन्दर्य के प्रभाव की गहराई हम इससे नाप सकते हैं कि वह हमारे अस्तित्व के किस स्तर तक पहुँच सका है। आत्म-सत्ता के ऊपरी कोशों का अनावरण 'आनन्द' की ओर गति है। इसलिये ज्यों-ज्यों प्रभाव गहरा होता जाता है, उसमें आनन्द की मात्रा भी अधिक होती जाती है।

पाठक उपनिषद् के रहस्य से घबरावें नहीं, क्योंकि इस विषय में आधुनिक मनोविज्ञान भी मन की गहराई (*Depth Psychology*) को स्वीकार करता है। इसके अनुसार (विशेषतः यूंग) रस का आस्वादन साधारण व चेतन (Normal and Conscious) मन से नहीं होता। इसके लिये रसिक अपने व्यक्तित्व (Personality=Persona=नक़ली मुख या नक़ाब) को उतार कर अचेतन मन की अतल गहराई (Unconscious

and Primordial) में जाता है। चाहे हम उपनिषद् या मनोविज्ञान के मत को स्वीकार करें, इतना स्पष्ट है कि रसास्वादन में रसिक की सत्ता में ही गम्भीरता का उदय होता है।

'गाम्भीर्य' का अर्थ है कि रसिक रसास्वादन के लिये अपनी सत्ता की गहराई में उतरता है। वह बहुत गहरा भी जा सकता है और कम भी, किन्तु रसानुभूति ही क्या, कोई भी अनुभूति केवल 'बाह्य' नहीं हो सकती। इसी को चिन्तकों ने आध्यात्मिकता या आभ्यन्तर्य (Inwardness) कहा है। यह आभ्यन्तर्य 'स्वच्छन्दता' की अनुभूति का मूल है। इसीसे रसिक को 'चित्त-द्रुति' का अनुभव होता है। जितनी यह 'द्रुति' या 'द्रवता' बढ़ती है, उतना ही आनन्द का अतिरेक होता है। यदि इस 'द्रुति' में किसी गम्भीर कामना का भी संयोग हो जाता है तो 'माधुर्य' का प्रादुर्भाव होता है। यह गम्भीरता ही 'काम' को शरीर के स्तर से हटाकर मन, बुद्धि, चित्त, अहंभाव, यहाँ तक कि जीवन के गम्भीरतम तल में पहुँचा कर उसे शृङ्गार के 'माधुर्य' में बदल देती है। तुलसी ने सीता और राम के प्रेम को 'रहस्य' प्रदान कर 'मधुर' बनाया है। 'तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा-जानत प्रिया एक मन मोरा'। भवभूति ने इस कौशल में अद्वितीय सफलता पाई है। राम मानो 'काम' को जीवन की शैशव-स्मृति में ले जाते हैं। उत्तररामचरित के पूर्व भाग में (सीता वनवास की आज्ञा से पूर्व) सम्भोग-शृङ्गार का माधुर्य अनूठा है। राम कहते हैं, मानो सीता को अतीत का स्मरण करा रहे हैं: वे हमारे दिन बीत गये (ते हि नो दिवसा गता), जब 'अविरलितकपोल' और 'जल्पतोरक्रमेण' हमारी सारी रात्रि यूँही बीत जाया करती थी—'अविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत्'। निश्चय है कि इस क्षण में 'माधुर्य' का मूल कारण शरीर के स्थूल धरातल से नीचे स्मृति, बुद्धि व आत्मा के गम्भीर तलों में कामना-के-सर्वस्व 'काम' का उपभोग है। इसी कृति के उत्तर-भाग में कवि ने 'काम' को करुणा के गहरे पुटों में लपेट दिया है कि वहाँ 'विप्रलम्भ' मधुर ही नहीं मर्मवेधी भी बन गया है। एक ओर "आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा"

में कर्त्तव्य की नैतिक भावना है, दूसरी ओर एक पत्नीव्रती का अनन्य व अगाध प्रेम है। दोनों के बीच में राम का हृदय 'पुट-पाक प्रतीकाश' पक रहा है। आत्मा की गहराई में जब यह प्रभाव पहुँचता है तो मार्मिक माधुर्य का अनुभव जगता है जो शरीर के तल पर कदापि सम्भव नहीं। रामायण का सारा रहस्य क्रौञ्च-वध के कथानक में छिपा पड़ा है, क्योंकि 'वेदना' के प्रहार बिना रसानुभूति 'गम्भीर' नहीं होती, और बिना गम्भीरता के वह मार्मिक व मधुर नहीं हो सकती।

(६)

गति—गति और स्थिति, ये दोनों 'काल' और 'स्थान' से उत्पन्न होते हैं। विभिन्न कलाओं में इनके न्यूनाधिक विमिश्रण से 'गति' और 'स्थिति' का अनुभव होता है, जैसे, संगीत में गति का और स्थापत्य मे स्थिति का। हमारा तात्पर्य यहाँ इस 'गति' से नही है, वरन् उस 'गति' से है जो रसिक की रसानुभूति में, उसकी रसास्वादन क्रिया में समाविष्ट रहती है। चाहे वह स्थिर मूर्त्ति या भवन को देखे या संगीत अथवा अभिनय को, रसास्वादन के लिये 'गति' आवश्यक है। यह 'गति' रस का मान है, और साथ ही, रस के कई गुणों का आधार।

'गति' के कई रूप हो सकते हैं, जैसे संगति, प्रगति। जब रस मे समाविष्ट कई प्रभाव मिलकर किसी एक ही केन्द्र की ओर चलते हैं, मानो उनका एक ही प्रयोजन है, तब 'संगति' का उदय होता है। संगीत मे विभिन्न स्वरों का प्रभाव, चित्र में रेखा व वर्ण के प्रभाव, जब इस प्रकार की अनुभूति उत्पन्न करते है मानो वे किसी समान ही प्रेरणा से उठे है, समान ही प्रयोजन की ओर चल रहे हैं, समान ही उनका आकर्षण-केन्द्र है, तब रसिक के अनुभव में 'संगति' का लाभ होता है। रसिक इस 'संगति' को बुद्धि व मन की क्रियाओं से ग्रहण करता हुआ स्वयं सक्रिय हो जाता है। उसके जीवन की गति में संगति का प्रादुर्भाव होता है। यह गति जीवन के केवल एक ही स्तर पर नहीं होती, वरन् कई स्तरों

पर और नवीन अन्तरालों में होती है, जिसमें रसिक को नवीन अन्तः प्रसाद का लाभ होता है। इसी का नाम 'प्रगति' है। जब यह प्रगति 'बल' के साथ होती है तो 'स्फूर्ति' का अनुभव जगता है। इस प्रकार रसास्वादन में गति के संचार से कई गुण पैदा हो जाते हैं।

इतना ही नहीं, कला चाहे 'चल' हो या 'अचल', रसिक में गति का सचार होता ही है। 'चल' कला जैसे संगीत, में सौन्दर्य को ग्रहण करने के लिये रसिक के अन्तर में, शरीर और मन के सभी तलों में, जो स्पन्दन या आन्दोलन प्रारम्भ होता है, उसका 'अचल' हो जाना आवश्यक है। रसिक को स्वयं 'अविचल' होने में जो प्रयत्न करना पड़ता है उसमें भी 'ओज' का आविर्भाव होता है। रसिक कभी तो आन्तरिक आन्दोलन मे स्वयं 'दोलायित' होता है, वह स्वर की तरङ्गों में 'तरङ्गायमान' होता है। इसी का नाम शास्त्र-दृष्टि से 'लावण्य' की अनुभूति है। और, जब मानो रसिक आत्मनिरोध की क्रिया से सब तरङ्गों को मन में समेट लेता है तब उसमें 'कान्ति' या 'कमनीयता' का आविर्भाव होता है। 'अचल' कला जैसे भवन, मूर्त्ति या चित्र को लीजिये; इसमें रसिक को कई प्रकार की 'गतियों' का अनुभव होता है, जैसे रसिक की दृष्टि भवन के सौन्दर्य को ग्रहण करने के लिये अवयवी या सम्पूर्ण की ओर चलती है। 'सम्पूर्ण' का ग्रहण आत्म-मग्न हुए विना सम्भव नहीं। फिर वह 'अवयवों' को देखता है, और उनमें भी 'पूर्णता' का भान होता है। इस प्रकार 'अवयव' से 'अवयवी' और फिर वापस, यह दृष्टि की ही नहीं द्रष्टा की 'गति' होती है। इसे हम 'आलोडन-विलोडन' कह सकते हैं। मूर्त्ति के देखने मे भी दृष्टि कभी भावों में प्रवेश करती है, कभी उसमें उभार, बंक, मुद्रा, भंगिमा, अवयवों का निरूपण, आँख, चिबुक, अधर आदि के द्वारा भाव-प्रकाशन आदि को निरखती है। इसे हम 'अवगाहन' की क्रिया कह सकते हैं। मूर्ति की छवि या छटा का आविर्भाव इसी क्रिया से होता है किस मूर्त्ति में कितनी 'छवि' है, इसका अनुमान इससे हो सकता है कि वह प्रेक्षक को 'अवगाहन' के लिये कितना अवसर व अवकाश प्रदान

करती है। प्राय: सभी कलाओं में एक केन्द्र होता है जहाँ जाकर दृष्टि को 'विराम' मिलता है। दृष्टि या मन सब ओर चलता है, मानो दश दिशाओं में मन का रथ चंक्रमण करता है, किन्तु फिर फिर कर वह उसी विराम-केन्द्र (Punctum Balance) की ओर लौटता है। राग मे यह केन्द्र 'वादी' स्वर हो सकता है, चित्र में प्रधान आकृति, काव्य में नायिका या नायक का चरित्र, भवन में कोई केन्द्रीय बिन्दु जैसे गुम्बद का शीर्षभाग। किन्तु दृष्टि या मन की यह 'अभिसारी' या 'अपसारी' गति होती है। इसे हम चाहें तो 'आकर्षण-विकर्षण' भी कह सकते हैं। इसी प्रकार एक और गति भी मन में उत्पन्न होती है; यह कभी 'बाह्य' की ओर संवेदना, रूप और विन्यास को ग्रहण करने के लिये दौड़ता है, और फिर क्षण मे उस 'प्रभाव' को मानो आत्मसात् करने के लिये वह अन्तर्मुखी होता है। इस प्रकार क्षण क्षण में एक ओर 'रूप' का उन्मीलन-निमीलन होता है, और दूसरी ओर मन बारम्बार, शास्त्रीय भाषा में, 'पौन:पुन्येन' (Re-iterative) 'उन्मज्जन-निमज्जन' करता है।

दीप्ति—'गति' के द्रुत होने से 'रस' में 'चमक' खड़ी हो जाती है। इसी का नाम दीपन या दीप्ति है। कुशल कलाकार शनै: शनै: गति को बढ़ाता है। प्रारम्भ में यह गति कोमल, हंस-गति सी 'सुकुमार' होती है, उसमें भोलापन, मृदुलता, कोमलता आदि का भान होता है। इसी को हम 'सौकुमार्य' का बोध कह सकते हैं। जहाँ कलाकार का प्रयोजन 'दीप्ति' उत्पन्न करना नहीं होता, वहाँ 'गति' भी, आदि से अन्त तक, सुकुमार बनी रहती है। दीप्ति भी मधु के प्रदीप के समान मधुर व मृदुल होती है। विनय या प्रार्थना साहित्य में, बाल-साहित्य में, शृङ्गार, प्रेम, आत्म-निवेदन के चित्रण में, 'सौकुमार्य' या 'मार्दव' का अनुभव रहता है। प्रकृति में भी सुकुमार सौन्दर्य प्रचुर रूप से रहता है। परन्तु किसी समय मन 'सुकुमार' भावों में नहीं टिकना चाहता। वह 'प्रचण्ड' का अनुभव भी चाहता हैं। उस समय भयानक, रौद्र, संघर्षात्मक, असाधारण, विकट, अति-विशाल, अति-तीक्ष्ण अथवा वेदना को प्रखर बनाने वाली

'घटना' को लाया जाता है। अनुभूति में उद्दीपन या 'ज्वाला' का तेज उत्पन्न करने के लिये कला में आरम्भ के कुछ ही अनन्तर 'संकट' (Crisis) और 'चरमान्त' या 'चूड़ा' (Climax) को लाया जाता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी कवि प्रार्थना और विनय में भी 'आत्मोद्‌गार' भर कर अनुभव को दीप्त करता है। जैसे, वैदिक साहित्य में 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के रूप में विनय 'सुकुमार' भी हो सकती है, और, उद्‌गार या सम्बोधन के रूप में प्रचण्ड भी, जैसे, "उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत"। अहंकार, स्वाभिमान, गर्व, वीर-भावना आदि के उद्रेक से भी रसोद्दीपन किया जाता है : "खुदी को कर बुलन्द इतनी कि हर तक़दीर से पहले, खुदा बन्दे से खुद पूँछे 'बता तेरी रज़ा क्या' है"। उपनिषद् के साहित्य में, गीता के विराट्-दर्शन में, यजुर्वेद के याज्ञिक उच्चारों मे, जहाँ उपासक कहता है कि शशि और सूर्य मेरे ही नेत्र हैं; वायु मेरा प्राण है,' इत्यादि, जहाँ ये आत्मा के उद्‌गार हैं, वहाँ रस की भी प्रचण्ड दीप्ति जगती है।

विस्तार---रसानुभूति में विस्तार' के तीन मार्ग हो सकते हैं। प्रथम, जीवन और मन के विभिन्न 'स्तरों' पर आस्वादन क्रिया का स्फुरण, न कि केवल एक ही स्तर पर। विस्तार का यह रूप रस मे 'विविधता' या 'नाना' का आधार होता है। विज्ञान में केवल बुद्धि के स्तर पर एक ही प्रकार की गति होती है---अर्थात् विचार क्रिया या तो 'तथ्यों' के सहारे किसी 'सामान्य' सिद्धान्त की खोज निकालती है, या किसी 'सामान्य' सिद्धान्त के द्वारा किसी तथ्य का रूप-निरूपण करती है। इसी प्रकार रसहीन क्रिया में केवल एक ही स्तर पर, चाहे वह दर्शन, भावना, विचार आदि का हो, मन लगा रहता है। 'विस्तार' का अर्थ है कि वह गति पुनः पुनः बदलती हुई भिन्न स्तरों पर होती रहे, और रसिक को वैविध्य का अनुभव हो।

'विस्तार' का दूसरा मार्ग है---'स्थान' का शुद्ध अनुभव। 'स्थान' मे दो गुण होते है, स्थैर्य और दिशाओं में विस्तार। चलकलाओं मे भी

विस्तार का अनुभव 'विन्यास' के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। अचल कलाओं में, विशेषतः भवन के अनुभव में, 'विस्तार' का महत्त्व नगण्य नहीं होता। चित्रकला में रेखा और रंगों के साहाय्य से दूरी, प्रसार, ऊँची-नीची भूमि, तट, प्रवाह आदि के द्वारा चित्त-विस्तार की क्रिया सम्पन्न की जाती है। साहित्य में भी वर्णन करते समय, देश व स्थान की दूरी, काल में भी पुरातन और वैल्स आदि कथाकारों के अनुसार दूर 'भविष्य' आदि का दृश्य-चित्रण इसी प्रभाव के लिये किया जाता है। जिस सीमा तक हमारे अनुभव में 'विस्तार' व 'स्थान' समाविष्ट रहते हैं, उससे भी आगे तक रसानुभूति में इनका प्रभाव रहता है।

विस्तार का सर्वोत्तम रूप है कल्पना के लिये पर्याप्त अवकाश। रसिक के अनुभव में 'कल्पना' वह सक्रिय तत्त्व है जिसके द्वारा वह 'नूतन' अनभिव्यक्त, अप्रस्तुत को ग्रहण करता है। कला में या प्रकृति में सुन्दर 'वस्तु' का स्थूल रूप तो काल और स्थान से सीमित होगा ही। रस की अनुभूति इस सीमा में नहीं बाँधी जा सकती। 'कल्पना' इस सीमा को पार कर, संकेतों और इंगितों के पंख लगा कर, असीम, अज्ञात और अप्रस्तुत लोकों में उड़ना चाहती है। यदि कल्पना के लिये अछोर अन्तराल मिलता है, और क्षण-क्षण में, पद-पद पर, नूतन आलोक का स्फोट, तो वह प्रसन्न होती है। कल्पना के लिये प्राप्य इसी अवकाश को हम 'विस्तार' कह सकते हैं। संगीत, चित्र, मूर्त्ति और भवन आदि में अद्भुत संकेतों का सृजन कला का बड़ा गौरव माना जाता है, और, यह इसलिये कि कल्पना का विस्तरण सम्भव हो जाय। साहित्य मे इस 'कला' का उत्कृष्ट रूप झलकता है। कल्पना के न केवल पोषण के लिये, न केवल उसे प्रदीप्त, ज्वलिताभ, परिष्कृत बनाने के लिये, बल्कि उसे विशेष बल व अवकाश प्रदान करने के लिये 'अलंकार' का आविष्कार हुआ है। हमें इस स्थल पर अलंकार का विश्लेषण अभीष्ट नहीं। परन्तु यह कहना आवश्यक है कि कुछ अलंकार तो विशेषतः रसानुभूति मे 'विस्तार' को उत्पन्न करने के लिये ही सृजित हुए हैं, जैसे, भव-सिन्धु, हृदयाकाश,

आदि। इनमें कुछ तो बहुत ही मार्मिक हो उठे हैं, जैसे, "बह्रे-फ़ना", "मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्", "अदर्शनादापतितः", "अव्यक्तादीनि भूतानि" इत्यादि। मानना होगा कि 'विस्तार' रसानुभूति का आवश्यक 'मान' है।

(८)

रस-परिपाक—रसानुभूति में 'परिपाक' से हमारा अभिप्राय उस गुण से है जो रसिक के दृष्टिकोण, उसके जीवन और व्यवहार को प्रभावित करने की सामर्थ्य रखता है। अर्द्धपक्व या अपक्व रस में प्रभावित करने की यह सामर्थ्य नहीं हो सकती। रसानुभूति का तत्काल-फल आनन्द या विनोद की प्राप्ति हो सकता है, किन्तु जब तक इसका स्थायी, व्यापक और गम्भीर प्रभाव न हो, इसे समर्थ या पक्व मानना कठिन होगा। यदि ऐसा न होता तो साहित्य, कला आदि के द्वारा व्यक्तिगत जीवन ही नहीं, राष्ट्र और जीवन पर इनका प्रभाव न होता। परन्तु यह मानना होगा कि समर्थ साहित्य व कला युग-युग तक सामूहिक जीवन को प्रभावित करते हैं, न केवल 'प्रभावित', बल्कि इनके द्वारा राष्ट्र और जाति का निर्माण, महान् सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक क्रान्तियाँ भी होती आई हैं। मूर्त्ति व मन्दिरों का दर्शन करने जनसमूह तीर्थ-यात्राओं के लिये निकलते हैं; सूर, तुलसी व मीरा के पदों से न जाने कितने लोगों ने जीवन को सुधारा होगा। कबीर की साखी लोगों की जिह्वा पर अनन्त काल तक रहेंगी। उपनिषद् के उच्च स्वरों से जो शान्ति झरती है, उससे न केवल जर्मन दार्शनिक शोपेनहॉवर को जीवन व मृत्यु में शान्ति मिली, प्रत्युत उन स्वरों का संगीत जब तक संसार है तब तक चलेगा। संक्षेप में, हमें मानना होगा कि रसानुभूति में 'परिपाक' नामक मान विद्यमान रहता है जो वस्तुतः व्यष्टि और समष्टि जीवन में क्रान्ति, उथल-पुथल, निर्माण करने के लिये तथा उसे संस्कृत, पुष्ट, स्थिर, शान्त बनाने के लिये समर्थ व प्रभावशाली होता है।

यह परिपाक जीवन से उत्पन्न होता है। "जीवन में परिपाक से क्या

तात्पर्य है ? शिशु की अनुभूति इसलिये अपरिपक्व कहलाती है कि उसमें क्षणिक आकर्षणों के कारण एकसूत्रता, स्थायित्व, समन्वय और सम्वाद आदि गुणों का अभाव रहता है। तरुण जीवन में भी अपेक्षाकृत परिपाक होने पर भी क्षणिक प्रवृत्तियों का प्राबल्य रहता ही है तथा जीवन के गम्भीर और विस्तृत अन्तराल में पलने वाले सनातन आदर्शों, आत्मा और बुद्धि के प्रकाश से भासमान चिर-सत्यों का अनुभव कम होता है। जीवन की परिपक्व अवस्था में उस अनुभूति के जगत् का उदय होता है जहाँ हमारे व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन के आधारभूत सिद्धान्त, राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक व्यवस्थाओं का पूर्ण रूप, अतीत की परम्पराओं और अनागत के आकर्षक चित्रों का सामंजस्य, जीवन की विविधता के बीच अपूर्व सम्वाद, स्थिरता के साथ गति का, गाम्भीर्य के साथ विस्तार का, शक्ति के साथ शम का, सुख के साथ दुःख का, पुण्य के साथ पाप का तथा आदर्श के साथ यथार्थ का सम्मिश्रण स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। संक्षेप में, विविध और विरोधी तत्त्वों का समन्वय परिपाक का परिचायक है, क्योंकि जीवन किसी तत्त्व को अस्वीकार नहीं कर सकता।"

उपर्युक्त से यह स्पष्ट होगा कि रस के परिपाक में अनेक, विविध और विरोधी तत्त्वों का विमिश्रण हो, और विमिश्रण (Fusion) भी जैसा जीवन स्वयं अनेक तत्त्वों का विमिश्रण है। रस का विस्तार व गाम्भीर्य, उसकी विविधता व वैचित्र्य, उसका मूलोद्गम और दिशा, ठीक वही हैं जो जीवन के व्यष्टि और समष्टि रूप में हैं। जीवन अपनी पचाने की शक्ति से इन तत्त्वों को 'एक' रस में जो जीवन-रस है, परिणत कर लेता है। यही कला में 'रस' की भी दशा होती है। हमारी रसानुभूति में नैतिक, धार्मिक, यथार्थ जीवन के अनेक तत्त्व रहते हैं, किन्तु उनका विमिश्रण इस प्रकार होता है कि वे मिलकर 'जीवन-रस' की नाईं 'एक' हो जाते हैं। कोई भी तत्त्व प्रबल होकर यदि दूसरों को दबा बैठे, या वे अलग-अलग दिखाई पड़े तो निश्चय जानिये कि 'परिपाक' की कमी है, यहाँ तक कि केवल धर्मोपदेश, नीति का उपदेश, या इसके विपरीत, पाप की शक्ति का

उद्‌घाटन (Glorification of sin), घृणा का उत्तेजन आदि जैसा कि कई प्रकार के साहित्यों में मिलता है, ये सब रस के अपूर्ण पक्व होने के चिह्न हैं। जीवन इतना विपुल व विस्तृत है कि इसमें सब कुछ स्थान पा सकता है, किसी के लिये इंकार नहीं। परन्तु यह आवश्यक है कि वे पक कर 'एक' हो जायँ। महाभारत में रसिक को परिपक्व रसपान का सर्वोत्कृष्ट अवसर मिलता है जिसमें व्यास की प्रतिज्ञा है: "यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तद् क्वचित्"। वस्तुतः यह मंत्र रस-परिपाक के लिये सर्वोत्तम मानना चाहिये। इस महाकाव्य में क्या नहीं? पुण्य-पाप, सुख-दुःख, आनन्द-विलाप, अनुराग-विराग, सौकुमार्य-प्रचण्डता, युद्ध की भयंकरता और विलास की कोमलता। किन्तु ये सब तत्त्व पक कर 'शान्ति' में एकीभूत हो गये हैं। यह शान्ति श्मशान की क्षणिक शान्ति नहीं है; प्रत्युत जीवन को मोड़ देने वाली, उसे ऊँचे स्तर पर उठाकर पुष्ट व संस्कृत बनाने वाली, वह परम शान्ति है जो आज भी भारतीय जीवन में रस और आलोक का संचार करती है।

(९)

हमने रस के विविध 'मानों' का विवेचन किया। किन्तु रस को 'विरस' बनाने वाली विकृतियों के बिना विवेचन अपूर्ण रहेगा। किन्तु, साथ ही, रस-विकृतियों की गणना कैसे हो? 'सच एक, झूठ अनेक।' अतएव प्रत्येक का संख्यान व व्याख्या न करके केवल सामान्य दोषों का ही निरूपण सम्भव है। रस में परिपाक की कमी सब से बड़ी कमी है। सुन्दर वस्तु में कई दोष और अभाव हो सकते हैं जिससे रस का परिपाक रसिक में नहीं हो पाता। परन्तु हमारा यहाँ तात्पर्य उनसे नहीं है। रसिक में ही जिन विकारों या दोषों से रस-परिपाक विफल होता है, केवल उन्हीं का निरूपण यहाँ अभीष्ट है। अतएव रसिक के जीवन में यदि एकांगिता है, उसका दृष्टिकोण संकुचित, जड़ व विकृत है; यदि उसे जीवन व जगत् के विस्तार, गाम्भीर्य, वैचित्र्य आदि का स्वयं अनुभव

नहीं है; यदि किसी विशेष मतवाद, सैद्धान्तिकता, पक्ष, पूर्वग्रह आदि में वह उलझ गया है, तो निश्चय मानिये कि ऐसा रसिक रसास्वादन के लिये असमर्थ यदि नहीं हुआ तो आश्चर्य होगा। रसास्वादन रसिक की जड़, स्तब्ध, 'अन्ध-बधिर' अवस्था में सम्भव नहीं। इसके लिये चाहिये जीवन व जगत् के प्रति विशाल, उदार, संवेदनशील, सहानुभूतिपूर्ण, लोचयुक्त दृष्टिकोण, आत्मगौरव, हृदय की सदाशयता, मन की महोच्चता, बुद्धि की प्रखर आभा, और चाहिये अहंकार का संयमन। इस प्रकार रसिक को रसास्वादन में परिपाक के लिये ही उदात्त संस्कार अपेक्षित हैं। अतएव कला संस्कृति का सर्वोत्तम साधन मानी जाती है।

रस के विकारों में एकरसता (*Monotony*) जघन्य है। रसिक के स्वयं मानसिक दोषों व ग्रन्थियों के कारण जब उसके जीवन में 'एकरसता' अरुचि, विषाद, निर्वेद आदि आ जाते हैं तो वह रसानुभूति को भी विकृत बना लेता है। एकांगिता अपक्वता की भाँति एकरसता का जन्म जीवन को जड़ व जटिल बनाने वाली प्रवृत्तियों से ही होता है। सम्वाद, सन्तुलन, सापेक्षता आदि की कमी भी मन की अस्वस्थ दशा से उत्पन्न होती है। रस की विरोधी प्रवृत्तियाँ जड़ता और जटिलता सामान्य रूप से मानी गई हैं। इनके अतिरिक्त रुचि में परिष्कार की कमी, उत्तम संस्कारों का अभाव, उपयुक्त वातावरण का न होना, आदि भी रस को अश्लील, ग्राम्य आदि प्रवृत्तियों से 'विरस' बना देती हैं। संक्षेप में, रसिक को उत्तम रसानुभूति के लिये मन, शरीर, इन्द्रिय व आत्मा का पूर्ण स्वास्थ्य, इनका समाञ्जस्य युक्त विकास, रुचि-परिष्कार आदि आवश्यक हैं। इसीलिये तो कला का महत्त्व जीवन व जगत् के लिये है।

९

निष्कर्ष

इस लम्बी यात्रा का ठिकाना क्या है ? और क्या विचारों की यात्रा में कोई ठिकाना हो भी सकता है ? वस्तुतः विचार-क्रिया विचारक के अन्तरा-लोक की एक क्षुद्र लहर है, एक प्रकाश-कण है। लहर समुद्र की वेला या तल को नहीं नाप सकती। अतएव एक क्षुद्र विचार द्वारा निर्णय या निष्कर्ष पर पहुँच जाना धृष्टता होगी। हाँ, तर्क की गति में 'आदि' और "इति" हो सकता है, किन्तु 'तर्कोऽप्रतिष्ठः'। अतएव इस स्थल पर यदि हम प्रस्तुत विचार का मथितार्थ रख सकें, इसके अवयवों को स्पष्ट कर सकें तो हमें सन्तोष होगा।

हमारी समस्या सौन्दर्य की समस्या है। सौन्दर्य जीवन के लिये उपयोगी ही नहीं, आवश्यक है। ऊपर से देखने में जीवन एक जटिल क्रिया-कलाप प्रतीत होता है। जीवन निरन्तर, अनिमिष क्रिया है भी। लेना-देना, कहना-सुनना, आना-जाना आदि ये व्यवहार के कुछ रूप हैं। इस व्यवहार की सिद्धि के लिये इन्द्रिय, मन आदि की ज्ञानात्मक चेष्टाएँ चलती रहती हैं। प्रेम, द्वेष आदि भावों की सहज-शक्ति ज्ञान व व्यवहार को आगे ढकेलती है। कभी लाभ का हर्ष तो कभी हानि का विषाद, कभी विजय, कभी पराजय, इसी प्रकार भय, उत्कण्ठा, आशा, नैराश्य, ममता, मोह, लोभ और लालच, इत्यादि ऐसे भाव हैं जिनके द्वारा जीवन में 'गति', निरन्तर और अविराम चेष्टा तथा चिन्ताओं में तम व तेज का संचार, उत्थान व पतन चलते रहते हैं। जीवन की आवश्यकता ही ऐसी है कि इसे उत्ताप और उत्तेजना चाहिये। किन्तु सृष्टा की कृपा तो देखिये कि

उसने हमारी प्रत्यक्ष-क्रिया में भी रंग, रूप, विस्तार, उच्छ्राय, गोलाई, बंक, ध्वनि, आरोह-अवरोह, प्रवाह, गति आदि की निधि दे दी है कि ज्ञान व व्यवहार से जनित उत्तेजनाओं के बीच-बीच में हम आनन्द का अनुभव कर सकें। उसने हमें इन पदार्थों के प्रभाव को ग्रहण करने की सहज शक्ति भी दी है, क्योंकि मन आकाश की नीलिमा, नक्षत्रों की जगमगाहट, श्याम वनों में नव-पलाश की मर्मर ध्वनि, नद और समुद्रों पर आस्तृत बालातप आदि अनगिनत रूपों में स्वतः ही रम जाना चाहता है। अभागा है वह व्यक्ति जो नहीं रम जाता, क्योंकि इस रमण से ज्ञान व व्यवहार से जनित श्रम, क्लम व उत्ताप दूर होते हैं। प्रेक्षक को 'रस' का लाभ होता है जिससे वह प्राणन के लिये शक्ति पाता है। ऋषि का यह उद्गार कि यहाँ जीवन असम्भव हो जाता यदि यह आकाश 'आनन्द' न होता, वस्तुतः सौन्दर्य और इससे जनित रस की नितान्त आवश्यकता को ही जीवन के लिये सिद्ध करता है।

ज्ञान व व्यवहार की भाँति ही रस की जीवन के लिये नितान्त आवश्यकता है। किन्तु रस की आवश्यकता, 'आवश्यकता-रहित' होने की आवश्यकता है। विरोधाभास होते हुए भी यह परम सत्य है कि आवश्यकता जीवन में ज्ञान व व्यवहार का स्रोत होने के कारण आवश्यक है, किन्तु साथ ही उत्तेजना व उत्ताप की जननी भी है। यह जीवन को जीर्ण-शीर्ण बनाती है। जीवन और शरीर के जीर्णोद्धार के लिये, उन्हें जीवन-रस व स्फूर्ति प्रदान करने के लिये 'आवश्यकता' से उन्मुक्त होने की उतनी ही प्रबल और सहज आवश्यकता है। रसास्वादन, सौन्दर्य का अनुभव, रूप, रंग, स्वर, स्पन्दन, गति आदि प्रभावों में रम जाने की प्रवृत्ति प्राकृतिक व आवश्यक आवश्यकताओं में से है। प्रकृति ने इस रसास्वादन की आवश्यकता-रहित आवश्यकता की पूर्ति के लिये अनन्त अवसर व अवकाश भी प्रदान किये हैं। इतना ही नहीं उसने सृजन, रचना व अभिव्यक्ति के लिये अव्यर्थ प्रेरणा भी दी है जो आज तक न थकी और न कभी थकेगी।

किन्तु यदि रसास्वादन की प्रवृत्ति इतनी सहज है तो इसकी मीमांसा ही क्या ? यह ठीक नहीं, क्योंकि इससे अधिक सरल घटना क्या होगी कि हम किसी भी वस्तु को ऊपर फेंकें और वह सदैव पृथ्वी पर ही गिरे। परन्तु जब गुरुत्वाकर्षण की घटना का विवेचन प्रारम्भ हुआ तो सारे विश्व का रहस्य इसी के सिद्धान्त में समा गया। वस्तुतः दो ही सिद्धान्तों के द्वारा जड़-चेतन का सम्पूर्ण रहस्य खुल सकता है। जड़, पार्थिव-जगत् का पता गुरुत्वाकर्षण के द्वारा मिलता है और चेतन सत्ता का अखिल भेद सौन्दर्याकर्षण के सिद्धान्त में निहित है। ज्ञान व व्यवहार, विकास व विस्तार, जो भी कुछ चेतन जगत् में, व्यक्त और अव्यक्त रूप में चल रहा है वह किसी चुम्बकीय आकर्षण-विन्दु की ओर चल रहा है। और वह चुम्बक सौन्दर्य है जिसमें रस का उदय होता है। प्रस्तुत निबन्ध का सारा प्रयत्न इसी सनातन सत्य को स्पष्ट और स्थापित करने के लिये है।

(२)

सौन्दर्य व रस का स्वरूप-निरूपण कई ओर से, कई प्रकार से किया जा सकता है। प्रत्येक का अपना महत्त्व है। 'को बड़ छोट' कहना ठीक नहीं। हमने जिस दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है वह है कि रसिक स्वयं—अपने 'अनुभव' का साक्ष्य देकर रसानुभूति का विवेचन करे। एक विशेष कारण इस दृष्टिकोण को अपनाने का यह है कि रसानुभूति में रसिक अपने स्वत्व को खोता नहीं है, प्रत्युत वह अपने स्वरूप का लाभ करता है। विज्ञान में विज्ञानविद् अपनी व्यक्तिगत सत्ता से दूर हट कर 'सामान्य' के शून्य में प्रवेश करता है। वह 'विशिष्ट' का निरीक्षण-परीक्षण करता है, विशिष्ट परिस्थितियों में किसी 'घटना' का प्रयोग करता है। परन्तु उसकी आँखें 'सामान्य' तत्त्व की ही खोज में लगी रहती हैं। वह सनातन, अटल, नैसर्गिक नियमों का पता लगा कर प्राकृतिक व्यवस्था का उद्घाटन करना चाहता है। आज का विज्ञान तो अपने 'क्षेत्र' में ही नहीं रहता, वह सत्ता की सीमाओं को भी टटोलता है, और 'अज्ञेय', 'अमेय' किसी

तत्त्व से टकरा कर लौट आता है। बहुत कुछ जानने पर भी विज्ञान आज 'रहस्य' में उलझ गया है ; कारण यह है कि अनुभव और सत्ता की सीमा तथा रहस्य का मूल तो प्रेक्षक की स्वयं सत्ता है। बुद्धि और उसकी क्रिया अपनी स्वाभाविक परिधि से बाहर नहीं जा सकती। विज्ञान का महत्त्व है कि वह अपने बौद्धिक प्रयत्नों द्वारा सृष्टि व सत्ता के सूक्ष्मतम, दूरतम, महत्तम व निकटतम तत्त्वों का स्वरूप उपस्थित करे। परन्तु उसकी गति आवश्यकतया सीमित रहेगी, क्योंकि वह तो 'विशिष्ट' से 'सामान्य' की संकल्पना (concept) तक जा सकती है, या सामान्य की सहायता से विशिष्ट तक आती है। किन्तु विशिष्ट और सामान्य, दोनों सीमाओं से परे रसिक की स्वकीय चेतन सत्ता है। यह सत्ता ज्ञान व व्यवहार की आवश्यकताओं का बन्धन स्वीकार नहीं करती; विज्ञान के निर्दिष्ट काल, स्थान व कारण-कार्य सम्बन्ध इसे मान्य नहीं। वहाँ कोई व्याधि या उपाधि भी नहीं है। व्यक्तित्व की मर्यादाएँ, नैतिक, धार्मिक व सामाजिक मान्यताएँ, रसिक की अध्यात्म सत्ता का स्पर्श नहीं करती। उसका 'भोग' तो 'त्याग' में होता है। वह व्यापक है, क्योंकि रसिक के मन बुद्धि, चित्त, शरीर, इन्द्रिय में यह रस-चेतना व्याप्त रहती है। वह तत्त्व है जो आँखों से नहीं देखा जाता, मन से मनन नहीं किया जाता, किन्तु आँखें जिससे देखती हैं, मन जिसके प्रकाश से मनन करने में समर्थ होता है। इसी आत्म-तत्त्व का उद्‌घाटन रसिक में रसास्वादन के क्षण में होता है। उस क्षण में उसके व्यक्तित्व की आवश्यकता व उत्तेजना से जनित भार कम हो जाता है। उसकी आकस्मिक सीमाएँ व उपाधियाँ गल जाती है। उसे रसास्वादन में अद्भुत आनन्द का लाभ होता है जो हमारी इच्छा-पूर्ति से अधिक होता है। उस दशा में हमें अपनी इच्छा-पूर्ति से उतना ही सम्बन्ध रह जाता है जितना चारों ओर से 'उदक के संप्लुत' होने पर 'उदपान' या कूप से होता है, या चारों ओर से विद्युत् प्रकाश फैलने पर छोटे दीपक से रह जाता है। यह जाति, धर्म, नीति, ज्ञान व व्यवहार की आवश्यकताओं से अनवच्छिन्न, शुद्ध मनन चेतना का स्वानुभव है जो

'रस' को अनन्त, निस्सीम, साधारण सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-मर्यादा राग-द्वेष आदि से ऊपर उठाकर, उसे 'सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' के सम्पूर्ण 'भूमा' वैभव से भर देता है।

आप कहेंगे कि यह तो रस-मीमांसा में उपनिषद् के निर्वेदयुक्त अध्यात्मवाद का असमय आलाप है, जैसे विवाह में शोक का उद्गार। वस्तुतः ऐसा नहीं है। रसास्वादन में हम मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, किसी का विलयन या दीपक की भाँति निर्वाण नहीं मानते; प्रत्युत इन सबकी प्रज्वलित स्फूर्ति, जागरण व नवोन्मेष उस समय होता है जो रसानुभूति को उसकी नवता, अपूर्वता व चमत्कार प्रदान करता है। रस का आस्वादन बुद्धि में 'तम' की अवस्था में नहीं होता, न मन की मलीन दशा में, या चिन्ताग्रस्त चित्त में या अहंभाव के उद्रेक में या प्राण, इन्द्रिय, शरीर की उत्तेजित अस्वस्थता में। इन सब का रुख व मोड़, व्यवहार व आवश्यकता की ओर से रोक कर उसे चेतना की ओर जोड़ दीजिये। इसे रस-प्रवणता कहते हैं। यह तोड़ व मोड़ सम्भव है, क्योंकि चिति या चेतना नाम की नदी 'उभयतो वाहिनी' है। वह ज्ञान व व्यवहार की ओर मुड़कर 'आवश्यकता' के संसार में जा सकती है और फिर लौट कर अपने 'मूल' की ओर मुड़ सकती है। फलतः बुद्धि की क्रियाएँ रसास्वादन में होती हैं; सारा व्यक्तित्व भी रस से आप्लावित होकर सक्रिय होता है। वस्तुतः कहना चाहिये कि रस-चेतना स्वयं अनिवर्चनीय है; और हम उसे उसके मूल-रूप में निर्विकल्प समाधि की भाँति संख्यान के अयोग्य कह सकते हैं, या और नीचे उतर कर मूर्च्छा, मोह आदि की भाँति शून्य भी। उस अनिवर्चनीय रस-चेतना को बुद्धि, मन आदि अपनी-अपनी सहज क्रियाओं द्वारा सौन्दर्य के गुण-प्रभाव से भर कर एकदम विशिष्ट बना देते हैं। रसानुभूति का 'विशिष्ट' गुण उसका अविचल स्वभाव है। अन्ततः रसानुभूति में इन सभी का समावेश रहता है और अपनी-अपनी सहज क्रियाओं के द्वारा ये रस के स्रोत को समृद्ध व स्फीत बनाते हैं।

(३)

रस के प्रस्तुत निरूपण का एक फल यह हुआ है कि हम इसे केवल स्थायी भावों का उद्रेक ही मानने को तैयार नहीं। 'रस' अनेक तत्त्वों से मिलकर बनता है; ये तत्त्व बुद्धि, मन, चित्त, अहंकार, यहाँ तक कि शरीर, प्राण, इन्द्रिय की प्रणालिकाओं व क्रियाओं द्वारा प्राप्त होते हैं। अनेक रासायनिक विधियों मे ये तत्त्व पककर एकरूप हो जाते हैं। रस की शतधारा स्रोतस्विनी में अनेकविध स्रोतों के मिल जाने से इसका स्वाद केवल क्रोध, मोह, काम आदि प्रवृत्तियों का उन्मेष मात्र नहीं रह जाता। इसमें बुद्धि का ज्ञानालोक, मन की ऊँची तरङ्गें, कल्पना की दशदिक् उड़ान, चित्त का प्रसाद, अहंभाव की निषेध मार्ग द्वारा प्रदीप्ति, स्नायु-प्राण आदि की लयगति तथा इन्द्रियों के द्वारा वस्तु के गुण-वैभव का लाभ आदि सभी तो रहते हैं। इस प्रकार रस की अनुभूति अखिल व्यक्तित्व की अनुभूति होती है। यह व्यापक और गम्भीर अनेक भावों का जागरण है। इसमें आदिम प्रवृत्तियों से लेकर मनुष्य की संस्कृत व सभ्य रुचियों का समावेश होता है। इस प्रकार की रसानुभूति को केवल 'सुख' या 'आनन्द' कहना भी उचित न होगा। साहित्य में जो 'सुखान्त', 'दु:खान्त' का भेद किया गया है वह निर्मूल है, क्योंकि 'रस' के स्वाद में पककर न सुख सुख रहता है और न दु:ख दु:ख ही। बल्कि सुख, दु:ख, काम, क्रोध, विषाद, वैराग्य और न जाने क्या क्या भाव रस-प्रवण मन की रसायन क्रियाओं में परिपक्व होकर अद्भुत रसनीय तत्त्व को निष्पन्न करते हैं। रस के वैचित्र्य में इसे केवल स्थायी भावों का उद्रेक भर मान लेना व्यर्थ संकीर्णता है।

हमने माना है कि रस की अनुभूति एक साथ सरल और विशिष्ट होती है। सरल इसलिये कि मूलत: यह आत्मानुभूति है। आत्मा के 'अनावरण' से रस-चेतना का उदय होता है। रस की सहज 'इच्छा' चेतना को रस-चेतना में परिणत कर देती है। वस्तुत: यह 'इच्छा' इच्छा-रहित होने की इच्छा है, 'उन्मुक्त' होकर रसाधीन होने की आवश्यकता है। अतएव इस विचित्र किन्तु सहज इच्छा से रसिक अपने स्वतन्त्र किन्तु

सरल स्वरूप की लब्धि करता है। किन्तु इस सरल, सहज स्वरूप के उदय होते ही सारा व्यक्तित्व रस से सब ओर से 'संप्लुत' हो उठता है; क्या बुद्धि, क्या मन और क्या शरीर तथा इन्द्रियाँ, सभी में रस का उन्माद छा जाता है। आँखों में रस का 'खुमार' साफ देखा जा सकता है। प्राणों और स्नायु तथा नाड़ी-केन्द्रों में विशिष्ट गति व स्पन्दन होते हैं, मानो सब ओर से रस के छोटे-छोटे स्रोत निकलकर रसानुभूति की विमल, विपुल जाह्नवी में आकर मिल जाते हैं। और यह रस-जाह्नवी भी अद्भुत है कि दोनों ओर को बहती है। बाह्य 'सौंदर्य' के प्रभाव को इन्द्रिय-कुल्याओं में भर अन्दर तक ले जाती है, और अन्दर से अन्तरालोक को लेकर 'वस्तु' में भर देती है। यह क्रिया रसास्वादन का सार और सर्वस्व है। यह इसको 'विशिष्ट' बनाती है। रसास्वादन में 'सामान्य' या 'संकल्पना' (concept) का कोई मुख्य कार्य नहीं होता क्योंकि बुद्धि इस समय रस-प्रवण होकर 'सामान्य' में न विचरकर वस्तु के विशिष्ट वैभव का ही अवगाहन करने में लग जाती है। संगीत के आस्वादन में देखिए कि बुद्धि को फुर्सत ही नहीं मिलती कि वह तर्कों की सहायता से कोई निष्कर्ष निकाल सके। रस के आस्वादन में 'निष्कर्ष' का कोई प्रयोजन नहीं; तब बुद्धि की तार्किक प्रक्रियाओं का भी वहाँ क्या काम! इस प्रकार रस का अनुभव सरल और विशिष्ट हो जाता है। 'रस' इसीलिये वैज्ञानिक परिभाषा की सीमा से परे होता है।

रसास्वादन में 'यथार्थ' का क्या स्थान व स्वरूप है---इस प्रश्न को लेकर रस-मीमांसा के क्षेत्र में विचारों का उपद्रव-सा खड़ा हो गया है। इसी प्रकार "कला किसके लिये है? क्या कला कला के लिये है, या समाज या नैतिक अथवा धार्मिक लक्ष्यों की सिद्धि के लिये है?" इत्यादि विकट उलझने हैं। इनका एक सीधा समाधान यह हो सकता है कि हम 'रस' को ज्ञान व व्यवहार की भाँति ही, जीवन की सहज आवश्यकता स्वीकार करें, और रसास्वादन को उसकी परम पूर्त्ति। रस स्वयं ही एक स्वतन्त्र और स्वाभाविक 'मूल्य' है, एक गम्भीर आध्यात्मिक प्रवृत्ति व आवश्यकता

है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने से क्या 'यथार्थ' और क्या 'आदर्श', सबका रस में परिणमन या रूपान्तरण होता है। ये मन की रसायन विधियों से 'रसनीय' होकर ही रसास्वादन में समाविष्ट हो सकते हैं। केवल 'यथार्थ' का प्रस्तुत करना अथवा आदर्शों की अभिव्यक्ति रसास्वादन के प्रयोजन से बाह्य है। और, ये दोनों अपने अपने प्रकार से रस के स्वाद में समान रूप से प्रविष्ट होते हैं।

इसी प्रकार नैतिकता, समाज, धर्म, इतिहास, यहाँ तक कि ज्ञान व व्यवहार भी, रसाङ्गता प्राप्त करते हैं। रस में अखिल जीवन का विस्तार व गाम्भीर्य विद्यमान रहते हैं। जीवन किसी 'तत्त्व' को अस्वीकार नहीं करता, प्रत्युत सबको ग्रहण करके उन्हें आत्मसात् कर लेता है। इसी प्रकार 'रसन' की प्रक्रिया से सभी रस रूप हो जाते हैं। हमने देखा है कि किस प्रकार नैतिक भावना, अथवा मङ्गल कामना या कर्त्तव्य-भावना रस के आस्वादन में 'दीप्ति' उत्पन्न करती है। ससार के काव्यों में कलाकारों ने राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, आदम, रुस्तम आदि असंख्य वीरों का चरित्र ग्रहण किया है। यह समझना अनुचित होगा कि ये कलाकार संसार को आदर्श, कर्त्तव्य-परायणता, त्याग आदि के उदात्त रूप प्रस्तुत करने के लिये ही रचना के लिये प्रेरित हुए। वस्तुतः इन चरित्रों के ग्रहण से उन्होंने रसानुभूति को ही अधिक प्रदीप्त, उदात्त, पुष्ट और प्रखर बनाया है। रसास्वादन में सामाजिकता व धर्म का भी यही उपयोग है। इतिहास न केवल रसास्वादन के लिये सामग्री प्रदान करने के हेतु अक्षय निधि है, अपितु वह 'दूरतापादन' (distancnig) के लिये सुगम साधन भी है।

इस विचारधारा के द्वारा दैनिक जीवन की साधारण घटनाओं का रसानुभूति के साथ सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है। विज्ञान को देखिए; किसी 'घटना' का महत्त्व जो विशिष्ट स्थान, काल और परिस्थितियों में घटित होती है विज्ञान के लिये इतना ही है कि वह किसी सामान्य नियम की ओर इंगित करती है, किसी नैसर्गिक व्यवस्था को प्रकट करने के लिये एक ज्वलन्त, इन्द्रियगोचर उदाहरण है। पेड़ से फल गिरने की घटना या

समुद्र में पूर्णिमा के पर्व पर लहरों का उत्ताल रूप या कोई चन्द्र-सूर्य ग्रहण का अवसर, विज्ञानवित् के लिये इसलिये आवश्यक व उपयोगी है कि इसके द्वारा विराट् विश्व के अनगिन पिण्डों को स्व-स्थान अथवा स्वकीय परिधि में बाँधे रखने के लिये नैसर्गिक नियम का उद्घाटन होता है जिसे गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त कहा गया है। संक्षेप में, एकाकी, विशिष्ट घटना मे विज्ञानवेत्ता सनातन व विराट् नियमों की झाँकी देखता है। यह सीमित घटना उसे 'निस्सीम' तक पहुँचाने का मार्ग है। वह 'सीमित' और 'निस्सीम' के मार्ग में इतस्ततः स्वतंत्रतापूर्वक विचरता है। यही उसके सुख का सार है।

विज्ञान के इस रूप को रसानुभूति में लागू कीजिये। आत्म-चेतना स्वयं स्पन्दनहीन, अनन्त, अमेय, अज्ञेय कोई पदार्थ है, जो रसिक के अस्तित्व का आधार है। किन्तु इसके विषय में यह कहना भी कठिन है कि वह है या वह नहीं है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त इस रूप का सच्चा उद्गार है। परन्तु हमे अपनी सीमाओं के पार नहीं जाना चाहिए। जब इस चेतना में रस की स्फूर्ति जगती है तो रस-चेतना का उदय होता है। यह रस-चेतना आत्मानुभूति ही है। इसके उदय होने से मन, प्राण, सभी प्रदेशों में आन्दोलन होता है, शरीर और बुद्धि की गुहा में भी प्रकाश-कण उड़ने लगते है। रस-चेतना का यह अभिव्यक्त रूप अनुभवगम्य है। किन्तु इसकी अनुभूति भी वैज्ञानिक की 'सामान्य' की अनुभूति की भाँति, अपने शुद्ध रूप में, स्पष्ट नहीं होती। आत्मानुभूति का उदय भी जो सौन्दर्य के प्रभाव से होता है, वह नैसर्गिक व्यवस्था की भाँति, किसी विशिष्ट घटना में 'व्यक्त' और गोचर होना चाहिए। जब हम जीवन की दैनिक घटनाओं में, बोल-चाल, आहार-व्यवहार, आदान-प्रदान इत्यादि कार्य-कलाप में, उसी अध्यात्म चेतना की व्यक्त तरङ्गों को देखते हैं तो उनका स्वरूप भी रसनीय हो जाता है। कोई भी कलाकार दैनिक यथार्थ जीवन का चित्रण केवल चित्रण के लिये नहीं करता, प्रत्युत वह उसके द्वारा रसिक को अन्तरालोक की झलक देना चाहता है। यथार्थवादी कला में भी जो झोपड़ी में बच्चों का बिलबिलाना,

भूख की वेदना, गलियों में कीड़ों का रेंगना, 'गाँव जिसमें झोपड़ी हैं, घर नहीं है' इत्यादि का वर्णन भी जन-जीवन के नीचे तल में ऊर्मिल ऐतिहासिक जन-चेतना की झलक को ही प्रत्यक्ष करने के लिये किया जाता है। संक्षेप में, आत्मानुभूति को व्यक्त माध्यम प्रदान करने के लिये तथा उनके द्वारा आत्मचेतना की सनातन, व तरङ्गायमान धारा की झाँकी को पाने के लिये दैनिक यथार्थ का रसास्वादन में प्रयोजन होता है।

(५)

अन्त में, 'रसिक ही रस है और, रस रसास्वादन की क्रिया से भिन्न नहीं है,' यह मानकर हम कला-मीमांसा के कई उलझे हुए प्रश्नों को सुलझा सकते हैं। जैसे, सौन्दर्य आत्मगत अनुभूति है या विषयगत वास्तविक गुण ? दोनों वादों को परस्पर विरुद्ध दूर तक घसीटा जा सकता है। किन्तु इस प्रश्न का मूल-बिन्दु है आस्वादन की क्रिया को खण्डशः करके अलग-अलग परीक्षण करना, जैसे जीवन-क्रिया से पृथक् करके हाथ, पाँव आदि का विचार करना। परन्तु अनुभूति परम सत्य है; आस्वादन असन्दिग्ध घटना है। किन्तु यह अनुभूति बिना 'अनुभविता' और 'अनुभूत' के कैसे सम्पन्न हो सकती है ? माना कि इन दोनों 'छोरों' का अध्ययन बुद्धि-विलास के लिये या किसी और प्रयोजन के लिये कर सकते हैं, जैसा कि हम अध्यात्म शास्त्र और विज्ञानों में करते है। परन्तु फिर भी साधारण अनुभूति में इन दोनों ध्रुव-बिन्दुओं को मान्यता देनी होती ही है। और रसानुभूति में तो ये दोनों ध्रुव-बिन्दु 'अचल,' 'निष्क्रिय' नहीं रहते, प्रत्युत एक ओर रसिक के अस्तित्व में आमूल गति और स्फूर्ति का संचार होता है तो दूसरी ओर से वस्तु का गुण व प्रभाव जिसे सौन्दर्य कहते हैं अपने प्रबल आघातों द्वारा प्रज्वलित हो उठता है। दोनों छोरों से संचरित होने वाले ये प्रभाव रस की अनुभूति को वह 'चमक' प्रदान करते हैं जिसके कारण मीमांसकों ने इसकी रति-भोग से तुलना की है। वस्तुतः मनुष्य के पशु-जीवन की जो गम्भीरतम अनुभूति है, साथ ही प्रखर और व्यापक, वह "प्रियया" यह शुद्ध

रूप है। स्त्रिया सम्पृक्तः'' होकर प्राप्त होती है। उपनिषद् भी आत्म-लाभ की अनुभूति को समझाने के लिये इससे अच्छा उदाहरण न पा सकी। हम तो मानेंगे कि रसानुभूति में रसिक और सौन्दर्य का समानाधिष्ठान होकर संघट्टन ही इसको रस का 'सर्वस्व' प्रदान करता है। दोनों में से एक के भी बिना यह असम्भव होगा। 'वस्तु' के बिना यदि आनन्द का सच्चा अनुभव किसी को होता है तो वह या तो सिद्ध है या शुद्ध विक्षिप्त। इसी प्रकार यदि केवल वस्तु को देखकर रसिकता के बिना कोई रसानुभव करता है तो वह केवल मिथ्या भाषण करता है। जब रसानुभूति के लिये रसिक की रसिकता और सुन्दर वस्तु का सौन्दर्य दोनों ही केवल अपेक्षित ही नहीं, वरन् दोनों ही उसमें समाविष्ट रहते हैं, तब किसी के आत्मगत या वस्तुगत होने का प्रश्न नहीं उठता है। सौन्दर्य वस्तु का गुण होने के कारण वस्तुगत रहेगा ही; किन्तु सौन्दर्य की स्वयं सत्ता है, कलाकार उसका पार्थिव माध्यम में सृजन करता है। 'रस' का अधिष्ठान रसिक हो सकता है; वह चेतना की परिणति है। आत्मगत होना इसके लिये आवश्यक है ही। किन्तु अनुभूति के क्षण में आत्मगत और वस्तुगत का संघट्टन होता है। वस्तुतः इन दोनों का भेद केवल तर्क और बुद्धि के धरातल पर होता है। अनुभूति में इस प्रकार का भेद असम्भव है और इसका प्रश्न बिल्कुल भ्रान्तिमूलक।

'रसानुभूति' को ही मीमांसा का आधार मान कर हम कह सकते है कि यह अपने व्यष्टि रूप में व्यक्तिगत घटना है; किन्तु सृजन व आस्वादन दोनों सम्पूर्ण व्यक्तित्व के द्वारा सम्पन्न होते है, अतः इनके सम्पन्न होने में समाज, धर्म, नीति, विज्ञान, संस्कृति, यहाँ तक कि सारा इतिहास योगदान करते हैं। यह इस दृष्टि से समष्टि-घटना है। समाज के माध्यम में घटित होने के कारण, समष्टि-भावना अर्थात् रसिक को केवल व्यष्टि या पृथक् चेतना-कण न होकर सामाजिक चेतना का वाहक होने का 'एहसास'—यह उसके लिये रसास्वादन को और भी स्पष्ट व पुष्ट बनाती है। वस्तुतः 'रस' बनता ही इस समष्टि चेतना से है। रस में जो आत्मा,

हृदय, मन आदि को 'आप्लावित' करने का स्वभाव है, उसका रहस्य ही यह है कि इस क्षण समाज की विराट-चेतना का सारा प्रवाह रसिक के व्यष्टि, लघु व्यक्तित्व को भर देता है। इसे एक दृष्टान्त से समझना सरल होगा—ताँबे के एक मोटे तार में बहने वाली विद्युत की ऊर्जा जिस समय 'बल्ब' के बारीक तारों में से गुजरती है तो उस ऊर्जा के भार और टक्कर से बारीक तार चमक उठते हैं। रस में 'आक्रान्तक' और 'संक्रान्तक होने की प्रवृत्ति रहती है। हम 'स्व-वश' होते हुए भी 'पर-वश', विजयी होकर भी सौन्दर्य से पराभूत, स्पन्दन करते हुए भी निस्पन्द, माधुर्य में तिरते हुए भी शून्य से हो जाते हैं ; अनेक स्मृतियो का स्फुरण होते हुए भी आत्म-विस्मृति होती है। इसका एक कारण तो यह है कि सौन्दर्य के प्रभाव से रस स्वरूप अनन्त आत्मा का उन्मीलन होता है, और दूसरा कारण यह है कि रस के रूप में प्रकट हुई समाज व जीवन की विशाल, निर्मुक्त, निर्लिप्त विराट् चेतना व्यक्तित्व के लघु प्राङ्गण को आप्लावित कर देती है।

रसास्वादन की परिपक्व दशा में समीक्षा का उदय स्वयं होता है। इसका एक आधार यह भी है कि हम सम्पूर्ण व्यक्तित्व से रसास्वादन करते हैं। बुद्धि इस समय कुंठित या अक्षम नही होती, यद्यपि उसकी तार्किक प्रवृत्ति स्थगित हो जाती है। किन्तु जिस प्रकार व्यवहार की अनावश्यकता से शरीर, प्राण आदि की क्रिया रसोन्मुखी होकर अनुभूति को और भी प्रबल कर देती है उसी प्रकार बुद्धि की सहज तर्क-क्रिया का रुक जाना भी रसानुभूति को अद्भुत 'प्रकाश' प्रदान करता है। ऐसी परिस्थिति में बुद्धि रस-ग्रहण की क्रिया में भाग लेती है, और रसिक को समीक्षा द्वारा सुन्दर-असुन्दर, ग्राह्य-अग्राह्य आदि के विचार देकर उसकी रसानुभूति को परिमार्जित बनाती है।

इस मीमांसा का उत्तम लाभ यह है कि यह कला की अमरता को सिद्ध करती है। कला आदिम जीवन में प्रारम्भ हुई। नृत्य, गायन, वादन, आलेखन सभ्यता के उदय से बहुत पूर्व आदिम मनुष्य के जीवन मे

उदित हुए। धर्म आया और स्यात् चला भी गया। विज्ञान आया है, और स्यात् चला भी जायगा क्योंकि ये सब जीवन के एक अंग पर ही आश्रित है। किन्तु मनुष्य की कलात्मक प्रवृत्ति इतिहास के पूर्व में उदित होकर, इसकी तरङ्गों में उतराती हुई, इसके प्रवाह के साथ विस्तार करती हुई, उत्थान-पतन, सृजन-विनाश, उन्नति-अवनति, उन्मेष-निमेष आदि इतिहास की अनन्त गति में श्वासोच्छ्वास भरती हुई, आज भी सौन्दर्य का सृजन कर रही है, और करती रहेगी, क्योंकि जिस दिन यह समाप्त हो जायगी उस दिन 'रस' समाप्त हो जायगा और इसके साथ ही, रस के ऊपर आश्रित अखिल जीवन का महाप्रलय भी हो जायगा।

१०

चिन्तन की अद्यतन धाराएँ

प्रस्तुत निबन्ध का निष्कर्ष पाठक के सम्मुख है। इसकी कसौटी और निखार के लिये आवश्यक है कि इसे एतद्‌विषयक चिन्तन की अद्यतन धाराओं के बीच में रखा जाय। आज के कतिपय पश्चिमी चिन्तक अनेक दिशा और दृष्टिकोणों से चलकर जिन निष्कर्षों की ओर आ रहे हैं उन्हें जानना हमारे लिये लाभप्रद होगा। निम्नलिखित पृष्ठों में कुछ ग्रन्थों के मथितार्थ संग्रहीत हैं, पूर्णता के लिये नहीं, केवल संकेत के लिये।

सर हरबर्ट रीड (Sir Herbert Read) पश्चिमी कला मर्मज्ञों में अग्रणी हैं। Art Now नामक पुस्तक में अद्यतन कला का ऐतिहासिक स्वरूप उन्होंने प्रस्तुत किया है। हमारे युग की देन कला के लिये यह है कि हमने कला को सच्चे विज्ञान (Science of Art) का रूप दिया है। अब तक मानो कला का कोई निजत्व रहा ही नहीं; वह दर्शन या धर्म का अंग बन कर दार्शनिक या केवल विचारात्मक चिन्तन के रूप में रही। पूर्ण विज्ञान[1] के रूप में कला दर्शन, धर्म, मनोविज्ञान, मानवविज्ञान,

---

1. "It is a science which admits evidence from many fields hitherto not associated with the philosophy of beauty—evidence from history and anthropology, from religion and psychology, from morphology and philology—from every science that deals with the spirit of man and the modes of its expression" [Art Now, P. 31]

रूपविज्ञान, भाषाविज्ञान, संक्षेप में, उन सभी विज्ञानों और कृतियों ने सामग्री और साक्ष्य का संचय करती है जिनका सम्बन्ध मनुष्य की चेतना और इसकी अभिव्यक्ति के प्रकारों से हैं। कला-विज्ञान का अर्थ यह न समझना चाहिए कि यह भावना के ऊपर आज के बुद्धिवाद की विजय है। सच तो यह है कि 'आज' का युग बुद्धिवाद के झोंके को पार कर चुका है। मनुष्य की चेतना 'आदिम' भावनामय जीवन की ओर बुद्धिवादी तरंग के शीर्ष को छू कर लौट पड़ी है। बुद्धि जीवन नहीं है, वह चेतना के गम्भीर स्तरों और प्राणन के सूक्ष्म स्पन्दनों को पकड़ नहीं सकती। बुद्धि की सीमा स्पष्ट है—यही बुद्धिवाद के अवसान का क्षण है। आज की कला में विचार-पूर्व (Pre-logical) और विवेक-शून्य (Irrational) तत्वों की झाँकी बुद्धिवाद के विरुद्ध चुनौती है। हरबर्ट रीड कहते[1] हैं कि कला निपट जांगलिक रूप में जीवन की ऊर्जा के साथ पनप सकती हैं; किन्तु शुष्क तर्क की अति में कुम्हला कर मर जाती है। आज की कला को हृदयंगम करने के लिये 'आदिम' जीवन के भावनात्मक विप्लवों को समझना आवश्यक है जिनके समाधान के हेतु प्रागैतिहासिक युग में और अब पुनः कलाकार ने अपनी तूलिका को उठाया है। जीवन की कृत्रिमता, मशीन जैसी उत्तेजना के साथ जड़ता, और जटिलता के बाहरी सतह के नीचे, अभी आँखों से ओझल, स्वाभाविकता, शान्ति और तरलता तथा सरलता के लिये मनुष्य की आत्मा की पुकार सुनाई पड़ती है। कला इसी स्वाभाविक, शान्त, तरल और सरल भावी जीवन को समीप लाने का प्रयत्न कर रही है। यही आज इसका महत्त्व और इसके अवगम का रहस्य है जिसे हम साधारणतया समझ नहीं पा रहे हैं।

---

1. "Art may flourish in alrank and barbaric manner from an excess of animal vitality; but it withers and dies in the arid excess of reason." [Ibid, P. 33]

आदिम[1] कला जीवन की आवश्यकता थी, क्योंकि वह जीवन को जीने की शक्ति प्रदान करती थी; वह हृदय की धड़कन, मांस-पेशियों में तनाव, नाड़ी का स्पन्दन और भावना की अभिव्यक्ति का द्वार थी। मन-बहलाव अथवा जीवन की सजावट मात्र उसका उद्देश्य न था। रस की अनुभूति जीवन के ओज की साक्षात् अनुभूति थी। संस्कृति और सभ्यता से पूर्व कला के उदय का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इसके मूल में जीवन की प्रारम्भिक प्रवृत्तियों को व्यक्त करने की प्रेरणा[2] है।

यूनानी[3] सभ्यता ने कला को आदिम उद्देश्य से हटाकर आध्यात्मिक उद्देश्य प्रदान किया, और जीवन की तरलता, उसकी ऊर्जा, वेग, उत्तेजना आदि को ज्यामिति के अचल सिद्धान्तों में मूर्ति और स्थापत्य कला के माध्यम से बाँधना चाहा। बुद्धि के द्वारा मूर्ति और भवनों में अंकित रूपों की पूर्णता का ध्यान करना—यही रसास्वादन का स्वरूप यूनान ने

---

1 "Art for them (primitive men) is perhaps not so disinterested : it is not extraneous and complementary, but an intensification of life : a stirring of the pulse, a heightening of the hearts' beat, a tautening of the muscles, a necessary and exigent mode of expression." [P. 47]

2 "Art from this point of view has nothing to do with polite culture or intelligence. In its origins it is an exercise or activity of the senses, the plastic expression of elementary intentions." [P. 47]

3 "There is (in Greek art) an almost metaphysical belief that beauty and the ideal type for sculptural representation are characterized by an almost supersensual, because intellectual and mathematical, structure."

[Rhys Carpenter quoted P. 33]

प्रस्तुत किया। रस इन्द्रिय के स्तर से उठकर अतीन्द्रिय हो गया। पश्चिम में योरोपियन पुनरुत्थान (European Renaissance) अर्थात् १५ वीं शती के पूर्व तक यूनान का यह अकाट्य तर्क कला-सृजन को प्रेरणा देता रहा। यह बुद्धिवाद की विजय थी। आदर्श[1] पूर्णता की खोज में बुद्धि को सन्तोष देना, बुद्धि की प्रसन्नता के लिये सनातन और अविकल संकल्पनाओं में जीवन को कस देना, जीवन्त प्रकृति की अभिव्यक्तियों को नियमों में ढाल कर बुद्धि से उनकी मीमांसा करना, यह यूनानी और पुरातन कला की पराकाष्ठा रही। इसमें सन्देह नहीं कि इस आध्यात्मिक उद्देश्य ने पूर्व-मध्य-युगीन कला को आध्यात्मिकता प्रदान कर उसे 'दिव्य' बनाया, किन्तु 'मानव' नहीं।

विको नामक चिन्तक ने कला की इस पुरातन प्रवृति को नया मोड़ दिया, यद्यपि कान्ट, फिक्टे, शेलिंग, हीगेल, शॉपेनहॉवर, नीट्शे आदि दार्शनिकों ने 'सौन्दर्य' और 'रस' को दार्शनिक परम्परा में ही बँधा रहने दिया। इनका सौन्दर्य-दर्शन कला और उसकी कृति से दूर है। विको ने कहा कि कलाकार जो आँखों से देखता है वही स्थूल माध्यम से व्यक्त करता है न कि वह जो वह देखना चाहता है। कलाकार अपनी 'चाह' से अपने मन की सर्जनोन्मुख संवेदनाओं को जिन्हें वह बाहर से पाता है

---

1. "To satisfy the reason in its quest for perfection is the dominant characteristic of the whole classical tradition. This ideal reconciles the vitality of organic life, especially as represented by the human form, with the stability and universality of an intellectual concept. Natural facts are given rational interpretation; the organic is lifted to the plane of intellect; the vital seeks a point of equilibrium in physical law." [Art Now, P. 35]

विकृत नहीं करता। वह तो उन संवेदनाओं का माध्यम मात्र है; वह क्यों उन्हें बुद्धि की संकल्पना में कस कर निर्जीव बनावे? मध्य-युग में सौन्दर्य की परिभाषा की गई थी: Id quod visum placet : वह जिसे देखने से आनन्द हो। विको ने इस परिभाषा को अपनी मीमांसा का आधार बनाया। उन्नीसवीं शती तक आते-आते, मनोविज्ञान ने कला के क्षेत्र में पदार्पण किया तथा थियोडोर लिप्स, वुन्ट आदि मनोवैज्ञानिकों ने 'अन्तर्भावनात्मक' (Einfuhlung) नामक मानसिक व्यापार का आविष्कार किया जो हमारे रसास्वादन का आधार है। थियोडोर लिप्स[1] के शब्दों में 'अन्तर्भावना' का रूप इस प्रकार है: हमारी सहानुभूति की 'वस्तु' वस्तु के रूप में परिणत हमारा 'अहं' ही तो है। वह 'अहं' दूसरी वस्तुओं में स्थानान्तरित हो गया है, तभी तो (सहवेदना के क्षण में) हम उसे उनमें खोजते हैं। हम 'अपने' को 'दूसरों' में और दूसरों को अपने में महसूस करते हैं। दूसरों में अथवा दूसरों के माध्यम से, हम अपने को सुखी, स्वच्छन्द, विशाल, उदात्त होने और इनके विपरीत होने का अनुभव करते हैं। सौन्दर्यानुभूति में होने वाली सहवेदना रसास्वादन

---

1. "The object of our sympathy is our objectified ego, transported into others and therefore discovered in them. We feel ourselves in others and we feel others in ourselves. In others, or by means of them, we feel ourselves happy, free, enlarged, elevated, or the contrary of all these. The aesthetic feeling of sympathy is not a mere mode of aesthetic enjoyment, it is that enjoyment itself. All aesthehic enjoyment is founded, in the last analysis, simply and wholly upon sympathy : even that caused by geometrical, architectonic, and their abstract lines and forms."

[quoted on P. 49]

का एक प्रकार मात्र नहीं है; वह स्वयं रसास्वादन है। जहाँ तक विश्लेषण जा सकता है, स्पष्ट करता है कि रसास्वादन का आधार, सामान्य रूप से और पूर्णतः, (अहं और वस्तु के बीच घटनेवाली) 'सहवेदना' ही है, यहाँ तक कि ज्यामितिक रूपों में, अंग और अंगी के सुव्यवस्थित संस्थानों में तथा अन्य सूक्ष्म रेखा और आकृतियों में भी जो 'अनुभूति' होती है, उसका स्रोत भी द्रष्टा और दृश्य, अहं और वस्तु के बीच की सहवेदना ही है।

यह सहवेदना ही 'अन्तर्भावना' है जो हमारे मन में वस्तु के सौन्दर्य से 'रस की अनुभूति' को जगाती है। यह विचारधारा 'रसास्वादन' की मनोवैज्ञानिक मीमांसा है।

'आँखें जो देखती हैं, देखना 'चाहती' नहीं' : इस सूत्र को लेकर दो अन्य विचारधाराएँ योरोप में प्रवाहित हुई जो आज की कला में विद्यमान हैं। एक फ्लेमिश कला जो दृश्य वस्तु के निकटतम अनुकरण को अपना आधार और आदर्श मानती है। दूसरी फ्लोरेन्टाइन कला जो देखने (Vision) के विज्ञान को कला-कृति का सार समझती है। हालैंड तथा उत्तरी योरोप में फ्लेमिश कला का विकास हुआ तथा इटली में लियोनार्डो डा विंची और फ्लोरेन्स के अन्य कलाकारों ने ईक्षण-विज्ञान को आधार बना कर सृजन किया। इस प्रकार पश्चिम में परिप्रेक्ष के नियमों (Laws of Perspective), प्रकाश और छाया (Chiaroscuro) तथा रेखा द्वारा ठोस पदार्थों का दो मान वाले धरातलों पर चित्रण के सिद्धान्तों का आविष्कार हुआ। मानना होगा कि इस चिन्तन ने केवल ईक्षण के विज्ञान को ही समृद्ध नहीं किया, अपितु कला के क्षेत्र में भी नियमों की सम्भावना है, इस तथ्य को प्रस्तुत किया। कलाकार अपनी तूलिका से रंगसाज़ी करते समय अथवा प्रकाश-छाया दिखाते हुए अथवा पेन्सिल से रेखा बनाते समय विज्ञान के निश्चित नियमों का, जाने या न जाने, प्रयोग करता है, यह निष्कर्ष इस दृष्टिकोण से प्राप्त हुआ।

परन्तु जैसा कि स्वाभाविक था, विचार की धारा निष्कर्ष पर पहुँच कर रुकी नहीं। निष्कर्षों से नये प्रश्न उठ खड़े हुए: "आँख देखती क्या है ?"

क्या यह पेड़ या मकान ठीक वैसा ही वस्तुतः है जैसा आपाततः हमें दिखाई पड़ता है ? यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है, क्योंकि यह विद्यमान कला का मूल प्रश्न है। वैज्ञानिक यथार्थवाद (Scientific Realism) जिसने कला को प्रभावित किया है इसी प्रश्न का उत्तर देता है। क्रोचे के विचारों से हम कुछ परिचित हैं। वह इसका उत्तर संक्षेप में इस प्रकार देता है:—

"हमारे मन का सम्पर्क जब किसी वस्तु से होता है तो इस सम्पर्क के प्रथम क्षण में उस वस्तु का सम्पूर्ण रूप स्फुट नहीं होता। 'यह वृक्ष है', 'वह पुष्प है,' इस ज्ञान से पूर्व इन वस्तुओं का धुँधला, परन्तु वास्तविक स्फुरण हमें होता है। बुद्धि, स्मृति, कल्पना आदि क्रियाएँ वस्तु के उस प्रथम स्फुरण को 'वृक्ष' अथवा 'पुष्प' का स्पष्ट रूप प्रदान करती हैं। सौन्दर्य का अनुभव बुद्धि की क्रियाओं से पूर्व प्रकट होने वाला वस्तु का सम्पर्कज अनुभव है जिसे क्रोचे 'स्वसंवेदना (Intuition) कहता है। विश्व का सौन्दर्य शिशु की आँखों से देखे गये संसार का अनुभव है; बुद्धि उसे पा नहीं सकती; संवेदनशील मन, मनन से भी पूर्व, जानने के प्रयत्न से भी पहले, वस्तु के सौन्दर्य का आस्वादन करता है। मनन, ज्ञान, स्मृति, कल्पना, भावना आदि मानसिक क्रियाएँ वस्तु के मूल रूप को विकृत बना कर उसके सहज सौन्दर्य को तिरोहित कर देती हैं।"

मानना होगा कि क्रोचे का दर्शन विद्यमान कला का दार्शनिक आधार है। किन्तु सौभाग्य से कला-मीमांसा अपने स्वत्व को दर्शन के अधीन करने को तैयार नहीं हुई। फलस्वरूप फ्रांस और जर्मनी में कला ने अपने दृष्टिकोण से विकास कर रूप-लाभ किया।

फ्रांस में पॉल गोगॉ और सीज़ाने कलाकारों तथा सेरूजियर नामक कला मीमांसक ने 'हम क्या देखते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर कला के दृष्टि-कोण से दिया जिसके फलस्वरूप प्रभाववाद (Impressionism), नूतन-प्रभाववाद (Neo-Impressionism), प्रतीकवाद (Symbolism),, घनवाद (Cubism), निर्मितिवाद (Constructivism) आदि भावात्मक कलावादी (Abstract Art) आन्दोलनों का जन्म हुआ। जर्मनी में मुंच नामक कला-

कार ने अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) का विकास किया जिसका चरम-स्वरूप पिकासो के अतियथार्थवाद (Surrealism) में आज विद्यमान है। इन सभी वादों में जो वाद आज जीवित हैं वे भावात्मक कलावाद और अतियथार्थवाद ही हैं, यद्यपि अन्य वाद अभी मरे नहीं हैं। सभी देशों ने इन कला आन्दोलनों के प्रभाव को स्वीकार किया है। साहित्य और संगीत इस प्रभाव से बचे नहीं हैं। अमरीका के वैभव ने इन सबको संरक्षण प्रदान किया है। हमें देखना है कि रस और रसास्वादन की मीमांसा को विद्यमान कला-आन्दोलनों ने क्या देन दी है।

प्रतीकवाद के अनुसार, वस्तु का बाह्य रूप बुद्धि के द्वारा बनाया हुआ 'प्रतीक' (Symbol) है; उसकी वास्तविक सत्ता इससे भिन्न है। बाहरी रूप का कला के लिये महत्त्व नहीं। कला उस वैज्ञानिक तथ्य को पकड़ना चाहती है जो 'दृष्ट' के पीछे ओझल है। 'दृष्ट' उस अन्तर्निहित तथ्य का प्रतीक तो हो सकता है किन्तु स्वयं वह तथ्य नहीं है। विगत पाँच शतियों तक कला का उद्देश्य वस्तु का वर्णन और चित्रण या अनुकरण रहा है; 'यथार्थ' को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करना नहीं। गॉगिन कहता है कि जिस प्रकार संगीत में हम 'वर्णन' को स्थान नहीं देते, अपितु ध्वनियों की संकेतात्मकता को महत्त्व देते है, उसी प्रकार कला में वर्णन का महत्त्व नहो।[1]

---

1. "The actual appearance of the visible world is no longer of importance. The artist seeks something underneath appearance, some plastic symbol which shall be more significant of reality than an exact reproduction can be... The whole difference between the modern movement in art and the tradition which had prevailed for five preceding centuries is expressed in this substitution of the symbolic for the descriptive aim of art. In painting, wrote Gaugin,.

प्रतीकवाद ने साधारण मनुष्य जिस 'वस्तु' को देखता है उससे बहुत भिन्न गम्भीर तथ्यों को कला में प्रस्तुत किया। 'वस्तु' का स्थान अथवा उसकी अनुकृति का महत्त्व प्रतीकवादी कला में नहीं है; इतना ही नहीं; वस्तु के स्वरूप को इतना विकृत (Distortion) बनाया कि प्रेक्षक को कला में 'वस्तु' को देखने या पाने का कोई संकेत ही न मिल सके। घनवाद एक क़दम और आगे चला और इसने बताया कि संसार की सभी दृष्ट वस्तुएँ वर्ग, आयत, त्रिभुज, घन आदि की आकृतियों के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं। घनवादी[1] कलाकारों ने प्रत्येक दृश्य वस्तु से चलकर ऐसे 'भावात्मक' रूप का सर्जन किया जो पैमाने की सहायता से रेखा, बंकों, समतलों या ठोसों के संयोजन से आँका जा सकता है। इसका परिणाम यह हुआ कि कला में जीवन[2] की तरल संवेदना का कोई चिह्न शेष न रहा।

कला को 'भावात्मक' (Abstract) बनाने का जो प्रयत्न प्रारम्भ हुआ उसके चूडान्त पर आज हम पहुँच चुके है। हरबर्ट रीड ने इस कला के उद्देश्य पर विचार किया है। हमारे मशीनरी-युग में 'कल' में बल है; इसमें शक्ति, गति, निश्चितरूपता आदि गुण हैं जो 'जीवन' के विपरीत है। आज का मनुष्य 'कल' के भावात्मक गुणों (Abstract quality) में युग की परछाईं देखकर सन्तोष प्राप्त करता है; और 'कल' में जो सन्तोष

---

one must search rather for suggestion than for description as in music." [P. 64]

1. "But the cubist, taking the object as a point of departure, abstracts from it, to revert to the words of Plato, by means of lathes rulers and squares, the inherent straight lines and curves, surfaces and solid forms." [P. 47.]

2. "All organic sensibility is suppressed. We are in a world of inorganic, of mechanic sensibility." [Ibid]

पाता है, वही सन्तोष 'कला' में भी उत्पन्न करता है। कला 'कल' (मशीन) के भावात्मक गुणों को प्रतिबिम्बित करके 'कल' युगी मनुष्य को सुख देने का वचन देती है।

इससे भी अधिक, भावात्मक कला का महत्त्व कुछ सीमा तक आध्यात्मिक भी है। हम आज इतिहास के चक्र को पूरा करके इसके प्रारम्भिक आदिम काल में पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं। आज की अशान्ति, भ्रान्ति, अस्थिरता, अनिश्चय, भीति, विचारों की उथल-पुथल, विश्वासों में हलचल, संक्षेप में जीवन की व्यापक क्रान्ति ठीक वैसी ही है जैसी आदिम मनुष्य ने सभ्यता के उषःकाल में अनुभव की थी। इस हलचल से बचने के लिये सभ्यता, संस्कृति, नीति और धर्म के उदय से भी पूर्व उसने कला के ज्यामितिक रेखा और रूपों में, जीवन के सनातन सत्यों को आँकने का प्रयत्न किया था। आज की भावात्मक कला (Abstract Art) इस युग के आन्दोलित मन का अविकल और अविचल सत्यों को ढूँढ पाने का प्रयत्न है।

इतिहास की दृष्टि से, यूनानी चिन्तकों ने सर्वप्रथम ज्यामितिक चेतना (Geometric sensibility) का अनुभव किया था जो वर्ग, आयत, वृत्त आदि आकारों में व्यक्त होती है। इसके विपरीत जीवन की चेतना (Organic sensibility) है जो बंकी, टेढ़ी-मेढ़ी स्वच्छन्द रेखाओं और रूपों में उदित होती है। इन दोनों अनुभूतियों का संघर्ष युगों से चलता रहा है। हमारे युग की भावात्मक कला ज्यामितिक चेतना के चरम विकास का परिणाम है।

विकास की दूसरी धारा वस्तु को केन्द्र न मान कर, कलाकार के अन्तस को आधार मान कर चली। पहली का चरम लक्ष्य बुद्धिग्राह्य सौन्दर्य को प्रस्तुत करना था तो दूसरी मन के भावों को व्यक्त करना अपनी कृतार्थता मानती रही[1]। जर्मनी का अभिव्यञ्जनावाद (Express-

---

1. "For there are at least two modes of Art : the mode

ionism) दूसरी कला-प्रवृत्ति का हमारे युग में प्रथम स्फुरण था। जब कि फ्रांसीसी प्रभाववाद (French Impressionism) प्रकाश और छाया, संयोजन और विकास आदि के प्रश्नों में उलझा रहा, जर्मन अभिव्यञ्जनावाद कला की भावनात्मक एकता, आभ्यन्तरिक सामञ्जस्य, लय आदि के सिद्धान्तों की खोज कर रहा था। 'वस्तु' के स्थान पर 'मानव' को कला का केन्द्र बनाना अभिव्यञ्जनावाद का ध्येय था। किन्तु शीघ्र ही इस वाद ने विज्ञान की माँग अर्थात् कला द्वारा 'यथार्थ' की खोज को स्थान दिया। सीजाने[1] ने कहा कि कलाकार अपनी उस आदिम और प्राथमिक 'संवेदना' को व्यक्त करना चाहता है जो मनुष्य के अपने विचारों, उद्वेगों और इच्छाओं से अछूती है और जो किसी बाह्य वस्तु की अनुकृति मात्र नहीं है। कला 'अनुकृति' और मन की विकृतियों से दूर शुद्ध संवेदनात्मक अनुभव को तूलिका में पकड़ना चाहती है जिससे वह 'यथार्थ' का उद्घाटन कर सके।

---

of intellectual vision, whose end is abstract beauty; and the mode of emotional expression, whose end is the communication of sympathetic feeling." [P. 86]

1. "To get away, too, from the desires extraneous to the one aim of rendering the sensation away from ideas, passions or beliefs which so often inspired the painters in the past. It was, in a sense, a metaphysical conception of painting : a notion that there existed in the sense-data of the painter, a 'real' vision independent of the intellect and beyond, at the back of, the emotions : a raw material undrelying appearance. If the artist could render this, he would be able to represent reality in its original structure and force, the objective reality from which proceed all consequential emotions and ideas." [P. 66]

कलाकार का यह आध्यात्मिक विश्वास है कि उसकी इन्द्रियों द्वारा प्रदत्त सवेदनाओं में उस 'यथार्थ' की झाँकी मिल सकती है जो बुद्धि और तर्क से परे है, जो भावनाओं के पीठ पर है, वह जो इस 'दृश्य' जगत् के अन्तर्निहित है। यदि कलाकार यह कर सके तो वह 'सत्ता' के मूल को व्यक्त कर सकता है, जहाँ से शक्ति, सत्य, विचार और भावना का आविर्भाव होता है।

अद्यतन कला की यह प्रवृत्ति निश्चय ही विज्ञान से प्रभावित है। जिस प्रकार भौतिक विज्ञान 'दृश्य' को छोड़ कर सत्ता के आदि तत्वों का पता लगाना चाहता है जहाँ किसी प्रकार की विकृतियाँ नहीं है, वरन् जहाँ से इनका आविर्भाव होता है, उसी प्रकार[1] कला भी 'दृश्य' को त्याग कर कलाकार के आद्य, शुद्धतम और सरलतम अनुभवों में मूल सत्ता की खोज करती है। आज की कला वस्तुतः आध्यात्मिक हो उठी है। पिकासो[2] की कला इसका नमूना है। वह कला में उन संकेतों को लाना चाहता है जो उसे उसकी सीमा के पार से प्राप्त होते हैं। "सीमा के पार" से कलाकार का तात्पर्य 'भौतिक' नही, वरन् 'अपनी सीमा' है। यह 'अपनी सीमा' उस परिचित और परिमित चेतन व्यक्तित्व, स्व अथवा 'अहम्' से परे है जहाँ से अपरिमित अचेतन सत्ता का प्रारम्भ होता है। इस अचेतन सत्ता का उद्घाटन पिकासो की कला करती है जिसमें सृष्टि

---

1. "All links with the objective world are broken .. The painter instead turns all his perceptive faculties inwards, to the realm of his subjective fancis, his day-dreams, his preconscious images. He replaces observation by intuition, analysis by synthesis, reality by superreality." [P. 110]

2. "Suggestions which come to him from beyond his own limits." [Ibid]

का 'समष्टि मन'[1] अपने मूलभूत संस्कारों और स्मृतियों से छलकता रहता है। इस प्रकार की कला जो किसी धरातल पर रंगों का विन्यास[2] है सीधे हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करती है। इसके प्रभाव के लिये न तो बुद्धि की संकल्पनाओं और न मनोमूर्तियों की अपेक्षा होती है, ठीक वैसे ही जैसे संगीत में। यथार्थ में, चित्रकला उसे अभिव्यक्त करने में समर्थ हो सकती है जिसकी अभिव्यक्ति तर्क से सम्भव नहीं है।

ऊपर की उक्ति में अतियथार्थवाद (Surrealism) का बीज है। अतियथार्थवाद आज की कला का केन्द्र है जिसकी घोषणा एक फ्रेंच कवि आन्द्रे ब्रेतों ने १९२४ में की थी। इस वाद के मूल मंत्र ये हैं :

१. इसके अनुसार[3] हमारे साधारण दृश्य जगत् से भी अधिक सत्तावान् एक और जगत है : वह अचेतन मन का जगत् है।

२. इस अचेतन[4] मन में ऐसे गुप्त स्रोत हैं जिन्हें स्वच्छन्द कल्पना के

---

1. "It is even possible that artist like *Picasso* is able to reveal those archetypical images which are its (the collective unconscious) characteristic content." [P. 110]

2. "Painting, which may be defined as the disposition of colours on a plane surface, appeals to our senses directly, without the intervention of images or of logical concepts, exactly in the same way that music does. There is no inherent reason why painting should not be used to express the logically inexpressible." [P. 115]

3. "The main doctrine of the school is that there exists a world more real than the normal world, and, this is the world of the unconscious mind." [P. 120]

4. "It believes that there are hidden springs in the unconscious, and that there can be tapped if we give our imagination free rein—if we allow thought to be automatic." [P. 120]

द्वारा खोला जा सकता है---केवल विचारों की लगाम भर छोड़ देने से उनकी झाँकी मिल सकती है ।

३ बुद्धि[1] और तर्क का विघटन---बुद्धि उस अचेतन, गुप्त सत्ता तक पहुँचने में बाधक है । उसे केवल अंशतः स्वप्न की मनोमूर्त्तियों द्वारा पाया जा सकता है । अतएव बौद्धिक क्रियाओं के विघटन में, स्वप्नों में खोकर, हम अचेतन मन तक पहुँच सकते है ।

मूल्याङ्कन---

अद्यतन कला का क्षेत्र 'वस्तु' के चित्रण मात्र से दूर है । उसमें जो वस्तु की प्रतिकृति की खोज करते हैं वे व्यर्थ ही आयास करते हैं । 'सुन्दर' की सृष्टि भी कला के लिये अनिवार्य नहीं । आज की कला पूर्णता, सन्तुलन, सामञ्जस्य, लय, भारसाम्य आदि सौन्दर्य के गुणों की अभिव्यञ्जना नहीं करती । भावात्मक कला अथवा अतियथार्थवादी कला दोनों ही 'वास्तविक' से दूर 'आध्यात्मिक' सत्ता को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करती हैं । इनमें मनुष्य के चेतन अनुभव, बुद्धि के विचार, तर्क, कल्पना, संकल्पना अथवा भावना के लिये भी स्थान नहीं । रोजर फ्राई नामक चिन्तक ने इस कला के तत्त्वों को प्रस्तुत करते हुए कहा है :

१. अधुनातन कला का 'रस' 'अतीत' सत्ता के उद्घाटन से उद्गत होता है । यह 'अतीत' अचेतन, है जो इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के व्यापारों से परे है ।

२. कला सौन्दर्य के 'शुद्धतम' रूप को उपस्थित करती है जिसका स्रोत अनुकरण, चित्रण, अभिव्यञ्जना आदि नहीं है, वरन् वह 'अतिमन' को प्रतीकों द्वारा संकेतित करती है । प्रतीकों के संकेत को समझने का

---

1. A disintegration of intellect or reason. To realise some dimensions of the submerged being through imagery of dreams.

प्रयत्न वृथा है; उसे स्वप्न जैसी दशा में झाँका भर जा सकता है, अर्द्ध-मुद्रित दृष्टि से। रसास्वादन मन को लगाम को छोड़े बिना सम्भव नहीं।

३. रसास्वादन[1] की इस क्रिया में 'आनन्द' का वह तत्त्व नहीं है जिससे हम साधारणतया परिचित हैं। हमारी मूल सत्ता के अनुभव से जो भावना जगती है, वही भावना कला में रस का अनुभव है। स्यात्, कला जीवन की किसी विशिष्ट भावना या अनुभूति को न जगाकर इनके द्वारा उत्पन्न हमारी चेतना में अवशिष्ट सामान्य स्मृतियों को उठाती है, जिसके कारण विशिष्ट की सीमा को पार कर हमें शुद्ध भावना का अनुभव होता है।

सच तो यह प्रतीत होता है कि अधुनातन कला केवल कलाकारों के लिये है, साधारण जन के लिये नहीं जो इसे न समझता ही है और न किसी भावना से प्रभावित हो सकता है। पिकासो[2] कहता है : प्रत्येक व्यक्ति कला को समझना चाहता है। वे पक्षियों के कलरव को समझने का प्रयत्न क्यों

---

1. "It seems to derive an emotional energy from the very conditions of our existence by its revelation of an emotional significance in time and space...Or,may be that art really calls up, as it were, the residunal traces left on the spirit by the different emotions of life, without, however, recalling the actual experiences, so that we get an echo of the emotion without the limitation of the particularity which it had in experience." [Roger Fry quoted]

2. "Everybody wants to understand painting. Why don't they try to understand the songs of birds ? Why are they content to love the night, a flower, everything around them, without seeking to understand such things. Whilst

नहीं करते ? वे रात्रि, पुष्प, तथा अपने चारों ओर की प्रत्येक वस्तु को, बिना समझे ही क्यों प्यार करते हैं ? परन्तु चित्रण को समझना ही चाहिये ! उन्हें जानना चाहिये कि कलाकार एक आन्तरिक 'आवश्यकता' से प्रेरित होता है। वह भी प्रकृति के उन मूल तत्वों में से है जो हमें बिना हमारे जाने ही मुग्ध करते हैं। जो व्यक्ति एक तस्वीर की मीमांसा करते हैं वे निश्चय ही सही मार्ग से भटक गये हैं।

बुद्धि की पहुँच से बाहर, भावनाशून्य, केवल अतीत और अचेतन के प्रतीकों की वाहन-स्वरूप आज की कला को आज का मानव कब अङ्गीकार करेगा ? करेगा भी या नहीं ? यह बड़ा प्रश्न है।

रस और मनोविश्लेषण सिद्धान्त

कला और इसकी अनुभूति को समझने का दूसरा प्रयत्न एक अन्य दिशा से हुआ है। वह है मनोविश्लेषण विज्ञान की दिशा तथा इससे प्राप्त नूतन दृष्टिकोण।

विश्व विख्यात मनोवैज्ञानिक सिगमंड फ्रॉयड की मूल स्थापना है कि हमारा चेतन मन परिमित है, किन्तु इसका आधार और स्रोत अचेतन मन है जो अपरिमित तथा अपरिचित रहते हुए भी, हमारे अनजाने ही, हमारे व्यवहार, विचार और क्रिया-कलाप का नियंत्रण करता है। हमारा

---

painting they must understand. They should understand, first of all, that the artist works from necessity; that he too is a prime element to which no more importance should be attached than to many other things in nature which charm us but which we do not explain to ourselves. Those who try to explain a picture are most of the time on the wrong tracks."

[Picasso quoted P. 133-134 from Cahiers'd Art]

शरीर एक जीवित संस्थान है; इसकी सुरक्षा और विकास के लिये इसमे अनेक परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि होते रहते है। जीवन की मूल प्रवृत्ति बाह्य संसार से संघर्ष करके आनन्द प्राप्त करना है। इस प्रवृत्ति का नाम इरोस (Eros) है। किन्तु जीवन का प्रत्येक संघर्ष इसे मृत्यु की ओर स्वभावत: ले जाता है। मृत्यु की ओर इस प्रवृत्ति नाम थानटोस (Thanatos) है। आनन्द की इच्छा को वह लिबिडो (Libido) संज्ञा देता है। जीवन की ये मूल प्रवृत्तियाँ शरीर से उत्पन्न होती हैं। विकास के क्रम से ज्योंही मस्तिष्क का आविर्भाव हुआ ये अचेतन प्रवृत्तियाँ चेतन के क्षीण प्रकाश मे आईं। मनुष्य के स्तर पर पहुँचकर चेतना को अधिक अवकाश और प्रकाश मिला जिससे उसमें विचार, कल्पना, स्मृति आदि बौद्धिक क्रियाओं का उदय हुआ। सबसे बड़ी बात मनुष्य में 'स्व' और 'अहं' के भाव का उदय होना है। इसके द्वारा उसने 'व्यक्तित्व' का निर्माण किया; समाज, व्यवहार, धर्म, नीति, न्याय, पुण्य-पाप, सुन्दर-असुन्दर आदि अनेक मूल्यों का आविष्कार किया, आदर्शों की स्थापना की, संस्थाएँ कायम कीं, रूढ़ियाँ, जनमत, राजनीति आदि की व्यवस्थाएँ नियत कीं, और अन्त में, उसी के द्वारा कला, संस्कृति, विज्ञान आदि को जन्म दिया। संक्षेप में, विश्व में जो मनुष्य-कृत वैभव दिखाई पड़ता है वह जीवन की मूल प्रवृत्ति से निकला है। 'अहं' इस मूल प्रवृत्ति का यंत्र मात्र है; चेतना अचेतन जीवन-प्रवृत्ति की एक क्षुद्र अभिव्यक्ति है।

'कला' का सम्बन्ध इसी अचेतन, किन्तु असीम जीवन प्रवृत्ति से जोड़कर फ्रॉयडवाद ने महान् कार्य किया है। चेतना सीमित है; कला-कृति भी सीमित है, जैसे कोई राग, मूर्त्ति, चित्र अथवा कविता। किन्तु जिस प्रकार परिमित चेतना के मूल में अपरिमित अचेतन का समुद्र लहरें लेता है, उसी प्रकार कला-कृति के नीचे अनन्त जीवन की ऊर्मिल प्रवृत्ति निहित रहती है। कृति तो केवल प्रतीक मात्र है; कृति किसी बाह्य वस्तु की अनुकृति नहीं है; बाह्य से उसका कोई सम्बन्ध भी नहीं है। कृति की सीमा उसके आकार-प्रकार से नापना उचित नहीं। वह तो जीवन के अनन्त सिन्धु तक

पहुँचने का माध्यम मात्र है। चेतना का अचेतन की ओर, कृति के सौंदर्य के बल से, प्रत्यावर्त्तन ही रसास्वादन है।

उपर्युक्त स्थिति फ्रॉयडवादी विचारधारा की सामान्य रूप से है। किन्तु फ्रॉयड के अनेक शिष्यों ने इस सामान्य मान्यता को विशिष्ट रूप दिया है। फ्रॉयड स्वयं का विचार इस विषय में इस प्रकार है :

लियोनार्डो[1] द विंची नामक पुस्तक में फ्रॉयड कहता है कि अचेतन मन की गम्भीर तरङ्गें कलाकार की प्रतिभा के कौशल से बाह्य कृति का रूप ग्रहण करती हैं जिनसे कलाकार भी स्वयं परिचित नहीं होता। प्रेक्षक उस कृति को देखकर आश्चर्य करते हैं, किन्तु न कलाकार और न प्रेक्षक ही उसके उद्गम को समझ पाते हैं।

प्रौढता और परिपाक के साथ-साथ हम अचेतन से दूर होते जाते हैं; किन्तु शैशव की शीतल छाया में हम उसके समीप रहकर उसका उपभोग करते हैं, उसकी झाँकी पाते हैं; कारण कि शिशु का मर्यादाहीन, स्वच्छन्द, निर्बाध और अबोध जीवन 'अचेतन' का साक्षात् प्रतिरूप होता है। सभ्यता और संस्कृति के नियम, धर्म और नीति की मर्यादाएँ, चेतना को कस देती हैं, और परिपक्व प्रौढ अपने मूल से दूर हो जाता है। कलाकार स्वयं अनन्त अचेतन तक पहुँचने के लिये 'शिशु' बना रहता है। लियोनार्डो[2] द

---

1. "A kindly nature has bestowed upon the artist the capacity to express in artistic productions his most secret psychic feelings hidden even to himself, which powerfully affect outsiders who are strangus to the artist without their being able to state whence this emotivity comes." [Leonardo Da Vinchi. P. 78-79]

2. "As a matter of fact the great Leonardo Da Vinci remained imfantile in some ways throughout his whole

विंची जो १५वीं शती में इटली का महान् चित्रकार हुआ है सारे जीवन बालक बना रहा। महापुरुष विना 'बालक' रहे 'महान्' नहीं हो सकते, कारण यही कि प्रौढ जीवन की आवश्यकताएँ नियमों से जीवन को जकड़ कर उसे अपने मूल को भुला देती हैं।

फ्रॉयड का निष्कर्ष है कि 'रस' शैशव की अनुभूति है; कला शिशु की आँखों से देखे गये संसार के चित्र को प्रौढ के लिये, प्रौढ के कौशल द्वारा, प्रस्तुत करती है। 'रसास्वादन' की क्रिया प्रौढ का शिशुता की ओर प्रत्यावर्त्तन है। आनन्द का स्वच्छन्द, मर्यादा रहित उपभोग, कल्पना की निर्बाध उड़ान आदि रसस्वादन के लक्षण हैं। फ्रायड ने यह भी कहा है कि शिशुता-मूलक होने के कारण हमारे परिपक्व जीवन के लिये कला का मूल्य सन्देहास्पद है।

फ्रॉयड के अनन्तर उसके विचारों को लेकर अथवा उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप दो अन्य धाराएँ प्रकट हुईं। एक ने फ्रॉयड के 'अचेतन' की नई मीमांसा की। वह था युंग, एक जर्मन विचारक। उसके अनुसार 'अचेतन' जीवन की मूल प्रवृत्ति अवश्य है, किन्तु वह दमन की गई 'काम' अथवा 'आनन्द' की इच्छाओं अथवा शैशव की स्मृतियों की 'कब्र' नहीं है जहाँ से उठ-उठकर वे हमें शैशव की अनुभूतियों का रस उपस्थित करती है। 'अचेतन' जीवन का स्रोत है; जीवन का सम्पूर्ण आह्लाद और विषाद वहीं से आविर्भूत होता है। वहीं 'मृत्यु' भी है जो 'शान्ति' स्वरूप होने के कारण वाञ्छनीय है। अचेतन हमारे अध्यात्म, अधिभूत और अधिमन का मूल है; सृष्टि और प्रलय, जीवन और मृत्यु, हर्ष और विषाद, वहीं से प्रारम्भ होकर वहीं लीन हो जाते हैं। कला इसी अचेतन की झाँकी है जिसे पाकर रसिक बल और प्रेरणा ग्रहण करता है। रसास्वादन की क्रिया, कला-कृति के गुणों से, रसिक को उसकी चेतना के मूल तक ले जाती है जहाँ जाकर

---

life; it is said that all great men retain something of the infantile." [P. 110]

वह समृद्ध होती है मानना होगा कि यग क विचारों न कला को घातक होने स बचाया; परन्तु इसके स्वरूप को आध्यात्मिक बना दिया।

फ्रॉयड ने स्वयं भी तथा उसके मानने वालों ने बताया था कि 'अचेतन' का समीपतम अनुभव या तो 'शैशव' में मिलता है या 'स्वप्न' की स्वच्छन्द कल्पनाओं में। इस मान्यता को आधार बनाकर अनेक विचारकों ने कला को 'स्वप्न-सहोदर' और कलानुभूति को स्वप्न का अनुभव माना है। शार्ल बोदुवाँ[1] कहता है कि वर्त्तमान मनोविज्ञान एक स्वर से कला-कृति और विशेषतः काव्य को न केवल दिवा-स्वप्न, बल्कि 'स्वप्न' के सदृश मानता है। इसके अनुसार स्वप्न के निर्माण में तीन[2] क्रियाएँ रहती हैं। घनत्वापादन (Condensation), स्थानान्तरण (displacement), और अवचेतन द्वारा दमन (Repression by the sub-conscious)। घनत्वापादन का अर्थ है अनेक और विभिन्न अनुभूतियों का एकस्थ हो जाना। स्वप्न के अनुभव में जो वैचित्र्य मिलता है उसका कारण यही है कि मूल अनुभवों से अपने काल और स्थान को छोड़कर अनेक 'दृष्ट' और 'श्रुत' तत्त्व एक साथ एक ही स्थान और काल में एकत्रित हो जाते हैं। 'कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा' इसी प्रकार स्वप्न का हवाई महल बन कर खड़ा होता है। अनेक अनुभवों से ये तत्त्व क्यों और किस नियम से एकस्थ होते हैं, इसके विषय में रिबो[3] कहता है: हमारी चेतना की

---

1. "Moreover, contemporary Psychology stresses the resemblance of the dream, not only with day-dream, but also with the works of art and above all with poetry." [Psychoavalysis and Aesthetics—by Charls Baudouin P.25]

2. "Condensation, displacement and the role of the sub-conscious, form the foundation of the psychoanalytical theory of dreams." [P. 20]

3. Ribot's Law of condensation : "The states of

विभिन्न दशाएँ इसलिये एक-दूसरे से नहीं जुड़ जाती कि वे पहले कहीं एक साथ घटित हुई हैं, इसलिये नहीं कि उनमें कोई सादृश्य है, बल्कि इसलिये कि उनमें एक साथ बाँधने वाला एक ही सामान्य भावनात्मक तत्त्व मौजूद है। हर्ष और विषाद, प्रेम और घृणा, आश्चर्य और थकान, गर्व इत्यादि अनेक भावनाएँ हैं जो अनुभवों को एकसूत्रित करने के लिये आकर्षण के केन्द्र हैं, जो उन घटनाओं को जिनमें कोई बौद्धिक सम्बन्ध नहीं है भावनात्मक एकता के कारण एक साथ ला देती हैं। इस नियम से स्पष्ट है कि स्वप्न की भाँति कला की कृति में जो अनेक तत्त्व एकस्थ होकर घनीभूत हो जाते हैं उनमें इसका कारण भावना का साम्य, एकता अथवा सामञ्जस्य ही होता है। भावना के सामञ्जस्य का अभाव कला के परिपाक का विरोधी है।

स्थानान्तरण (Displacement or Transference) का अर्थ है कि जब[1] एक मनोदशा किसी दृढ़ भावना से जुड़ जाती है तो वह मनोदशा पुन प्रकट होने पर उसी भावना को जगाती है। ये दोनों क्रियाएँ अचेतन रूप से चेतना के तल में स्वयमेव चला करती हैं और विभिन्न अनुभूतियों को

---

consciousness are linked, not because they have occurred previously together, not bacause we perceive similarities between them, but because they have common affective tone. Joy, sadness, love, hatred, surprise, boredom, pride, fatigue, etc.can each become a centre of attraction, grouping representations and events which are devoid of any intellectual interconnection, but which have the same emotional tinge." [P. 17 quoted]

1. "When an intellectual state has been accompanied by a strong feeling, a similar state tends to arouse the same feeling." [P. 18]

घनीभूत करती रहती हैं। इधर हमारा अवचेतन मन (Sub-conscious) उन प्रवृत्तियों का दमन करता रहता है जो अन्तर्निहित जीवन की अनन्त अभिलाषा को प्रकट करना चाहती हैं। जाग्रत में तो ये प्रकट होने ही नहीं पातीं। अतएव स्वप्न में मन की गम्भीर और दमित की गई भावनाएँ अनेक घनीभूत मनोदशाओं की गुत्थी को लेकर सुन्दर 'प्रतीकों'[1] (Symbols) का सर्जन करती हैं। स्वप्न का यह आनन्दमय अनुभव, प्रतीकों का उपभोग, प्रत्येक व्यक्ति करता है। कलाकार उसका जाग्रत में 'प्रत्यक्ष' करता है तथा स्वप्न की अनुभूति को कल्पना और कौशल के बल से पार्थिव सामग्री में मूर्तित करता है। कुछ भी हो, कला की अनुभूति स्वप्न की अनुभूति है; इसका 'रस' स्वाप्निक जगत् की घनीभूत और भावना-केन्द्रित मनोदशाओं का अनुभव है

मनोविश्लेषण विज्ञान का आधुनिकतम चरण

एन्टन एरंज़्वेग (Anton Ehrenzweig) नामक चिन्तक ने मनोविश्लेषण विज्ञान द्वारा प्रस्तुत कला-मीमांसा का आधुनिकतम चरण अपने ग्रन्थ: The Psychoanalysis of Artistic Vision and Hearing में उपस्थित किया है। ग्रन्थकार ने रस और रसास्वादन के प्रश्न को अनेक दिशाओं से उठाया है तथा अपने निष्कर्षों को विज्ञान, मनोविज्ञान, कला-इतिहास, कला-दर्शन आदि की नूतन गवेषणा तथा स्थापनाओं से पुष्ट किया है। पुस्तक तक्नीकी भाषा में लिखी जाने के कारण दुरूह है और युक्तियाँ संश्लिष्ट हो गई हैं। नीचे इसका आलोचनात्मक सार संग्रहीत है।

'प्रत्यक्ष' का विज्ञान और मनोविज्ञान—देखना और सुनना, ये कलानु-

---

1. "Both the poet and the dreamer work constantly through symbols. The symbol (in the sense previously defined—a result of condensation, displacement and repressions) is the very essence of imaginative activity." [P. 27]

भूति के दो मुख्य द्वार हैं। अन्य इन्द्रियों के अनुभव भी, जैसे, स्पर्श घ्राण, रसन, पेशी और नाड़ियों में तनाव का बोध, इत्यादि सुन्दर वस्तु को देखने तथा संगीत को सुनने में हमें प्रभावित करते हैं, किन्तु मुख्यतया आँख और कान कला-कृति के सौन्दर्य को ग्रहण करने के लिये अनन्य साधन हैं। इन्हीं दो क्रियाओं का वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक अध्ययन आज चल रहा है जिसने कला की सम्पूर्ण रस-मीमांसा को नया मोड़ दिया है। इसका[1] अर्थ यह न समझा जाये कि मनोवैज्ञानिक ने कलाकार को कुछ सिखाया है; बल्कि मनोवैज्ञानिक ने कलाकार से सीखा है, आधुनिक चित्रण और संगीत में जिन अ-बौद्धिक तत्त्वों का समावेश हुआ है उनसे हमारे अन्तर्मन की गहराइयों में घटनेवाली क्रियाओं का पता चला है। यह कलाकार ने किया है और मनोवैज्ञानिक ने उससे सीखकर इन तत्त्वों का वैज्ञानिक अध्ययन किया है।

साधारण मनुष्य 'वस्तु' को देखता है, और व्यवहार को उसके अनुकूल बनाता है, जैसे, पुष्प को देखकर उसे तोड़ने या सूँघने का व्यवहार अथवा साँप को देख कर उससे दूर भागने की प्रवृत्ति इत्यादि। वह अधिकतर वस्तु के 'व्यावहारिक' रूप में रुचि रखता है। उसका लक्ष्य बहुधा 'जीवन' तक सीमित रहता है जिसे हम 'जीवी लक्ष्य' (Biological end) कह सकते हैं। कभी-कभी वह इस लक्ष्य से ऊपर उठता है। वह उनके 'रूप' को देख कर प्रसन्न या विषण्ण होता है। बहुधा जिस रूप को देखकर प्रसन्न होता है उसे वह 'सुन्दर' मानता है; विषादजनक रूपों को हेय समझ कर छोड़ देता है। सुन्दर भवन, चित्र, मूर्ति अथवा प्राकृतिक

---

1. "It is not the artist who has to learn from the Psychologist, but rather the Psychologist from the artist, particularly from the 'irrational' form of modern painting and music which may reveal to us the innermost working of unconscious perception." [P. 192]

दृश्य उसे 'आनन्द' देते हैं जिनका जीवन के लिये विशेष उपयोग तो नहीं, किन्तु मूल्य अवश्य है। इसे हम कलात्मक लक्ष्य अथवा रसात्मक लक्ष्य (Aesthetic end) कह सकते हैं। युगों तक कला 'सुन्दर' का सृजन कर मनुष्य का मनोविनोद करती रही है। यहाँ तक कि सौन्दर्य की अनुभूति के लिये दिव्य और भव्य, अद्भुत और आश्चर्यप्रद, रूपों का आविष्कार संसार के इतिहास में हुआ है। परन्तु कलाकार ने वस्तु के रूपों के विषय में यह प्रश्न हाल ही में पूँछा है। क्या देखी जाने वाली वस्तु का स्वरूप ठीक वैसा ही है जैसा हम देखते हैं? अथवा वस्तुतः वह रूप व्यवहार के लिये उपयुक्त होते हुए भी वास्तविकता से दूर है। सदियों तक कलाकार ने 'अनुकरण' को अपना साधन स्वीकार किया, और देखी अथवा देखी जा सकने वाली वस्तुओं की 'प्रतिकृति' को अनुकृति' द्वारा आँकना उसका काम रहा। विज्ञान की दृष्टि ने वस्तु के व्यावहारिक, उपयोगी अथवा सुन्दर रूप को छोड़ कर उसके 'यथातथ्य' अथवा 'याथार्थ्य' (Reality) का पता लगाना चाहा तो वह वस्तु अपने रूप से विरूप, विभिन्न और विचित्र प्रतीत होने लगी। एन्टन एरंजवेग ने इसी ऐतिहासिक घटना को विशद किया है।

दर्शन की भाँति विज्ञान का निर्णय है कि वस्तु का यथार्थ रूप उसके दृश्य रूप से भिन्न है। वस्तु विद्युत् धाराओं का प्रवाह मात्र है जिससे विद्युत् किरणें निकलती रहती हैं। एक किरण अनेक क्षुद्र कणों के अजस्र प्रवाह से बनती है। ये किरण-कणें नेत्रेन्द्रिय के जीवित पटल पर प्रहार करती हैं, और ये प्रहार संवेदनों के रूप में नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क के उन क्षेत्रों में पहुँचते हैं जहाँ इनका 'अर्थ' समझा जाता है। अर्थ समझने वाला मस्तिष्क नहीं, बल्कि मन है। मस्तिष्क केवल स्पन्दन मात्र है। उसमें वस्तु की चेतना सम्भव नहीं। किन्तु 'मन' भी कोई चेतन 'व्यक्ति' नहीं है; वह भी चेतन-क्रिया-स्वरूप माना गया है। स्मरण, विचार, कल्पना, प्रत्यक्ष, भावना आदि क्रियाएँ ही 'मन' हैं; इनके अतिरिक्त मनस्तत्त्व को विज्ञान अपने क्षेत्र में स्वीकार नहीं करता। मन की अनेक

क्रियाएँ मस्तिष्क में प्राप्त संवेदनों अथवा स्पन्दनों को 'वस्तु' का रूप देती हैं; इसका छोटा-बड़ा होना, दूर-समीप होना, इसके घनत्व, विस्तार, रंग, आकार आदि सभी प्रत्यक्ष-ग्राह्य गुण, मन और मस्तिष्क की क्रियाओं पर आधारित हैं। यहाँ तक कि वस्तु के आकार, रंग, विस्तार, दूरता आदि का बोध नाड़ी और शरीर विशेषतः आँखों की माँस पेशियों की गति और क्रिया के ऊपर पूर्णतया निर्भर है। तब तो यही निष्कर्ष निकलता है कि वस्तु वह है जो हमारे मन और मस्तिष्क, नाड़ी और पेशी की क्रियायें हैं। दृश्य वस्तु मन की निर्मिति-मात्र है, इसके अतिरिक्त हम वस्तु के याथार्थ्य को नहीं जानते। वस्तु का दृष्ट रूप उसके वास्तविक रूप से कितना मिलता है—हम नहीं जान सकते।

चित्रकार ने वस्तु के दृष्ट रूप और उसकी अनुकृति के प्रयत्न को योरोपीय पुनरुत्थान के समय छोड़ दिया। समतल पर ठोस वस्तु को बनाने के लिये हम समतल को तो नहीं बदल सकते, किन्तु ठोस वस्तु को, उसके दृष्ट रूप को, बदलना अनिवार्य है। हम ठोस वस्तु को इस प्रकार देखें कि मानो वह ठोस नहीं, वरन् एक ही धरातल पर बिना घनत्व और फैलाव के चिपकी हुई है। यदि हमें घोड़ा या मकान अथवा स्तम्भ को चित्रित करना है तो उन्हें हमें एक ही धरातल पर दो मानों, अर्थात् लम्बाई और चौड़ाई, में ही देखना चाहिये, तीन मानों में नहीं, यानी लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई में नहीं। कलाकार द्वारा 'वस्तु' को इस प्रकार देखने की विधा को परिप्रेक्ष्य (Perspective) कहा गया है।

परिप्रेक्ष्य के द्वारा चित्रकार चित्रव्य वस्तु को देखता है। यह चित्र-कला का देखने का अपना प्रकार है और साधारण से भिन्न है। चित्रकार चित्रव्य वस्तु के दृष्ट रूप में मोटाई नहीं पाता, किन्तु वह वस्तु को रेखाओं के रूप में देखता है जो एक समतल चित्र-फलक पर बिछी हुई हैं। ये रेखाएँ आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दायें-बायें, चलती हैं, मुड़ती हैं, और अपनी गति, कोण, बंक, मोड़, झुकाव आदि के कारण, लय, सन्तुलन,

भार-साम्य, सामञ्जस्य, आदि रूप के गुणों को प्रकट करती हैं। माना कि रेखा के माध्यम से घोड़ा, मकान आदि चित्रित हो जाते हैं, और, साधारण प्रेक्षक चित्र में वस्तु के सादृश्य को देखकर प्रसन्न होता है, किन्तु चित्रकार का वास्तविक मन्तव्य सादृश्य की वंचना उत्पन्न करना नहीं होता। वह तो रेखाओं का नृत्य, उनका लोच, उतार-चढ़ाव, संक्षेप में उनकी शक्ति को प्रकट करना चाहता है। कुशल प्रेक्षक इसे ही देखता है जो व्यावहारिक देखने के प्रकार से भिन्न होता है। कलाकार परिप्रेक्ष्य विधि से वस्तु के रूप में कला के लिये उपयोगी रूप की विकृतियाँ (Form distortions) उत्पन्न कर देता है।

दृष्ट वस्तु का रूप (Form) हमें स्थिर (constant) दिखाई पड़ता है। वास्तव में यह बात नहीं। एक भवन को देखिये। एक नियत बिन्दु पर खड़े होकर एक कोण से देखने से उस भवन का एक 'दृश्य' उपस्थित होता है; किन्तु अपना दृष्टि-बिन्दु, खड़े होने का स्थान, आँखों की स्थिति आदि के बदलने से, क्षण-क्षण में, उसी भवन के विभिन्न रूप नेत्र-पटल पर बनते और बिगड़ते हैं। नेत्र और मस्तिष्क तथा इनके द्वारा मन पर पड़ने वाली और क्षण-क्षण में विचित्र रूप रखने वाली, वस्तु की छायाओं को हम ध्यान में नहीं लाते, क्योंकि इनका हमें व्यवहार में कोई उपयोग नहीं। हम एक अविचल, स्थिर रूप को ही वस्तु का रूप समझते हैं। मनोविज्ञान इसे रूप-स्थैर्य (Form constancy) कहता है। सच यह है कि रूप-स्थैर्य मन का निर्माण या निर्णय है, इसकी उपयोगिता के कारण, याथार्थ्य नहीं।

परिप्रेक्ष्य के नियमानुसार चित्रण करने वाली कला रूप-स्थैर्य को त्यागकर रूप की विकृति को प्रस्तुत करती।

प्रश्न यह है कि वस्तु के स्थिर रूप (Constant form) (जो व्यवहार के लिये उपयोगी होने के कारण साधारण अनुभव के लिये ग्राह्य होता है) और उसके कलात्मक यथार्थ रूप में क्या सम्बन्ध है? मन की कौन सी क्रियाएँ कलात्मक रूप को ग्रहण करती हैं? इस रूप-ग्रहण के अनुभव का क्या स्वरूप है? इन प्रश्नों का उत्तर हमारे ग्रन्थकार ने दिया है।

वस्तु का साधारण प्रत्यक्ष, ग्रन्थकार के अनुसार, रूप, व्यवस्था, उपयोगिता, नियत स्थान, रंग आदि गुणों से आबद्ध रहता है। इन्हीं गुणों के कारण हम उसे 'वस्तु' (Thing) समझते हैं। रूप (Form) वस्तु का निश्चित आकार है, व्यवस्था (Gestalt) वस्तु के अवयवों का परस्पर सम्बन्ध और पूर्ण विन्यास है; उपयोगिता का अर्थ जीवन के लिये आवश्यक व्यवहार को उत्पन्न करना है; वस्तु का किसी स्थान विशेष पर दिखाई पड़ना localization है; इसी प्रकार प्रकाश में वस्तु रंग (colour or tone) को ग्रहण करती है। ये गुण 'वस्तु' के गुण हैं। हमारा धरातलीय चेतन मन (Surface conscious mind) 'वस्तु' का इन्हीं गुणों के साथ अनुभव करता है, जिसे हम 'वस्तु प्रत्यक्ष' (Thing-perception) अथवा धरातलीय प्रत्यक्ष (Surface perception) कहते हैं।

परन्तु वस्तु का प्रत्यक्ष 'वस्तु-विहीन' (Thing-free perception) भी होता है जब कि उपर्युक्त गुणों के बिना, अथवा इनके बिना आबद्ध भी, हम इसका अनुभव करते हैं। यह अनुभव सतही दिमाग़ या ऊपरी मन से नहीं, बल्कि गम्भीर मन (Depth mind) या अचेतन मन से होता है। कलाकार वस्तु के बाहरी रूप से बँधा न होने के कारण अचेतन मन की गहराइयों से उसे देखता है; अतएव वह जीवन के साधारण नियमों का बन्धन नहीं मानता। वस्तु का सादृश्य उसके लिये प्रवंचना (plastic illusion) मात्र है। जिस प्रकार परिप्रेक्ष्य के नियमानुसार वस्तु को देखने पर वर्तुलाकार रूप (circular form) अण्डाकार (hlliptical), और अण्डाकार रूप फैला हुआ (flattened), समानान्तर रेखाएँ एक बिन्दु की ओर मिलती हुई, समीपस्थ पदार्थ बड़े और दूरस्थ छोटे, दिखने लगते हैं, यद्यपि उनके स्थिर रूप (Constant form) में हम किसी विकृति का अनुभव नहीं करते, उसी प्रकार अचेतन मन चेतन मन के नियमों से मुक्त होकर अपने ही नियमों के अनुसार वस्तुओं को देखता है। हमारे स्वप्नों का अनुभव, कलाकार का अनुभव तथा शिशु का अनुभव, तीनों अचेतन मन के अनुभव हैं जिनमें 'वस्तु' का प्रत्यक्ष नहीं, बल्कि वस्तु-विहीन

(Thing-free), व्यवस्था-विहीन (Gestalt-free), रूप-विहीन (form-free) सत्ता का अनुभव होता है, वह सत्ता जो अपने में स्वतंत्र और शुद्ध है। अचेतन मन के लिये 'वस्तु' की अलग सत्ता कुछ नहीं, जैसा कि हम 'वृक्ष' को उसकी पृष्ठभूमि से अलग करके साधारणतया देखते हैं, अथवा एक वृक्ष को दूसरे वृक्षों से, अलग देखना, वृक्ष में फूल, पत्ते, फल आदि को पृथक् करना : यह सब पृथक्करण (differentiation) की क्रिया है जिसका उपयोग चेतन मन के लिये है, अचेतन के लिये नहीं। बालक सभी पुरुषों को 'पापा' और सभी स्त्रियों को 'माँ' जानता है। इसके लिये 'विशिष्ट,' 'पृथक्' का कोई महत्त्व नहीं। स्वप्न में भी केवल 'सत्ता' का अनुभव होता है। पृथक्करण अथवा विशिष्टीकरण की क्रिया चेतन मन के लिये उपयोगी है, क्योंकि उसे प्रत्येक वस्तु की अलग-अलग पहचान चाहिये जिससे व्यवहार सिद्ध हो सके। चेतना में वस्तु का अपने गुणों के साथ आविर्भाव, उसकी अलग पहचान—इस क्रिया को आविष्करण (Articulation) कहते हैं। अचेतन में सत्ता अनाविष्कृत (Inarticulate) और अविशिष्ट (undifferentiatedd) दशा में रहती है, रूप और अभिव्यक्ति के नियमों से अनाबद्ध, अतएव जीवन की ज्वाला से व्याप्त और अपरिच्छिन्न।

यहाँ पर हम अपने पहले प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं अर्थात् वस्तु के कलात्मक और स्थिर रूप में सम्बन्ध का क्या स्वरूप है : कलात्मक अनुभव में हम चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन से वस्तु को ग्रहण करते हैं। चेतन मन रूप, उपयोगिता, व्यवस्था आदि गुणों से बँधा रहता है; अचेतन इनसे मुक्त। चेतन मन का वस्तु से रागात्मक लगाव (Libidinous-interest) रहता है। लेखक[1] का मत है कि अचेतन मन 'वस्तु-विहीन' उन्मुक्त दृष्टि से बाह्य संसार को देखता है मानो यह केवल भावात्मक

---

1. "This detached 'thing free' way of looking at the outside world, as though it were a flat abstract gestalt

व्यवस्था (Abstract gestalt pattern) हो क्योंकि उसे वास्तविकता के साथ कोई रागात्मक लगाव नहीं होता। वह वस्तु के अविचल, स्थिर गुणों की चिन्ता नहीं करता, अतएव वह उसके 'वस्तुत्व' को ही नष्ट कर देता है जिसका जीवन के लिये अधिक उपयोग नहीं। वह परिप्रेक्ष्य, प्रकाश-छाया (Chiaroscuro) आदि द्वारा जनित विकृतियों को वस्तु के अनुभव में लाता है। आज की कला का सत्य यही है।'

जो सम्बन्ध चेतन और अचेतन मन में है, वही वस्तु के कलात्मक और साधारण अनुभवों में है।

इसी से दूसरे प्रश्न का उदय होता है : मन की कौन सी क्रियाएँ कलात्मक रूप को ग्रहण करती हैं ?

मन की चेतन और अचेतन तहों या पर्तों में शक्तिशाली सम्बन्ध रहता है। अचेतन मन कोटिश: पर्तों का बना हुआ है। युगों तक जो मस्तिष्क का शनैः विकास हुआ, उस विकास की प्रत्येक अवस्था, एक के ऊपर एक, पर्तों में जमी हुई है। छोटा शिशु, प्रारम्भ से परिपाक की दशा तक, युगों के विकास को पार करता है। प्रौढ़ का मन परिपक्व हो कर हमारे साधारण अनुभव के योग्य होता है; किन्तु अपने इस विकास के काल में वह युगों की अनेकों दशाओं में से होकर गुजरता है। प्रौढ़ मन अपने जीवन की सभी दशाओं को जो मानव-मन के विकास की दशाएँ सी हैं पार करके ही प्रौढ़ मनस्कता को प्राप्त करता है ठीक वैसे ही जैसे पृथ्वी

---

pattern, presupposes a lessening of the normal libidinous interest in reality. As the artist does not care for the real constant properties of the things, he is able to overcome the various constancies of form, tone and colour, to destroy in fact his thing perception and bring up the biologically less relevant distortions of perspective, chiaroscuro etc. This is true of the present day art." P. 15.

का वर्तमान धरातल अपने नीचे प्रत्येक युग की दशाओं को छिपाकर प्राप्त हुआ है। वर्तमान मन अथवा प्रौढ़ मनस्कता का अपने पूर्व की सभी अवस्थाओं को अपने में दबाकर रखना—इसे लेखक ने पर्त्तीकरण Stratification कहा है!

अतीत मन की अनन्त अवस्थाएँ मृत अथवा विगत नहीं हो गई हैं, बल्कि वे अचेतन दशा में रहती हुई भी क्रियाशील रहती हैं, और प्रौढ के चेतन मन को प्रभावित करती हैं। चेतन मन वस्तु ही (Thing) का अनुभव करता है क्योंकि वस्तु ही जीवन और व्यवहार के लिये उपयोगी है; किन्तु अचेतन मन पुनः पुन' 'वस्तु-विहीन' (Thing-free) अथवा वस्तु के अविभक्त, अविशिष्ट, अनभिव्यक्त रूपों को ऊपर लाना चाहता है, वस्तु के सम्पूर्ण अस्तित्व को प्रस्तुत करना चाहता है, क्योंकि अचेतन मन के लिये 'उपयोग' का महत्त्व नहीं। इसलिये मन की इन दोनों पर्त्तों में शक्तिशाली तनाव (dynamic tension) रहता है। ऊपरी चेतन मन अचेतन मन के सशक्त प्रभावों को दबाता है, इस क्रिया का नाम 'दमन' (Repression) है, और अचेतन मन चेतन के नियम, मर्यादा, व्यवस्था और आवश्यकता को उलाँघकर अपने ढंग से सत्ता को प्रस्तुत करना चाहता है। इस क्रिया का नाम आविष्करण (Articulation) है। एक ओर 'दमन' ऊपर से नीचे को जाने वाली, और दूसरी ओर नीचे से ऊपर उठाने वाली आविष्करण क्रियाएँ, परस्पर विरोध करने के कारण, तनाव उत्पन्न करतीं हैं। जब चेतन मन दमन करने में सफल होता है तो कोई बाह्य वस्तु स्थिर, एक, उपयोगी, व्यवहार के योग्य होती है। इसे हम धरातलीय प्रत्यक्षानुभूति (Surface preception) कहते हैं। इसके विपरीत जब अचेतन मन चेतन पर विजय पा लेता है तो शिशु की आँखों से देखे गये जैसे ससार का बोध होता है। इसे लेखक ने गम्भीर प्रत्यक्ष (depth perception) कहा है।

इन क्रियाओं और सम्बन्धों की जानकारी के बाद हम अपने प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं।

चेतन मन रूप व व्यवस्था (Form and gestalt) को प्रस्तुत करता है; किन्तु अचेतन मन इनसे विरहित वस्तु को। कलात्मक अनुभव में रूप और व्यवस्था (जिसे हम आँखों से ग्रहण करते हैं) 'अरूप' और अव्यवस्था (जो अचेतन मन के लक्षण है) के प्रतीक होते है। अचेतन मन प्रतीकों (Symbols) के द्वारा अपने आपको अभिव्यक्त करता है। इनका आविष्कार चेतन मन का काम है। कलानुभूति में मन चेतन से अचेतन की ओर और अचेतन से चेतन की ओर गति करता है। अचेतन से अनन्त, पुरातन, अतीत, पर्तों में जमे हुए अनुभवों को लेकर बाहर की ओर धाराएँ प्रवाहित होती हैं। यद्यपि ये अनुभव अस्पष्ट, अनिश्चित, अवर्ण्य, अरूप होते हैं तथापि वे चेतन के अनुभव को प्रभावित करते है। लेखक का मत है कि हमारे साधारण अनुभव में भी चेतन और अचेतन के बीच की गति रहती है जिसके कारण मन में सन्तुलन और लय बने रहते है तथा ऊपरी अनुभव केवल सतही न रह कर समृद्ध हो जाता है। मन की यह ऊपर से नीचे और नीचे से से ऊपर की ओर गति अन्त:स्पन्दन (Oscil-lation कहलाती है। कलात्मक अनुभूति का सार यही अन्त: स्पन्दन है।

लेखक[1] कहता है: "हमारे देखने वाले सतही मन के पास केवल पूर्णतया अभिव्यक्त, स्थिर, व्यवस्थित रूप ही रहता है जिसे वह अन्त-स्पन्दन के द्वारा मन की गम्भीर तहों से अत्यन्त चल और द्रव (mobile and fluid) रूपों को ऊपर उठा कर समृद्ध करता है।

---

1. "Our observing surface mind has at its disposa' only fully articulate static gestalt structures for its task of grasping utterly mobile and fluid structures liftec from the deeper layers of the mind by the oscillatior of Consciousness'.' P. VII

कला कृति में जो अनभिव्यक्त तत्त्व होते है वे अचेतन मे छिपे रहते है। कलाकार इन्ही की सृष्टि करता है और रसिक गम्भीर प्रत्यक्ष के द्वारा इनका उपभोग।

हम अब तीसरे प्रश्न के समीप आ गये हैं : रूप-ग्रहण के अनुभव का क्या स्वरूप है ? रूप-ग्रहण में चेतन मन प्रतीकों की सृष्टि करके रसिक को देता है। प्रतीक[2] का अर्थ है एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का प्रस्तुत होना। प्रस्तुत की गई वस्तु अत्यन्त साधारण हो सकती है किन्तु इसके पीछे गम्भीर भावनाएँ, सामूहिक चेतना तथा ऐसे भाव निहित हो सकते हैं जिन्हें केवल अचेतन मन ही समझ सकता है, क्योंकि अचेतन मन के विस्तार में ही अविभक्त और असीम सत्ता का आविर्भाव होता है। चेतन मन प्रतीक का सृजन करके अचेतन मन के भावों को व्यक्त करता है। कला की अनुभूति मे चेतन और अचेतन स्तरों पर प्रतीकावगाहन मे एक शक्तिशाली क्रिया का आविर्भाव होता है।

इस स्थल पर कलानुभूति और सौन्दर्यानुभूति मे भेद करना आवश्यक

1. "The inarticulate form elements (are) hidden in the unconscious structure of a work of art...The unconscious structure of perception processes is by which we actively create or passively enjoy the unconscious form elements." Preface, P. VII.

2. "Symbols are understood by the depth of mind because they still fit into its wide frame of undifferentiated reference, but the symbols themselves—i.e., the substitution of one object by another—would be wholly the work of the surface mind; only for the differentiating surface mind is the symbolic object differentiated from the original object which it now merely symbolizes." P. 113.

है। लेखक के अनुसार 'सुन्दर' उस रूप का नाम है जिसमें सन्तुलन, सामञ्जस्य, भार साम्य आदि गुण विद्यमान हों जिन्हें हमारा चेतन मन समझ सकता है और समझ कर आनन्द ले सकता है। सुन्दर[1] सुव्यवस्थित, आनन्ददायक रूप का नाम है। इसके आस्वादन में अचेतन की गहराई तक जाने की आवश्यकता नहीं। कला और विशेषतः आधुनिक कला 'सुन्दर' को छोड़कर 'असुन्दर' का भी सृजन करती है। आज की कला तो जानबूझ कर सतही मन के स्तर को बेध कर गम्भीरतम अचेतन मन का अवगाहन करती है। आदिम कला की भाँति अद्यतन कला सत्ता के अ-बौद्धिक और अ-सुन्दर पार्श्व का उद्‌घाटन करती है, क्योंकि वह अचेतन मन के माध्यम से सत्ता के स्वरूप तक पहुँचने के प्रयत्न में संलग्न है।

'सुन्दर' से आनन्द की भावना होती है; परन्तु 'असुन्दर' से बल अथवा ऊर्जा की भावना का आस्वादन होता है। असुन्दर के अवगाहन में अचेतन मन चेतन मन के आवरण को बेध कर सत्ता का निर्बंध, स्वच्छन्द रूप प्रस्तुत करता है, और चेतन मन की दमन-क्रियाओं को उद्‌बुद्ध करता है। 'असुन्दर' का समझना चेतन की सीमा के बाहर है जबकि अचेतन,

---

1. "The need for beauty (*the* tending towards an aesthetically good gestalt) belongs *only to* the surface layers of the mind, but was foreign to the 'gestalt-free' depth mind. The break-through of *the depth-mind* in modern art has done away the aesthetic *surface of* art and revealed the unbeautiful, gestalt-free vision *of* the unconscious. Thus modern art—together with *some* examples of primitive art—can serve as the most direct evidence for the irrational and un-aesthetic modes in which our unconscious depth mind creates and perceives *form*." Preface P. XII.

समझने की क्रिया का स्थगन करके, असुन्दर से उत्पन्न सत्ता के ओज का अनुभव करता है। इस प्रकार कला का क्षेत्र सुन्दर तक सीमित नहीं है, क्योंकि सुन्दर कला-सृजन का एक क्षुद्र प्रयास मात्र है।

कला[1] के क्षेत्र में ऊर्जा का अनुभव (Plastic quality) जो अचेतन के अनावरण से उत्पन्न होता है कलानुभूति का तत्त्व है। सुन्दर के अनुभव (Aesthetic quality) में अचेतन अभिव्यक्त होकर चेतन स्तर पर आ जाता है। अतएव आविष्करण (Articulation) सौन्दर्यानुभूति का सार है। दोनों में ही मन की ऊर्जा अनुभूति के विभिन्न स्तरों पर स्थानान्तरण करती है। इस प्रकार चेतन और अचेतन मन की परस्पर-विरोधी क्रियाएँ —ऊर्ध्वगामी अभिव्यक्तीकरण की क्रियाएँ तथा अधोगामी दमन की क्रियाएँ —मिलकर एक ऊर्जस्वत् मानसिक सन्तोल का निर्माण करते हैं जो वस्तुतः हमारे सम्पूर्ण मन का लक्षण है।[2]

रूप-सृजन और रूप-ग्रहण दोनों में सर्जनात्मक भावना का उदय होता है। ऊपर दी गई भाषा में इस भावना का रूप इस प्रकार समझा

---

1. "One (plastic quality) refers to strong repressions, the other (aesthetic quality) to strong articulation, both called by displacements of mental energy between different layers of perception." P. X.

2. "The process of repression....pulls perception down to, or keeps it on the level of, inarticulate (gestalt or thing-free) depth perception. This process is downward directed and dynamically poised against the upward-directed articulation process, establishing a dynamic equilibrium which is so characteristic of the psycho-analytical concept of mental processes." P. IX & X.

जा सकता है : सर्जन[1] के काल में सतही मन की क्रियाएँ क्षण भर के लिये स्थगित हो जाती हैं और इसी क्षण में मन की गहराइयों में पुरातन किन्तु सनातन (archaic) और अनभिव्यक्त तथा अविभक्त क्रियाएँ प्रारम्भ हो उठती हैं। चेतन और अचेतन की ये अवस्थाएँ पौनःपुन्येन घटती हैं चेतन का स्थगन और अचेतन का सक्रिय होना। रूप-सर्जन की अचेतन मे घटने वाली क्रियाएँ अविभक्त आकारों को चेतन के स्तर तक उठाती है जहाँ पर वे आविष्कृत होती हैं। कलाकार का सम्पूर्ण प्रयत्न अचेतन के अन्तराल से उद्दीपक झाँकियों को उभार कर चेतन के स्तर तक लाना होता है। रसिक रूप-ग्रहण में इसी प्रकार उन्मज्जन-निमज्जन करता है।

× × ×

एन्टन एरजवेग ने न केवल 'देखने' के मनोविज्ञान का कला के लिये उपयोग किया है, अपितु 'सुनने' का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। सच यह है कि युगों तक चेतना के स्वरूप को समझने में मनोवैज्ञानिकों को भ्रम रहा : वे समझते रहे कि अन्तर्वीक्षण द्वारा जिस चेतना का साक्षात्कार हमें होता है वह वस्तुओं की चेतना है, जैसे देखते समय मेज, कुर्सी, पुस्तक आदि की चेतना कमरे में आने पर होती है। सच यह है कि

---

1. "Any act of creativeness in the human mind involves the temporary (cyclical) paralysis of the surface functions and a longer or shorter reactivation of more archaic and less differentiated function. The formal processes conceived on this low, *undifferentiated* level are there—*wholly or* partially—rearticulated (translated) into more differentiated structures which the surface mind can grasp. The artist wrestles with his inarticulate inspiring vision in order to mould it into more articulate forms." P. 18.

हमें केवल वस्तु-चेतना (Substantive Consciousness) ही नहीं होती, अपितु वस्तुओं के परस्पर सम्बन्धों की भी चेतना होती है, जैसे कुर्सी और मेज का समीप-दूर, उल्टा-सीधा होना, पुस्तक का मेज पर किसी विशेष स्थिति में होना। हमारी चेतना एक अखण्ड, सतत, निरन्तर प्रवाह है। बुद्ध की भाषा में वह 'सन्तान' है : जिसमें बीच-बीच में चेतना और फिर कुछ और आता हो—ऐसी खण्डित धारा हमारी चेतना नहीं है। एक वस्तु और दूसरी वस्तु की चेतनाओं के बीच में भी चेतना ही है जिसमें हम संयोजक चेतना (Transitive Consciousness) कह सकते हैं। हम वस्तुओं में रुचि लेते हैं। अतएव वस्तु-चेतना का ही अन्तर्वीक्षण करते हैं; सम्बन्ध अथवा संयोजक चेतना का नहीं। परन्तु विज्ञान की दृष्टि से और जीवन के लिये उपयोग के बन्धन को स्वीकार न करने वाली कलात्मक दृष्टि के लिये, सम्पूर्ण चेतना एक अविभाज्य और अखण्ड है।

पहले 'देखने' की क्रिया में चेतना के स्वरूप को लीजिये। एक वर्गाकार रूप को श्याम-पट पर इस प्रकार बनाइये कि उसकी ऊपर-नीचे की भुजाएँ आँखों के समानान्तर हों; उसके समकोण और कोणों के बिन्दु सम्मुख श्याम-पट के समानान्तर हों। अपनी चेतना का अन्तर्वीक्षण कीजिये : श्यामपट पर सफेद खड़िया से उभरा हुआ—काली पृष्ठ-भूमि पर उभरा हुआ सफेद वर्गाकार रूप—एक विशेष स्थिति में बना हुआ है। हमारी चेतना में ये अनेक तत्व मौजूद हैं, केवल वर्ग की चेतना-मात्र नहीं। अब उसी वर्गाकार रूप को इस प्रकार बनाइये कि इसके दो कोण आमने-सामने होते हुए ऊपर-नीचे रहें, और दूसरे दो कोण इसी प्रकार आँखों के समानान्तर हो जायें। यह वर्ग 'डायमंड' की शक्ल का बन जायगा। इस आकार और पहले आकार में ज्यामिति की दृष्टि से कोई अन्तर न होते हुए भी, अनुभव की दृष्टि से अन्तर का पता लगाइये। हमारी आँखें छः मांस-पेशियों के सहारे ऊपर-नीचे, समीप-दूर, दाँये-बाँये चल कर वस्तु के आकार को ग्रहण करती हैं। ऊपर बतायी गयी दोनों वर्गाकृतियों के ग्रहण में आँखों की पेशियों की गति में अन्तर होगा।

फलतः दोनों चेतनाओं में भी अन्तर होगा। सम्पूर्ण चेतना में केवल ज्यामिति का भावात्मक वर्ग ही नहीं है, अपितु अन्य अनेक तत्व सम्मिलित हैं। प्रश्न यह है कि ये अन्य तत्त्व रहते कहाँ है ?

वैज्ञानिक उत्तर जो अमरीका के दार्शनिक विलियम जेम्स ने दिया है वह यह है कि वस्तु-चेतना के उभार और स्पष्टता के लिये संयोजक चेतना अथवा सम्बन्ध-चेतना अथवा पेशियों की गति से उत्पन्न चेतना के तत्त्व अनभिव्यक्त (Inarticulate) बने रहते हैं। वस्तु-चेतना आकार ग्रहण कर (Articulate) स्पष्ट हो जाती है; किन्तु चेतना के अन्य अनभिव्यक्त अथवा अनाकृत (Inarticulate) तत्व बिना उभरे हुए भी वस्तु-चेतना को प्रभावित ही नहीं करते उसे स्वरूप भी प्रदान करते है। कमरे में प्रवेश कर हम कुर्सी और मेज को ही नहीं देखते, अपितु उनके परस्पर सम्बन्धों को भी चेतना में लाते हैं।

अखण्ड चेतना में आकृत, आविष्कृत, अभिव्यक्त (Articulate) तत्त्वों के अतिरिक्त अनाकृत, अनाविष्कृत अथवा अनभिव्यक्त तत्त्व (Inarticulated) तत्व भी रहते हैं। इनका सम्बन्ध केवल अविभाज्य ही नहीं, अपितु वे एक दूसरे को स्वरूप, प्रभाव, स्पष्टता, शक्ति आदि भी प्रदान करते हैं। अनाकृत तत्त्व बहुधा अचेतन रूप में और आकृत तत्त्व चेतन स्तर पर रहते हैं। हमारे लेखक का निश्चित मत है कि प्रत्यक्षानुभूति में चेतन और अचेतन, आकृत और अनाकृत, विशिष्ट और अविशिष्ट, तत्त्वों का परस्पर प्रभाव, समावेश और सम्बन्ध अनुस्यूत रहते हैं।

इस मत से कई निष्कर्ष मिलते हैं जिनका हमारे लिये महत्त्व है।

अब 'सुनने' की क्रिया, विशेषतः संगीत सुनने की क्रिया, को लीजिये।

भारतीय अथवा पश्चिमी संगीत में 'स्वर' का महत्त्व है। स्वरों के सप्तक होते हैं; मन्द, मध्यम अथवा तार आदि नाद, गति के भेदों से योरोप में अनेक सप्तकों का आविष्कार हो चुका है। एक सप्तक में शुद्ध

और विकृत स्वर होते है; किन्तु सप्तक के स्वरों का मुख्य लक्षण है उनमे अन्त:सम्वाद (Internal Harmony) का होना। एक स्वर और दूसरे स्वर के मध्य का अवकाश शून्य नहीं है, बल्कि उसमें चेतना के प्रवाह की भाँति नैरन्तर्य रहता है। एक स्वर से दूसरे का सम्बन्ध नाद से जनित वायु के स्पन्दनों की गिनती से किया जाता है। स्वरों को पहचाना जा सकता है; स्वरों के बीच में २२ श्रुतियों को भारतीय संगीत में पहचाना गया है। स्वर और श्रुति सुनने के अनुभव में वस्तु-चेतना (Substantive-Consciousness) के तत्त्व हैं जो आकृत और आविष्कृत होने के कारण, देखने के अनुभव में वस्तुओं की भाँति, अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं। किन्तु चेतना की निरन्तर धारा में अनाकृत तत्त्व भी रहते हैं, जो सुने जाते हैं, किन्तु पहचाने नहीं जाते। ये तत्त्व नाद के सूक्ष्म स्पन्दन होते हैं (जिन्हें (glissando और vibrato) पश्चिमी संगीत में कहा गया है) जो सुने जाने पर भी अनाविष्कृत होने के कारण अचेतन के स्तर पर रहते है, किन्तु आविष्कृत चेतन संगीत की चेतना को प्रभावित करते हैं। इनसे संयोजक चेतना (Transitive Consciousness) का निर्माण होता है। रूप-प्रत्यक्ष की भाँति, नाद-प्रत्यक्ष में चेतन प्रत्यक्ष (Conscious Perception) और अचेतन प्रत्यक्ष (Un-conscious Perception) के अनेक तत्त्वों का परस्पर अनुस्यूत प्रभाव रहता है।

× × ×

उपर्युक्त विवेचन 'देखने' और 'सुनने' (vision and hearing) का विज्ञान और आधुलिकतम मनोविज्ञान है। प्रत्यक्ष अनुभव में भी न केवल चेतन मन, अपितु अचेतन मन अनेक प्रभावों को उत्पन्न करता है जिनके कारण वह अनुभव इतना समृद्ध, सशक्त और सम्पन्न होता है—यह प्रस्तुत मनोविज्ञान की स्थापना है। इससे हम अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालते हैं। ये निम्नलिखित हैं:—

१. संगीत सुनने में एक ओर स्वर और श्रुति तथा इनके विन्यास रहते हैं जिन्हें हम पहचान सकते हैं। यह काम चेतन मन का है। इस

स्वर-विन्यास के नीचे, अन्तर्धारा की भाँति, विन्यास-रहित तथा बिना पहिचाने, स्वरों की धारा बहती है जिसे केवल अचेतन मन ग्रहण करता है। ध्वनियों की ऊपर से लेकर नीचे तक बहने वाली संगीत-धारा में केवल फैलाव और गति, संगति और संवाद, लय और ताल, मात्र ही नहीं रहते, अपितु उसमें जीवन की गहराई और सीमित व्यक्तित्व को गलाने वाली शक्ति भी होती है। कला की भाषा में इस लक्षण को 'बहु ध्वनि' (Polyphony) कहा गया है। इसका विपर्यय 'एकध्वनि' (monophony) हो सकता है। कलात्मक संगीत में हम सतही मन से एक ध्वनि प्रवाह ग्रहण करते हैं, किन्तु उसके साथ-साथ अन्तर्मन को द्रवित करने वाले अनेक ध्वनि-प्रवाह फूट निकलते हैं, अनजानी दिशाओं और अन्तरालों से, एकदम अज्ञात और अपरिचित, किन्तु परमशक्तिमान् और द्रावक प्रभावों से युक्त। यह 'बहुध्वनि' (Polyphony) लक्षण के कारण होता है।

योरोप के आधुनिक[1] संगीत में 'बहुध्वनि' लक्षण का विकास हुआ है। यह संगीत आदिम, पुरातन संगीत की भाँति है जिसमें 'ऑरकेस्ट्रा' (Orchestra) के कौशल की भाँति अनेक वाद्यों की विभिन्न ध्वनियों का ऐसा विमिश्रण होता है कि एक-एक वाद्य की अलग-अलग ध्वनि का चेतन मनोगम्य स्थिर रूप का नाश हो जाता है। अनेक ध्वनियों के मिलने से एक आनन्दप्रद विमिश्रता (Pleasureable confusion) की भावना उत्पन्न होती है।

पॉलीफोनी अथवा बहुध्वनि केवल संगीत तक ही सीमित नहीं है;

---

1. "Modern music, which, like all 'modern art' has an affinity with primitive art, delights in as orchestral technique that blends the *tone colours* of different instruments and so destroys the 'constancy of tone colour' attaching to the single instrument." P. 156.

वरन् वह आज की कविता, चित्रकला और मूर्ति तथा स्थापत्य का भी लक्षण है। आज की कविता में अर्थों की बहुध्वन्यात्मकता[1] (Polyphony of meaning) मिलती है जो व्यक्त शब्दार्थों की तह में अव्यक्त स्वप्न-प्रवाह के रूप में बहती सी प्रतीत होती है। यही दशा अन्य कलाओं में भी है।

२. हमारी मीमांसा में मनोविश्लेषणवादी दृष्टिकोण के कारण, चेतन मन की अपेक्षा अचेतन मन को अधिक महत्त्व दिया जाता है। इतना ही नहीं, कलाकृति में जान-बूझ कर ऐसे तत्त्वों का समावेश किया जाता है जिनसे चेतन मन का 'विघटन' (disingtegration) हो जाये। मन के चेतन स्तर पर बुद्धि है जो केवल तर्क को समझती है; जहाँ से तर्कों का उद्गम, विचारों और मानसिक आलोक का आविर्भाव होता है, उसे वह नहीं जानती। वह मेय, ज्ञेय, परिमित, अल्प, अनुमेय तक आकर लौट आती है; अमेय, अज्ञेय, अपरिमित, 'भूमा' और सहज प्रत्यक्ष तक नहीं पहुँचती। चेतन मन कुछ नियमों के अनुसार ही कार्य कर सकता है; 'अनियम' अव्यवस्था, रूपहीन अस्तित्व को न समझ कर केवल 'वस्तुत्व' को समझता है। चेतन मन आवश्यक इसलिये है कि इससे हमारा दैनिक काम चलता है, जीवनोपयोगी है। विद्यमान कला चेतन का विघटन करना अपने कौशल का प्रधान अंग मानती है।

इसका फल स्पष्ट है : चेतन मन के विघटन के लिये नाना उपाय किये जाते हैं, जैसे विद्यमान कला में रूप, व्यवस्था, स्थान, मान आदि में विकृतियाँ उत्पन्न करना।[2] पिकासो की कला में स्थान की विकृतियाँ

---

1. A *poem really* acquires a polyphony of meanings which run like latent dream–thoughts under the manifest meaning of the poem." P. 124.

2. "Picasso's space distortions are determined by the dynamics *of artistic creation.*" P. 191.

उसके सर्जनात्मक कौशल का परिणाम है। कला का कलेवर, वर्तमान विचार-धारा के अनुसार, उसी सिद्धान्त मे सिद्ध होता है जिसमे 'मज़ाक' (Joke) या विनोद सिद्ध होता है, अर्थात् साधारण चेतना को एकदम विघटित कर देना (baffling of the conscious mind)। इसलिये 'असाधारण' का स्थान कला में है।[1] हमारा अचेतन मन विनोद के उन्मुक्त रूप को समझता है। कलाकार के दृष्टिकोण, बालक की कल्पना और विनोद में यथार्थ की विकृति का समान तत्त्व विद्यमान है। इससे स्पष्ट है कि इन तीनों में अचेतन मन की अनुभूति का प्रकार समान रूप से मिलता है। इस समय[2] चित्रकला और संगीत का आदर्श समान हो गया है जो वास्तव में सदा से कला के लिये गन्तव्य लक्ष्य रहा है।

अचेतन मन को उपयुक्त महत्त्व देने के कारण कला में 'असुन्दर' का स्थान और मूल्य स्पष्ट हो गया है। 'सुन्दर' केवल सतही मन की तुष्टि करता है; अचेतन ही केवल 'असुन्दर' को हृदयंगम कर सकता है। जिस प्रकार चेतन की अपेक्षा अचेतन अधिक सशक्त, व्यापक और गम्भीर है उसी प्रकार सुन्दर की अपेक्षा असुन्दर है। सच[3] तो यह है कि पुराना

---

1. That such distortion of reality should appeal equally to our sense of humour, to the child's imagination, as well as to the artist's creative vision, is a powerful indication that they hold some meaning for the unconscious mind and may indeed conform to a mode of unconscious vision." P. 191.

2. "Modern painting might reflect the space-free mode of unconscious vision as modern music reflects a time-free mode of unconscious hearing." P. 191.

3. "Traditional painting excludes eye-wandering by its good gestalt. The eye is presented with a pregnant

चित्रकार अपने चित्र की पृष्ठभूमि में आँखों को दूर भगाने वाले (eye-wandering elements) तत्त्वों को रखता है जिससे देखने वाला चित्र में प्रस्तुत आकर्षक रूप-व्यवस्था को देखे। वह चित्र में आकर्षण का एक केन्द्र देता है। आँखे चारों ओर घूम फिर कर वहीं लौट आती है। यह केन्द्र उसके लिये 'सुन्दर' है। किन्तु इस सौन्दर्य का आकर्षण 'असुन्दर' से विकर्षण के कारण है जो उसने चित्र की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है।

आधुनिक[1] कलाकार अपने सतही मन को बिल्कुल निष्क्रिय बना देता है! वह अपेक्षाकृत चेतन मन पर कम अधिकार रखता है, और वह भी जान-बूझकर। उसे स्वयं पता नहीं होता कि वह क्या बनाने जा रहा है। वह मन को खाली करता है, और उसकी तूलिका स्वयमेव चलती है। गहरे मन (Depth mind) का तूलिका पर काबू होने के बाद अचेतन का रूप-व्यवस्था विहीन (असुन्दर) रूप फलक पर उतर आता है।

---

pattern, is attracted by it at once and so is given a stable centre of attraction. Any scrutiny of the picture...will unfailingly start from and return to the same eye-catching features." P. 23.

1. "The gestalt-free structure of the modern painting is explained by the total inactivity of the surface mind. The modern artist tends to create more automatically, with less *conscious* form-control, than the traditional artist. At the beginning he knows only vaguely, if at all, what he is going to produce; his mind is curiously empty while he watches passively the forms growing under his brush. Automatic form control means that the depth mind has taken over the form production which, therefore, now reflects the gestalt-free structure of the depth-mind." P. 33.

३. इस चिन्तन-धारा ने कला के इतिहास को स्पष्ट किया है, और अद्यतन कला-कृतियों को ऐतिहासिकता प्रदान की है। आज की कला कुछ चले हुए दिमाग के लोगों का काम नहीं है, वरन् इसके पीछे युगों का विकास है। इसकी वैज्ञानिकता भी सिद्ध है। पुरातन कला ने चेतन मन को महत्त्व देकर अनुकरण के द्वारा सुन्दर रूपों का सृजन किया। आधुनिक युग के प्रारम्भ में विज्ञान ने परिप्रेक्ष्य (perspective) का पता लगाकर 'आकार' को विकृत बनाया। यह योरोप के पुनरुत्थान की परिप्रेक्ष्य प्रधान कला थी। बरूक (Baroque) कला ने प्रकाश-छाया (Chiaroscuro) का आविष्कार किया। प्रभाववादी फ्रेंच कला (French Impressionism) मे रङ्ग की विकृति हुई। यहाँ तक 'वस्तु' पहचानी जा सकती थी। यहाँ तक वैज्ञानिक यथार्थवाद का प्रसार रहा। आधुनिक कला में अचेतन के महत्त्व से सीजाने ने दृष्ट रूप में ही विकृति उत्पन्न की (Distortion of constant peripheral vision)। पिकासो ने 'स्थिति' को विकृत बनाया और आज की भावात्मक कला ने अन्ततोगत्वा वस्तु के 'वस्तुत्व' का ही पूर्ण विघटन कर दिया (Total disintegration of the thing-facade)।

'वस्तु' की विकृति, और अन्त में विघटन—इस विकास का मूलाधार वैज्ञानिक यथार्थवाद (Scientific Realism) है। 'वस्तु' का साधारण रूप—उसका वस्तुत्व—केवल व्यवहार और उपयोग के लिये ग्राह्य है, विज्ञान के लिये नहीं जो उसके 'अस्तित्व' की भी खोज करता है। विज्ञान के लिये वस्तु विद्युत्-धाराओं का केन्द्र मात्र है और मनोविज्ञान के लिये इन्द्रिय-पटल पर उत्तेजना उत्पन्न करने के लिये संवेदनाओं का स्रोत। कलाकार ने विकास-क्रम से वस्तु के यथार्थ रूप को प्रकट किया जो व्यवहारोपयोगी, बुद्धिग्राह्य न होते हुए भी विज्ञान की दृष्टि से सत्य है। फल हुआ वस्तु के साधारण स्वरूप का विघटन।

४. वस्तु के रूप का विघटन, सच पूछा जाये तो, आज के मनुष्य के मन के विघटन से फलित हुआ है। मनुष्य का मन चेतना की सीमित परिधि से बाहर निकलना चाहता है। वह निकल चुका

है ठीक वैसे ही जैसे वह पृथ्वी के आकर्षण से मुक्त होकर अनन्त आकाश में अन्तर्नक्षत्रीय यात्राओं के लिये निकल चुका है। चेतना की परिधि को तोड़ना उसके लिये आवश्यक हो गया है। चेतना के विघटन से वह अचेतन के निस्सीम अन्तराल का अवगाहन कर सकता है। इसका परिणाम कलानुभूति के लिये आश्चर्यजनक हुआ है। संक्षेप में, वह यह है :—

अब तक सभ्य मनुष्य (असभ्य आदिम मनुष्य नहीं) शालीनता अथवा अन्य किसी कारण से केवल चेतना की सीमित परिधि के अन्दर मूल्यों की खोज करता रहा है। अतएव उसकी अनुभूति भी संकुचित रही है। कला में ही नहीं, धर्म, नीति, समाज-व्यवस्था आदि मानव-क्षेत्रों में भी अचेतन को अस्वीकार करने के कारण उसकी दृष्टि संकुचित रही है। चेतना की सीमा के बाहर निकलकर नूतन अनुभूतियों का द्वार खुल गया है। कला अब तक केवल 'सुन्दर' तक सीमित रही; 'आनन्द' तक पहुँचना इसका अन्तिम लक्ष्य रहा। 'आनन्द' से भी ऊपर, पूर्ण और पुष्ट अनुभूति कलाकृति के द्वारा लभ्य है—यह इस चिन्तन-धारा का निष्कर्ष है।

कलाकार की चेतना का घटन और विघटन दोनों क्रमशः होते हैं। 'विघटन' की दशा में वह मानो अपनी आत्मा के अनन्त अवकाश में पैठता है और 'घटन' की दशा में वह उन आध्यात्मिक संदेशों को लेकर प्रतीकों की सृष्टि करता है जिसका नाम 'कला' है। अधुनातनीय कला-मीमांसा का विचार है कि कलानुभूति[1] (Aesthetic feeling) चेतना के 'घटन' के काल

---

1. "The aesthetic feeling accompanies the 'reconstitution' of the disintegrated surface perception. Dr. Segal is able to show that with the true artist the alternative disintegration and reconstitution of surface perception is part of a much farther reaching process of disintegration and reconstitution within the self. It would be in such a case that the aesthetic feeling (i[illegible] t on the redinte-

में उदित होती है; किन्तु 'घटन' और 'विघटन' का क्रम रहता है जिसका आधार कलाकार के सम्पूर्ण अस्तित्व का घटन और विघटन है। इस क्रिया से कलानुभूति केवल इन्द्रिय-जनित और उत्तेजक नहीं रह जाती, वरन् वह मानव-मन की पूर्णतम, गम्भीरतम अनुभूति बन जाती है जिसके लिये वह समर्थ हो सकता है।

सच तो यह है कि आज कलानुभूति का रूप ही दूसरा है। रस और विरस, नीरस अथवा सरस, दोनों ही इसमें सम्मिलित हैं; आनन्द या दुःख के लिये इसमें स्थान नहीं। इस अनुभूति को ऊर्जा की भावना (plastic feeling) कहा जा सकता है। इस भावना का स्रोत कला में वे तत्त्व है जिन्हें ग्रहण करने के लिये प्रेक्षक चेतना की सीमा को पार करके अपने अन्तर्मन के गर्भ में उतरता है। सीमा को पार करना, गर्भ में उतरना, वहाँ अवगाहन करके पुनः चेतना के धरातल पर अचेतन से वेदना के भार को लेकर सही-सलामत लौट आना—इस क्रिया में जो ऊर्जा, शक्ति, जीवन, जो कुछ कहें, का अनुभव होता है उसका नाम ही, इस मीमांसा के अनुसार, 'रस' है, और सम्पूर्ण क्रिया का नाम 'रसास्वादन'।

लब्धि और सम्भावनाएँ

पाठक के सम्मुख अद्यतन चिन्तन-धारा का कला-विषयक निष्कर्ष प्रस्तुत है। इस धारा ने हमें ऐसे चरमान्त पर लाकर छोड़ दिया है जहाँ टिकना सम्भव न होगा, क्योंकि एक ओर तो उस बिन्दु तक साधारण मनुष्य का मन विकसित नहीं हुआ है जिससे वह अद्यतन कला-कृति को हृदयंगम कर सके, दूसरी ओर चेतन और अचेतन का द्विधाकरण तथा इनका मिथः-विरोध न केवल अस्वाभाविक है अपितु प्रगति का बाधक

---

gration of surface perception) ceases to be a merely pleasant sensual pleasure and becomes one of the fullest and deepest experiences of which the human mind is capable." P. 115.

प्रतीत होता है। साधारण प्रेक्षक आजकल की कला के विषय में जो धारणा बनाये है वह इस विनोद से स्पष्ट होगी: किसी कला-प्रदर्शिनी में एक नूतनवादी कलाकार ने एक कोरे कागज़ पर "घोड़ा और घास" शीर्षक देकर 'चित्र' टाँगा। प्रेक्षक वहाँ न घोड़ा देखता है न घास। पूछने पर 'कलाकार' ने बताया कि घास तो घोड़े ने चर ली, इसलिये वहाँ घास नहीं है, और घोड़ा घास चर कर वहाँ से चला गया इसलिये वहाँ घोड़ा भी दिखाई नहीं देता। कलाकार की दलीलों को सुनने पर 'चित्र' का शीर्षक निरर्थक प्रतीत नहीं होता। केवल चेतना के विघटन के अनन्तर और अचेतन मन के सक्रिय होने पर वहाँ घोड़ा और घास दिखाई दे सकता है। और दिखाई देने की आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि रूप दिखाई देना केवल सतही मन का काम है।

नूतन कला का कुछ भी महत्व हो, वह औसत आदमी के लिये नहीं बनी। उसके पीछे विज्ञान की गम्भीर स्थापनाएँ हैं, मनोविश्लेषण वाद की सशक्त युक्तियाँ हैं, और आधुनिक कलाकार की स्वचालित (automatic) तूलिका तथा सजग चेतना। यह सब कुछ होते हुए भी यह कला प्रयोगशाला में पैदा किये गये 'टेस्ट-ट्यूब बेबी' की तरह है जिसके जीने की सम्भावना इस समय की आबहवा में कम प्रतीत होती है। जन-मन से कला का दूर होना---इसके भविष्य के लिये शुभ का लक्षण नहीं है।

इससे भी अधिक इस चिन्तन-धारा का पातक यह है कि इसने व्यर्थ ही चेतन-अचेतन को दो विरोधी ध्रुवों में विभक्त (Polarization) कर दिया। स्वभावत: यह ऐसा नहीं है। माना कि मानव-मन चेतना तक सीमित नहीं, माना कि इसमें गहराइयाँ हैं, विशाल अन्तराल हैं और अनन्त सोई हुए चेतनाओं की चिनगारियाँ हैं। किन्तु यह सब तो भारतीय अध्यात्मवाद मानता आ रहा है। आज का मनोविज्ञान मन को 'अनन्त' मानकर अध्यात्मवाद की शिष्यता स्वीकार करता है। मन 'अनन्त' है, 'अतल' और 'गम्भीर' है; सारा मन चेतन नहीं है; इसका बहुत सा भाग सुषुप्त

की अवस्था में है। इसी सुषुप्ति में से कोई क्षुद्र चेतना कण निकल कर चेतन स्तर पर आजाता है। इसे 'सर्जन' या 'सृष्टि' कहते हैं। काल के प्रारम्भ से ही सृष्टि का प्रारम्भ हुआ है। इसी का नाम इतिहास और विकास है। किन्तु किसी भी समय चेतन ने अचेतन का दमन नहीं किया, न कर पाने की क्षमता अथवा स्वभाव उसनें हैं, क्योंकि चेतना की सम्पूर्ण सत्ता और शक्ति का स्रोत अचेतन ही तो है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने माना है कि अचेतन को अस्वीकार करना असम्भव है, क्योंकि इसकी संकल्पना के बिना हम मन की सम्पूर्ण क्रिया और शक्ति को नही समझ सकते; सर्जन का सार, विकास की ऊर्ध्वमुखी गति, और अनुभूति की गहराई, अचेतन से ही निसृत होते हैं। रस और रसास्वादन को समझने के लिये हमें अचेतन को अपनी मीमांसा मे स्थान देना होगा। हम देख चुके हैं कि अचेतन को अंगीकार करने से हम रसानुभूति के गम्भीर सार का विवेचन कर सकते हैं। परन्तु हमारी यह स्वीकृति चेतन के विघटन को आवश्यक नहीं मानती। रस के अनुभव में चेतन मन का सहयोग और अनुदान होता है, विघटित होकर नही, वरन् संघटित होकर। सम्पूर्ण मन रसास्वादन में भाग लेता है, और कला-कृति के गम्भीरतम स्तरों का अवगाहन करता है। जिस प्रकार और जितना गाम्भीर्य कृति में है उसी प्रकार और उतना गाम्भीर्य प्रेक्षक के मन मे भी रहता है। मन का कृतिमय बन जाना, और, कृति का मनोमय हो हो जाना—रसास्वादन का रहस्य है।

परन्तु पाठक को स्मरण होगा कि प्रस्तुत लेखक केवल मनस्तत्व को ही कलानुभूति का सार तत्व नहीं मानता, वरन् मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को—और-इससे भी आगे चल कर, मनुष्य के परिच्छिन्न व्यक्तित्व को नहीं, वरन् उसके अपरिच्छिन्न अस्तित्व को, रसास्वादन की क्रिया मे अन्तः-प्रविष्ट मानता हैं। रस का प्रश्न 'सार' (Essence), भाव (Abstract), अथवा सामान्य (Universal) का प्रश्न नहीं, बल्कि, इसके विपरीत, अस्तित्व (Existence), सत्तात्मक (Concrete) और विशेष

(Particular) अनुभूति का प्रश्न है। अतएव जब जीवन 'अपना' स्व' अथवा जीवन का अनुभव करता है तो रस का आविर्भाव होता है। जब अस्तित्व बोल उठता है; जीवन जीवित हो जाता है; मन की गम्भीर सुषुप्ति में जागरण होता है; अहंकार, बुद्धि, चित्त अपने-अपने व्यवहार को छोड़कर चैन की साँस लेते हैं—और, इससे भी आगे, जब प्राणों में लय का उदय, रुधिर में शान्त गति, स्नायु-संस्थानों में सुखद संवेदनों का बहाव, मांस-पेशियों में निर्ज्वर क्रिया, होते हैं, और, यह सब होता है कला-कृति के माध्यम से, तब 'रसास्वादन' की क्रिया होती है। संक्षेप में, प्रेक्षक के सम्पूर्ण जीवन, चेतना, इन्द्रियाँ और शरीर जब कला-कृति को तन्मय होकर ग्रहण करते हैं तब उसे 'रस' का अनुभव होता है। रस 'पूर्ण' अनुभव है। वह पूर्ण मानव की अभिव्यक्ति में ही मिल सकता है।

आशा है कि पाठक को विश्वास हो जाये कि कला के भावी विकास की यही सही दिशा है।